
॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

॥ अथ आत्मानुशासन नाम शास्त्र जी की भूमिका लिखते हैं ॥

विदित हो कि अब इस भरतक्षेत्र विषे अवसर्पणी काल प्रवर्तै है। इस के छः भाग होते हैं, इस में पहिले तीन काल विषे तो भोग भूमि रही, चौथे कालमें कर्म्म भूमि प्रवर्ती है। इस चौथेकाल विषे २४तीर्थंकर भये हैं,अन्तिम तीर्थङ्कर श्री१००८ श्रीवर्द्धमान स्वामी जिम समय कार्तिकवदि अमावस्या को सूर्य्य उदय से कुछ समय पहिले मोक्षको पधारे,उस समय चौथेकाल के तीन वर्ष साढे आठ महीने शेष रहे थे। इन के पीछे तीन केवली और मोक्ष को गए हैं । श्री वर्द्धमानस्वामी से बारह वर्ष पीछे श्री गौतमस्वामी, २०वर्ष पीछे श्री सुधर्माचार्य्य, और ६४ वर्ष पीछे श्री जम्बूस्वामी मुक्त को गये हैं। पीछे काल दोष से केवलज्ञानी होने का तो अभाव भया, और कितनेक काल तक द्वादशांग के पाठी श्रुत केवली भये। पीछे राजा चन्द्रगुप्त के राज्य करते हुए, जो सम्वत विक्रम से २३६ वर्ष पहिले तक रहा, उस समय इस हिन्दुस्थान देश में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष काल पड़ा था, तिस में भिक्षा न मिलने से बहुत से साधु तो मर गये,बहुत सों का क्षुधा की अतितीव्र वेदना सहने कर कण्ठ से सर्व्व शास्त्र बीच२ से कितने ही स्थल

विस्मृत होगये। परन्तु श्री महावीरस्वामी के पीछे विक्रम सम्वत् ११४ तक द्वादशांग के पाठी रहे। पीछे थोड़े अंगन के पाठी भये, तिन्होंने यह जान कर कि इस पंचम निकृष्ट काल विषे आगामि अंगन के पाठीन का तो अभाव हो जायगा। और अंगन के पाठी न रहने से धर्म्म के उपदेश का व्युच्छेद होजायगा। और धर्म्म के व्युच्छेद होने से जीव दुःख सहेंगे। यह सोच कर उन्होंने संसारी जीवन के हितार्थ करुणा बुद्धि कर ग्रंथ रचना आरम्भ करी। और जैसा केवली भगवान् ने अपनी दिव्य ध्वनि कर सप्त तत्व, नव पदार्थ, छः द्रव्य,पञ्चास्तिकाय, नरक, स्वर्ग सिद्धक्षेत्र और मध्यलोकके असंख्याते द्वीप समुद्रादिक का और एक इन्द्रिय द्विइन्द्रिय तिइंद्रिय चौइन्द्रिय संगी असंगी पंच इन्द्रिय जीवन का चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करने आदि का स्वरूप उपदेशा था, और जिस को श्री श्री १००८ श्री गणधर देवन ने अङ्गप्रकीर्णकरूप रचना करी थी। तिस के अनुसार अध्यात्म कथा रूप न्याय, व्याकरण, अलंकार, काव्य, कोष, ज्योतिष, वैद्यक. श्रावक मुनि की क्रिया आदि के चार अनुयोग रूप लक्षों ग्रन्थों की रचना करी। जिन की बुद्धि की विभव देख कर अन्यमतानुयायी बड़े २ विद्वान् पंडितों की बुद्धि आश्चर्य्यके भंवरमें चक्रित हो जाती है। परन्तु बड़े पश्चाताप की वार्त्ता है, कि उन महान् ग्रन्थों को जो हजारों आचार्य्यों ने दश दश बीस बीस वर्ष तक जगत् जीवों के हितार्थ लिखने का कष्ट उठा कर

दूसवी में शङ्कराचार्य्य सदी यानि ६वीं के लगभग रचे थे। वह सर्व ग्रन्थ सम्वत् विक्रम ८४६ ने किस्तियां भरवा भरवा कर समुद्र में डूबों दिये, जिस समय यह वार्त्ता स्मरण आती है, तो शरीर अति कम्पायमान हो जाता है। और नेत्रों से अश्रुपात स्वयमेव ही गिरने लग जाते हैं। और क्षुधा और तृषा सर्व नष्ट होजाती है। परन्तु जब पश्चाताप कर रुदन करते हुए यह वार्ता स्मरण आती है, कि पुण्यवान भव्यजीवों के हितार्थ थोड़ीसी जैन शास्त्रों की प्रतियां नेपालदेश, दूर दक्षिण जैन् वद्री मूलवद्री वा मेवाड देश आदि में धर्म्मात्मा राजा महाराजाओं के प्रताप से बच रही थीं। तब चित्तको किञ्चित्मात्र हर्ष प्राप्त होता है। जब शङ्कराचार्य्य मर गया और इस देश में भी न्यायवान राजा उत्पन्न भए उनके राज्य समय धर्म्मात्मा पुरुषोंने उन शास्त्रों की प्रतियां करवा करवा कर इस देश में लाकर ग्राम २ और शहर २मे प्रचलित करी। तबवडे २ विद्वान् पंडितों और भट्टारकोंने उन ग्रन्थोंकी संस्कृत और देश भाषा में टीका करी जो अबार देखने में आते हैं। परन्तु मूर्ख लेखकों के लिखने से और फिर शुद्ध न करने से ग्रन्थोंमें सहस्रों अशुद्धियें होगई हैं। जिस से पढ़ने वालों को घृणा उत्पन्न हो जाती है, और यथार्थ अर्थ समझमें नहीं आता। और दूसरे ग्रन्थों की बहुतायतके अभावसे जैनी भाइयोंको शास्त्र भी नहीं मिलते यह स्पष्ट देखने में आताहै, कि इस समय हजारों ग्राम, कसबे वा शहर ऐसेहैं जहांके मन्दिरों

में शास्त्र भण्डार नहीं हैं,और हजारों ग्राम,कसवे ऐसे हैं जहां मन्दिरजी भी नहींहैं। और उन नगर ग्रामों में लाखों जैनी भाई रहते हैं। इन जैनी भाइयों को अपने धर्म्म के शास्त्र पढने की अभिलाषा तो वहुत है, परन्तु शास्त्रों का वहु मूल्य होने के कारण खरीद नहीं सकते। और जो कोई एक दो ग्रन्थ खरीदता भी है, तो अशुद्ध होने के कारण यथार्थ अर्थ समझ में नहीं आता इसलिये वह अपने धर्म्म से विलकुल अजान रहते हैं। और जव वह दूसरे धर्म्म वालों को उन के मत की पुस्तकें पढ़ते हुए देखते हैं और यह अपने धर्म की पुस्तकें खरीद नहीं सकते और पढने को चित्त चाहता है। तव उन्हीं के धर्मकी पुस्तकें सस्ती होने के कारण चार २ आठ आठ आने में खरीद कर पढनेलग जाते हैं। उस का नतीजा यह होता है, कि इन की वुद्धि भी अन्य मतियों की पुस्तकें पढ़ने के कारण उन्हीं के धर्म्म की तर्फ झुक जाती है। और जैन धर्म्म का श्रद्धान कम होजाता है। और जिस धर्म्म की पुस्तकें उन को वहुत सारी पढ़ने को मिलती हैं। तो जैन धर्म्म को छोड़ उसी धर्म्म में मिल जाते हैं। और जैन शास्त्रों की निन्दा करते हैं। और जैनियों को झूठा मत वाले कहते हैं। ऐसे जैनी भाइयों के हितार्थ कि जिन के ख्यालात जैन धर्म्म को छोड़ कर दूसरे धर्म्मों की तर्फ झुक गये हैं। या ऐसे जैनी भाई जो जैन शास्त्रों के पढ़ने को तड़फते हैं। और शास्त्र वहुमूल्य होने के कारण खरीद नहीं सकते। या ऐसे जैनी

समझ सकते । यह दिगम्बर
भाई जो खरीद सकतेहैं,परन्तु अशुद्ध होनेके कारण यथार्थ अर्थ नहीं समझ सकते । यह दिगम्बर
जैन धर्म्म पुस्तकालय खोला गयाहै । और बडे२ विद्वान् जैनी पण्डितों से दिगम्बर जैनमत के
ग्रन्थों को शुद्ध करवाकर सलीस हिन्दी भाषा विषे अति सुन्दर अक्षरों में अत्युत्तम कागज
पर छपवा कर बहुत सस्ते मूल्य पर जैनी भाइयों को बांटना आरम्भ किया है, ताकि सर्व्व
जैनी भाई अपने जैन रत्नों को देख कर जैन धर्म्म को त्यागने का साहस न करें। और अपने
धर्म्म से वाकिफ होकर अपनी शक्त्यानुसार सम्यक् दर्शन है मूल जिस का ऐसे चारित्र को
अङ्गीकार करके अपना कल्याण करें ॥

सब से पहिले इस पुस्तकालय में श्रीमोक्षमार्गप्रकाश नाम शास्त्र छपवाया है। उसके
पीछे यह श्री आत्मानुशासनजी छपवाया है। अनुमान विक्रम सम्वत् ६०५ के लगभग श्री गुणभद्र
स्वामी ने यह ग्रन्थ रचा है। इस के संस्कृत छन्द २७० हैं। इस की देश भाषा श्रीमान् गुण-
निधान आचार्य्य समान पण्डित टोडरमल जी जयपुर शहर निवासी ने सम्वत् विक्रम १८१८
में करी है। अब भाषा में इस की श्लोक संख्या ३८०० है। यह ग्रंथ अध्यात्म रस का समुद्र है।
इस में शास्त्र कविता और श्रोता का और सात तत्व नौ पदार्थ आदि और सम्यक् दर्शन, ज्ञान
चारित्र, जो मोक्षमार्ग का सच्चा रास्ता है, तिन सबन का स्वरूप भिन्न २ वर्णन किया है ॥

हमें आशा है, कि हमारे जैनी भाई इस महान् अध्यात्म ग्रन्थ की स्वाध्याय से अत्यन्त लाभ उठावेंगे ॥

सर्व जैनी भाइयों का शुभचिन्तक,

ज्ञानचन्द्र जैनी

मालिक दिगम्बर जैनधर्म्म पुस्तकालय।

पुरानी अनारकली;

लाहौर ॥

नोट—विदित हो कि यह मंगलाचरण जो अगले पृष्ट पर लिखा जाता है सदैव ही शास्त्र प्रारम्भ करने से पहिले पढ़ना चाहिये ॥

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ ॐकारम्बिन्दु संयुक्तं नित्यन्ध्यायन्ति योगिनः कामदंमोक्षदंचैव ॐकारायनमोनमः। अविरलशब्दघनौघ प्रक्षालित भूतलमल कलङ्का मुनिभिरुपासित तीर्था सरस्वती हरतुनो दुरितम् अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया चक्षुरुन्मीलितंयेनतस्मै श्रीगुरवेनमः। परमगुरवेनमः। परम्पराचार्य्यगुरवे नमः। सकलकलङ्कविध्वंसकं श्रेयसांप्रवर्द्धकं धर्म्मसम्बन्धकं भव्यजीव प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्री आत्मानुशासन नामधेयं तस्य मूलकर्त्तारः श्रीसर्व्वज्ञदेवाः तदुत्तरकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः तेषां बचोनुसारमासाद्य श्रीगुणभद्रस्वामिना विरचितं। मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलंगोतमोगणी मङ्गलंकुन्दकुन्दाद्योजैनधर्म्मस्तुमङ्गलम्। बक्तारः श्रोतारश्च सावधानतया शृणवन्तु ॥

॥ ओं नमः सिद्धेभ्यः ॥

अथ श्री आत्मानुशासन ग्रन्थ की भाषा टीका लिख्यते ॥

॥ दोहा ॥

श्री जिनशासन गुरु नमूं नाना विधि सुखकार ।
आतमहित उपदेश दे करूं मङ्गलाचार ॥

॥ सवैया ॥

सोहै जिनशासन में आत्मानुशासन श्रुतजी को दुःखहारी सुख-कारी सांची शासना। जाको गुणभद्र करता गुणभद्र जाको जाणि भद्रगुण धारी भव्य करत उपासना॥ ऐसे सार शास्त्र को प्रकाश अर्थ जीवन को बनै उपकार नाशै मिथ्या भ्रम वासना। तातैं देश भाषा कर अर्थ को प्रकाश करूं जातैं मंद बुद्धिहू कै होवे अर्थ भासना॥

अब श्रीगुणभद्र नामा मुनि अपने धर्म भाई लोकसेन मुनि विषे विमोहित भया तिस को सम्बोधन का अभिलाषी होता संता निर्विघ्न शास्त्र की सम्पूर्णता आदि अनेक फल की वाञ्छा करता हुआ अपने इष्टदेव को नमस्कार करता सन्ता प्रथम ही लक्ष्मी इत्यादि सूत्र कहे हैं ॥

लक्ष्मीनिवासनिलयंविलीनविलयं निधाय हृदि वीरम्।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥ १ ॥

अर्थ—मैं जो हूं शास्त्र कर्त्ता गुणभद्र सो वीर कहिये वर्द्धमान तीर्थंकर देव, अथवा कर्म्म शत्रु नाशने को सुभट वा विसिष्ट कहिये लक्ष्मी तिस का घर ऐसे जो सर्व्व अरहन्तादिक तिन को अपने हृदय मे धारण करके आत्मा के हित रूप शिक्षा का देने वाला ऐसा जो आत्मानुशासन नाम शास्त्र तिसको कहूंगा। ऐसे अपने इष्टदेव का ध्यान रूप मंगलाचरण कर शास्त्र करने की प्रतिज्ञा करी। कैसा है वीर आत्मस्वभाव रूप वा अतिशय रूप जो लक्ष्मी तिस को रहने का स्थान है, मन्दिर है। और कैसा है विलय भया है, विलय कहिये पाप स्वभाव का नाश जिस के ऐसा है, अविनाशी स्वरूपको प्राप्त भया है। ऐसे इन विशेषण कर अपने इष्टदेव का वीर ऐसा नाम सार्थिक दिखाया है, और तिस का सर्व्वोत्कृष्टपना प्रकट किया है, और

यह शास्त्र कहूंगा। सो भव्य जीवन के मोक्ष होने के अर्थ कहूंगा, अन्य कुछ मान लोभादिक का प्रयोजन नहीं है। इस लिये, अपने हित चाहने वाले भव्यन को ग्रहण करने योग्य है। आगे शास्त्र के अर्थ विषे शिष्यन का भय दूर कर जैसे प्रवृत्ति होय, उसी प्रकार तिस के भाव को दिखावते संते दुःखात् इत्यादि सूत्र कहे हैं॥

दुःखाद्विभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव॥ २ ॥

अर्थ–हे आत्मन्! तूं अतिशय कर दुःख से डरै है। और सुखको सर्व्व प्रकार चाहै है। इसलिये मैं भी दुःखका हरनहारा सुखका करनहारा ऐसा तेरा वांछित अर्थ है, तिसही का उपदेश करूं हूं॥

भावार्थ–किसी को ऐसा भय होयगा कि श्री गुरु सुख को छुड़ाय मुझ को साधन बतावेंगे। इस भय से वह शास्त्र विषे अनादर करै। सो उस को कहते हैं, कि ऐसा भय मत कर, दुःख दूर करने का सुख पाने का तेरा अभिप्राय है, तिस ही प्रयोजन लिये हम तुझे सांचा उपदेश देते हैं। सो उपदेश रूप वचन यद्यपि कदाचित् तुझ को तत्काल कड़वा भी लगे तौभी तू तिस से डरै मत ऐसा कहे हैं॥

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किञ्चित।
त्वं तस्मान्माभैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥ ३ ॥

अर्थ–यद्यपि इसशास्त्र विषे कोई उपदेश कुछ कड़वाभी लगे तौभी तू तिससे डरेमत। कैसा है वह उपदेश फल काल विषे मीठा है जैसे रोगी बड़ी कड़वी औषधि से नहीं डरे है॥

भावार्थ–जैसे स्याना रोगी यद्यपि ग्रहण काल विषे कोई औषधि कुछ कड़वी भी लगे तौभी तिस से सुख होने रूप मीठा फल होता जान तिस से डरता नहीं, तिस को आदर से ग्रहण करे है। इसी प्रकार तू भी स्याना संसारी है, सो यद्यपि ग्रहण काल विषे कोई इस शास्त्र का उपदेश कुछ असुहावना भी लगे, तौभी तिस से सुख होने रूप मीठा फल होता जान डरे मत, तिसको आदर से ग्रहण करना योग्य है। आगे कोई तर्क करे, कि उपदेश दाता तो बहुत हैं, इसलिये तुम्हारा निष्फल खेद करने कर क्या सिद्धि है। ऐसे पूछने का उत्तर कहै हैं :–

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरङ्गास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः॥ ४ ॥

अर्थ—मनुष्य तो खोटे उपदेशादि वचन कहने वाले, और मेघ खोटे गर्ज्जने वाले, अथवा मनुष्य तो निरर्थक महंतताकर अभिमानी भये। और मेघ निरर्थक बादलरूप उडें, असे तो मनुष्य वा मेघ सुलभ हैं। परन्तु मनुष्य तो अन्तरंग धर्म्म बुद्धि कर भीजे हुए, और मेघ अन्तरङ्ग जल कर भीगे हुए, अथवा मनुष्य तो संसार दुःख से जीवन का उद्धार करने की इच्छा रखने वाले और मेघ बरसने वाले असे मनुष्य और मेघ दुर्लभ हैं॥

भावार्थ—उपदेशदाता तो बहुत हैं, परन्तु हम जैसे धर्म्मबुद्धि से जीवनका उद्धार करनेके लिये उपदेश देवेंगे, तैसे उपदेश देने वाले थोडे हैं। इसलिये हमारा उद्यम निरर्थक नहीं है। आगे ऐसे है तो कैसे गुणन कर संयुक्त उपदेशदाता होय ऐसा प्रश्न होते प्राज्ञ इत्यादि दो श्लोक कहे हैं।

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः।
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी पराऽनिन्दया।
ब्रयाद्धर्म्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥ ५॥

अर्थ—ऐसा गुणी सभा नायक हो सो धर्म कथा को कहै। कैसा होय बुद्धिमान होय क्योंकि बुद्धि बिना वक्तापना बनै नाहीं। और पाया है समस्त शास्त्रन का रहस्य जिसने ऐसा होय। क्योंकि अनेक अंग जाने बिना यथार्थ अर्थ भासै नाहीं। और लोक व्यवहार के जानने वाला होय। क्योंकि लोक रीति जाने बिना अर्थ भासै नाहीं, लोक विरुद्ध होय जाय और सर्व प्रकार आशा करके रहित होय। क्योंकि आशावान श्रोतान को खुश किया चाहै। यथार्थ अर्थ का उपदेश देवे नहीं और शांतभाव कर उत्कृष्ट होय क्योंकि तीव्र कषायी सर्व के अनिष्ट और निन्दा का स्थानिक होय है। और प्रश्न करने से पहिले ही उत्तरके जानने वाला होय। क्योंकि आप ही प्रश्न उत्तर कर समझावै तो श्रोतान के उपदेश की दृढ़ता होय। और बहुत प्रश्नन का सहनहारा होय। क्योंकि प्रश्न किये खेद खिन्न होजाय तो श्रोता प्रश्न न कर सकें, तब तिन का संदेह कैसे दूर होय। और प्रभु होय क्योंकि जिसको आपसे ऊंचा जानै तिस ही का कहा मानिये है। और औरन के मन का हरनहारा होय। क्योंकि जो असुहावना लगै तिसकी शिक्षा कौन मानै। और किसी की निन्दा न करैं, और औरन कर निन्दनीय न होय, और गण नायक और गुणन का निधान होय, क्योंकि गुण बिना नायकपनो शोभै नाहीं। और स्पष्ट और मिष्ट जिस के उपदेश रूप अक्षर होयें क्योंकि स्पष्ट वचन बिना श्रोता समझ सके नाहीं

और मीठा बोले विना रुचि न होय, इतने गुण जिस विषे पाइयें सोई धर्म्म कथा को कहे ॥

भावार्थ–आप विषे इतने गुण होयें तब शास्त्र कहने का अधिकारी होना योग्य है ॥

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,
परिणतिरुरुद्योगोमार्गप्रवर्तनसद्विधौ ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुता स्पृहा,
यति पतिगुणा यस्मिन्नन्येच सोऽस्तु गुरुःसताम् ॥ ६ ॥

अर्थ–जिस विषे ऐसे गुण होंय, कि सम्पूर्ण सन्देह रहित तो शास्त्र ज्ञान होय और गुण औगुण दोष रहित मन वचन काय की प्रवृत्ति होय। और औरन के सम्बोधन विषे परिणामहोय। और जिन मार्गको प्रवर्त्तावनेकी भली विधि विषे बड़ा उद्यमी होय। और ज्ञानिन कर प्रणाम करने योग्य होय। वा अपने से अधिक ज्ञानिन का विनय करने वाला होय। और गर्व से रहित होय और लोक रीति के जानने वाला होय, और कोमलपना होय, और

वाञ्छा रहित पना होय और और भी ऐसे २ अनेक गुण होयें। और ऐसे महन्तपना संबन्धी गुण जिस विषे होयें सो सत्पुरुषन का उपदेशदाता गुरु होय ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गुण कर सहित होय सो सत्पुरुषन का भला करै। इस लिये हमारी भी यह आशीर्वाद है, कि ऐसा ही उपदेशदाता गुरु होय। और जिस कर जीवन का बुरा होय, ऐसो उपदेशदाता गुरु किसी के भी मत होऊ, आगे ऐसा उपदेशदाता होय तो शिष्य कैसा होय ऐसा कहै हैं ॥

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद्भृशं भीतिमान्,
सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य्य स्फुटम्।
धर्म्मं शर्म्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितम्
गृह्णन् धर्म्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः॥ ७ ॥

अर्थ— ऐसा शिष्य होय जो धर्म कथा के सुनने विषे अधिकारी किया है, कैसा होय प्रथम तो भव्य होय, क्योंकि जिस का भवतव्य भला होने का न होय सो उस के सुनना कैसे कार्य-

कारी होय। और मेरा कल्याण कैसे होय। ऐसा बिचार तिसकै होय क्योंकि जिस कै अपना भलाबुरा होने का बिचार न होय, सो ऐसा श्रोता किसलिये सीख सुने। और दुःख से अतिशय कर डरता होय, क्योंकि जिस के नरकादिक का भय न होय सो पाप छुड़ाने का शास्त्र किस लिये सुनै, और सुख का अभिलाषी होय क्योंकि आगामि सुख चाहै तो धर्म साधन का शास्त्र सुने। और श्रवण आदी बुद्धि का उत्कृष्टपना जिस के पाइये ऐसा होय, तहां सुनने की इच्छा का नाम सुश्रूषा है। सुनने का नामश्रवण है। मन कर जानने का नाम ग्रहण है। न भूलने को नाम धारणा है। बिशेष बिचार करने का नाम विज्ञान है। प्रश्नोत्तर कर निर्णय करने का नाम ऊहापोह है। तत्व श्रद्धान के अभिप्राय का नाम तत्वाभिनिवेश है। ऐसे यह बुद्धि के गुण हैं। सो जिस मे पाइये हैं, क्योंकि इन विना शिष्यपना वनै नाहीं। और सुखकारी दया गुणमयी अनुमान आगम कर सिद्ध भया ऐसा जो धर्म, तिस को सुन कर विचार कर ग्रहण करन हारा होय, क्योंकि ऐसा ही धर्म ऐसे ही शिष्य के कार्यकारी होय है, और नष्ट भया है, खोटा हठ जिस के ऐसा होय, क्योंकि जो अपनी ही वार्ता पर हठ करने वाला होय उस को सीख लगें नाहीं॥

भावार्थ—ऐसे गुणन सहित होय, सोई धर्म कथा के सुनने का अधिकारी होय है।

और उस ही का भला होय है। इन गुणन विना धर्म कथा का सुनना कार्यकारी नाहीं। आगे कहे हैं, ऐसा जो शिष्य है, सो गुरु के उपदेश से सुख का अभिलाषी हो कर धर्म उपार्जन के ही अर्थ प्रवर्त्तो, क्योंकि ऐसा न्याय है॥

पापाद्दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्म्मम्॥ ८॥

अर्थ--पाप से दु:ख होता है, और धर्म से सुख होता है, ऐसे ये वचन सर्व जनों विषे भली प्रकार प्रसिद्ध हैं, सर्व ही ऐसे माने हैं। इस लिये जो सुख का अर्थी है, जिस को सुख चाहिये सो पाप को छोड़ कर सदा काल धर्म को अंगीकार करे॥

भावार्थ-पाप का फल दु:ख है, और धर्म का फल सुख है, ऐसे केवल हम ही नहीं कहे हैं वल्कि सर्व ही मतानुयायी कहे हैं। इस लिये सुख चाहो हो तो पाप को छोड़ो धर्मकार्य्य को करो, आगे कहे हैं, विशेष सुख को चाहते हुये, धर्म को अंगीकार करते संते सर्व ही जीव हैं, सो यह

विचार कर तू भी किसी आप्त समान यथार्थ उपदेश दाता से अपना आश्रय करना, क्योंकि सुख की प्राप्ति का मूल कारण आप्त ही है, सोई कहिये है॥

सर्व्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्म्मक्षयात्।
सद्वृतात्स च तच्च बोधनियतं सोप्यागमात् स श्रुतेः॥
साचाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्युत।
संयुतया सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै॥९॥

अर्थ––सर्व जीव भले सुख की प्राप्ति को शीघ्र ही वांछे हैं, सो यह वांछा प्रत्यक्ष भासे है, और सुख की प्राप्ति सर्व कर्म के नाश से होय है, क्योंकि सुख का रोकनहारा कोई कर्म है, तिसके नाश भये विना सुख कैसे होय, और उस कर्मका क्षय सम्यक् चरित्र से होय है। क्योंकि बुरे आचरण से निपजा जो कर्म सो भले आचरण विना कैसे नष्ट होय। और वह सम्यक् चारित्र ज्ञान से निश्चय होय है, क्योंकि ज्ञान विना बुरे भले आचरण का निश्चय कैसे होय और वह ज्ञान शास्त्र से होय है, क्योंकि शास्त्र विना बुरे भले का ज्ञान होता नाहीं। और

क्योंकि शास्त्र
शास्त्र है, सो श्रुति जो अर्थ प्रकाशकमूल उपदेश, तिस विना होता नाहीं। क्योंकि शास्त्र
रचना किसी के अनुसार से होय है। और जो श्रुति है, सो आप्त जो यथार्थ उपदेश दाता, तिस से
होय है, क्योंकि उपदेशदाता के विना उपदेश कैसे होय। और सो आप्त सर्व दोष रहित
है, क्योंकि दोष सहित आप्त होता नाहीं, और वे दोष रागादिक हैं। क्योंकि राग द्वेष काम
क्रोध क्षुधा और निद्रा के होते हुए यथार्थ उपदेश दे सके नाहीं। क्योंकि यह ही आप्तपने के
घातक दोष हैं। इसलिये इस उक्त क्रम से कहा, जो सर्व सुख का दाता आप्त, (यथार्थ वक्ता) उस
को जो सत्पुरुष हैं वे भली युक्ति से भले प्रकार विचार कर सुखरूप लक्ष्मी के अर्थ आश्रय करे॥

भावार्थ—जिस को सुख चाहिये सो पहिले आप्त का निश्चय कर फिर उस के उपदेश
हुए मार्ग को अंगीकार करें, आगे उस आप्त की प्राप्ति होतैं संते उस आप्त भगवान् ने सत्
पुरुषन के हितार्थ जो उपाय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप ये चार आराधना रूप उपदेशे हैं,
उस में से पहिले सम्यग्दर्शन आराधना दिखावता संता सूत्र कहे हैं॥

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा।
संवेगादिविवर्द्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदं॥

निश्चिन्वन् नव सप्त तत्त्वमचलप्रासादमारोहताम्।
सोपानं प्रथमं विनेयविदुषा माद्येयमाराधना ॥ १० ॥

अर्थ—श्रद्धान जो सम्यग्दर्शन, यानि विपरीत अभिप्राय रहित आत्मा का स्वरूप सो दो प्रकार का है। उपदेशादि वाह्य निमित्त बिना होय सो निसर्गज (स्वाभाविक) है, और उपदेशादि वाह्य निमित्त से होय सो अधिगमज (नैमित्तिक) है। अथवा सो श्रद्धान तीन प्रकार का है। दर्शन मोह के उपशम (शांति) से होय सो उपशमिक है। चय(नाश)से होय सो चायिक है। चयोपशम(नाश औरमोहकीशांति) से होय सोचयोपशमिक है। अथवा सो श्रद्धान दश प्रकार का है, सो आज्ञा सम्यक्त आदि यहां ही दश भेद आगे कहेंगे। और श्रद्धान कैसा है, सदा काल मूढ़ता आदि पच्चीस दोषन कर रहित है, तहां पच्चीस दोष ऐसे जानना। मूढता, लोक शास्त्र मूढता, देव मूढ़ता, भेद से तीन तो मूढ़ता। और जाति कुल आदि के आठ मद, और मिथ्या दर्शन ज्ञान चारित्र और इन के धारणे वाले जीव ऐसे छः अनायतन। अथवा असर्वज्ञ, असर्वज्ञ का स्थान, असर्वज्ञ का ज्ञान, असर्वज्ञ का ज्ञान युक्त पुरुष, असर्वज्ञ का आचरण, असर्वज्ञ का आचरण सहित पुरुष, ऐसे छः अनायतन हैं, यह सम्यक्त के स्थान नाहीं। इसलिये इन को अनायतन कहते हैं। और शङ्का १, कांचा २, विचिकित्सा ३, मूढ़दृष्टि ४, चार तो यह।

और उपगूहन १, स्थितिकरण २, वात्सल्य ३, प्रभावना ४, इन चारों का अभाव ऐसे
आठ भये। ऐसे सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं। इन कर रहित होय सोई निर्मल श्रद्धान है।
क्योंकि इन दोषन के लगने से या तो सम्यक्त का अभाव होय है, या सम्यक्त मैला होय है। सो
श्रद्धान कैसा है, संवेगादि गुणन कर निर्मल पना से वर्द्धायमान है, अथवा जिस कर संवेगादि गुण
वर्धे हैं, यहां संसार से भय करना अथवा धर्म्माधर्म्म के फल को देख हर्ष करना इस का नाम
संवेग है। आदि शब्द से निन्दागर्हादि जानने। और सो श्रद्धान संसार का हरन हारा है। और
कुमति, कुश्रुत, विभंगरूप, तीन अज्ञान तिन का नाश कर शुद्धता का देनहारा है। कुज्ञान का
सम्यक्त भये सुज्ञान हो जाय है। और जीव १, अजीव २, आश्रव ३, बंध ४, संवर ५, निर्जरा
६, मोक्ष ७, पुण्य ८, पाप ९, यह नव तत्व हैं, अथवा पुण्य पाप बिना सात तत्व हैं। तिन
का निश्चय करना है, और जहां से जीव न चले ऐसा स्थान मोक्ष मंदिर तिस को चढ़ने वाले ऐसे
जो शिष्य तिन में से जो पण्डित बुद्धिमान् हैं तिन को यह श्रद्धान पहिली पौड़ी है। यह पहिले
भये पीछे अन्य साधन होय है, और चार अराधना विषे यह प्रथम अराधना है॥

भावार्थ–ऐसा श्रद्धान का स्वरूप महिमा जान अंगीकार करना, तहां उपशम सम्यक्त तो
ऐसा है, जैसे गाद जिस के नीचे बैठा ऐसा ऊपर निर्म्मल जल होय तैसा जानना। और क्षायिक

सम्यक्त स्फटिकमणि समान सर्व निर्म्मल जानना। और क्षयोपशम सम्यक्त जगता सूर्य्यवत् कुछ राग मल सहित जानना। और अब दस प्रकार सम्यक्त वर्णन करने के अर्थ आज्ञ इत्यादि संग्रह रूप सूत्र कहे हैं॥

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रवीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढे च॥ ११॥

अर्थ—आज्ञा और मार्ग से उत्पन्न और उपदेश से उत्पन्न और सूत्र और बीज और संक्षेप से उत्पन्न और विस्तार और अर्थन से उत्पन्न और अवगाढ़ और परमावगाढ़ ऐसे दस भेद सम्यक्त के जानने॥

भावार्थ—हेय, उपादेय, तत्वन विषे विपरीत अभिप्राय रहित सो सम्यक्त एक प्रकार है। तिस ही के आज्ञापना की अपेक्षा अवगाढ, परमावगाढ, यह दोय भेद किये हैं। ऐसे यहां दस भेद जानने। आगे इस ही का विशेष वर्णन के अर्थ आज्ञा सम्यक्त इत्यादि तीन काव्य कहे हैं।

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव ।
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः ॥
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता ।
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥ १२

अर्थ—शास्त्र पढ़े विना जो वीतराग की आज्ञा कर उन के वचन सुनने से ही श्रद्धान होय सो आज्ञा सम्यक्त कहा है। और जो ग्रंथ विस्तार के सुनने बिना वाह्य आभ्यन्तर परिग्रह रहित ऐसा जो कल्याण रूप मोक्षमार्ग तिस में मोह की शान्ति के लिये श्रद्धान करना उसे मार्ग श्रद्धान कहै हैं। और उत्कृष्ट पुरुष तीर्थंकरादि हैं, तिनके पुराणन के उपदेश से जो निपजा सम्यक् ज्ञान, उस कर उत्पन्न हुआ जो आगम वही ठहरा समुद्र उस में प्रवीण पुरुषन के उपदेश आदि से हुई जो उपदेशक दृष्टि यह उपदेश सम्यक्त है॥

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिःदुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशात् बीजदृष्टिःपदार्थात्
संक्षेपेणैव बुध्वा रुचिमुपगतवान्साधुसंक्षेपदृष्टिः ॥ १३ ॥

अर्थ—मुनि के आचरण के विधान को विदित कराता हुआ जो आचार सूत्र तिसको सुन कर जो श्रद्धान करना है सोई सूत्र दृष्टि भली प्रकार कहिये है। इस ही का नाम सूत्र सम्यक्त है, और कई बीज गणित जो ज्ञान के कारण हैं, तिन कर अनुपम जो मोह का उपशम उस के वश से अति कठिन है जानने की गति जिसकी, ऐसा जो पदार्थन का समूह तिस का उत्पन्न हुआ जो (ज्ञान) उसे बीज सम्यक्त जानना, और पदार्थन को संक्षेपपने से जान कर जो श्रद्धान भया सो भली संक्षेप दृष्टि है। यह संक्षेप सम्यक्त जानना॥

यःश्रुत्वा द्वादशांगीकृतरुचिरथ तं विद्धिविस्तारदृष्टिं
संजातार्थात्कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यंतरेणार्थदृष्टिः।

दृष्टिः साङ्गाङ्गवाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा,
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा॥१४॥

अर्थ–हे भव्य द्वादशांग रूप वाणी को सुनकर जो रुचि (श्रद्धान) होवे तिस को विस्तार दृष्टि जान, यह विस्तारसम्यक्त है। और जैन शास्त्र के वचन विषे किसी अर्थ के निमित्त से भई जो अर्थदृष्टि यह अर्थसम्यक्त जानना। और अंग और अंगवाह्य सहित जो जैन शास्त्र तिस को अवगाह कर (जान कर) निपजी जो दृष्टि सो अवगाढदृष्टि है। यह अवगाढ सम्यक्त जानना, और केवल ज्ञान कर अवलोक्य (देखने के योग्य) पदार्थ विषे जो श्रद्धान होवे सो यह परमावगाढ दृष्टि प्रसिद्ध है। यह परमावगाढ सम्यक्त जानना। ऐसे यह दस भेद कहे॥

भावार्थ–यहां दस भेद सम्यक्त के कहे हैं। तहां वीतराग के वचन से ही जो श्रद्धान होय सो आज्ञा सम्यक्त है १। मोक्षमार्ग के ही श्रद्धान से जो होय, सो मार्गसम्यक्त है २। उत्तम पुरुषों की वाणी से पुराणादिक सुनने कर जो श्रद्धान होय, सो उपदेश सम्यक्त है ३। मुनि का आचरण सुनने से जो श्रद्धान होय सो सूत्रसम्यक्त है ४। वीज गणित आदि कर करणानुयोग के निमित्त से जो श्रद्धान होय, सो वीज सम्यक्त है ५। संक्षेप रूपसे पदार्थन को जान कर जो श्रद्धान होय, सो संक्षेप सम्यक्त है ६। द्वाद-

शांग को सुन कर जो श्रद्धान होय, सो विस्तारसम्यक्त है ७। किसी दृष्टान्तादिक रूप पदार्थ से जो श्रद्धान होय सो अर्थसम्यक्त है ८। श्रुत केवली के जो श्रद्धान होय, सो अवगाढ सम्यक्त है ९। केवल ज्ञानी के जो श्रद्धान होय सो परमावगाढ सम्यक्त है १०। ऐसे एक सम्यक्त के अन्य निमित्तों से दस भेद जानने -:(यहां प्रश्न)·- जो चार प्रकार की आराधना विषे सम्यक्त आराधना पहिले किस लिये करिये है। ऐसे प्रश्न का उत्तर कहे हैं :—

छन्दः—शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्तसंयुक्तम्॥१५॥

अर्थ—पुरुष (आत्मा) के मन्द कषाय रूप उपशम परिणाम, शास्त्राभ्यास रूप ज्ञान, पाप का त्याग रूप चारित्र, और अनशनादिक रूप तप, इन का जो महंतपना है सो पाषाण के बोझ समान है। विशेष फल का दाता नाहीं यदि वह ही सम्यक्त संयुक्त होय तो महामणि के समान पूजनीक है। बहुत फल का दाता महिमा योग्य है। -·(भावार्थ)·- जैसे पाषाण की और मणि की यद्यपि एक जाति है। तथापि शोभा के विशेष से पाषाण का बहुत भार भी उठावें तो भी महिमा न पावै और मणि का स्तोक भार भी उठावे तो बहुत महिमा योग्य

होय तैसे मिथ्यात्व और सम्यक्तसहितक्रिया की यद्यपि एक जाति है तथापि अभिप्राय के विशेष से मिथ्यात्वसहितक्रिया का बहुत भार सहे तौभी महिमा न पावै और सम्यक्तसहितक्रिया को सहे तो बहुत महिमा योग्य होय है आगे ऐसी सम्यक्त आराधना विषे जो प्रवर्त्ते है। ऐसा जो आराधक तिस के स्वरूप को उसके भय को दूर करते हुए सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—मिथ्यात्वातङ्कवतो हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य।
बालस्येव तवेयं सुकुमारैव क्रिया क्रियते॥ ॥ १६ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व रूप महारोग संयुक्त और हित की प्राप्ति अहित की अप्राप्ति विषे मूर्ख ऐसा बालक समान जो तू सो तेरी यह सहज ही औषधि (इलाज) करिये है॥

भावार्थ—हे शिष्य जैसे बालक के समान हित अहित के न जानने वाले रोगी का सहज इलाज करिये है, तैसे तू मिथ्यात्व सहित हित अहित को नहीं पहिचानता इसलिये तू अज्ञानी है। सो तुझ को केवल धर्म्म का साधन उपदेशिये है। यहां ऐसा रहस्य है। जो बलवान् होय वा हित की प्राप्ति का अहित के नाश का लोभ होय वा तरुण अवस्था होय तौ कठोर साधन भी साधै। जो इतने गुण न होवें तो तब जैसा उस से सधता दीखे तैसा ही साधन

बताइये है। तैसे श्रद्धानवन्त होय वा मोक्ष की प्राप्ति बन्ध के नाश का इच्छक होय वा बड़ी पदवी का धारक होय तो कठिन धर्म्म भी साधै। सो यह तीनों तेरे नाहीं हैं, इसलिये जैसा तुझ से सधता दीखे है, तैसा ही तुझे सम्यक्तादि रूप कोमल धर्म्म का साधन बतावे हैं। आगे अब चारित्र आराधना के विचार को अनुक्रम से विचारता हुआ जो आचार्य सो तिस के आराधकों के योग्य ऐसी जो सुगम अणुव्रत रूप चारित्र आराधना उस को दिखावते हुये सूत्र कहै है :—

छन्दः—विषयविषप्राशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान्॥ १७॥

अर्थ—विषय रूपी विष के भोजन से उठा जो मोहरूपी ज्वर उस से उत्पन्न हुई है तीव्र तृष्णा (प्यास) जिस के ऐसा जो शक्ति रहित तू सो तेरे पीने योग्य जो उपक्रम (जलादिक-औषध) सोई कल्याणकारी है॥

भावार्थ—जैसे किसी कै विरुद्ध भोजन से ज्वर भया उस कर तृषा बहुत भई। और सामर्थ्य घट गया तब तिस के पीने योग्य भोजन आदिक का जो अनुक्रम (इलाज) सोई

गुणकारी है। और जो गरिष्ठ भोजन करे तो वह पचे नहीं, तब उलटा रोग बधे, तैसे हे शिष्य तेरे विषय वासना से मोह उत्पन्न भया है, उस कर तेरे परवस्तु की तृष्णा भई है, और आत्म शक्ति घट गई है सो अब तुझ को अणुव्रत रूप साधन का जो अनुक्रम सोई गुणकारी है। मुनिपद ग्रहण करे और सधै नाहीं। तब उलटा संसार बधै। यहां प्रयोजन यह है यावत् अन्तरङ्ग परिणाम रहैं। तावत् अनुक्रम से थोड़ा२ साधन कर धर्म्म वधावना। आगे इस चारित्र आराधना का प्रारम्भ किस को करना योग्य है। सो कहे हैं :—

छन्दः—सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्य्यः।
सुखितस्य तदभिवृद्धैय दुःखभुजस्तदुपघाताय ॥ १९ ॥

अर्थ—संसार विषे सुखी वा दुःखी जो तू सो तुझ को धर्म्म ही करना योग्य है। सुखी कै तो तिस सुख की वृद्धि के अर्थ है। और दुःख भोक्ता कै उस के दुःख के नाश के लिये है॥

भावार्थ—जैसे जिस कै पूंजी होय उस को भी धन कमावना योग्य है। और जिस कै ऋण होय उस को भी धन कमावना ही योग्य है। पूंजी होय और धन कमावे तो पूंजी की वृद्धि होय। ऋण होय और धन कमावे तो ऋण का नाश होय तैसै जिस कै पुण्य उदय से सुख

पाइये है। उस को भी धर्म्म ही करना योग्य है। और जिस के पाप के उदय से दुःख पाइये है। उस को भी धर्म्म ही करना योग्य है। सुखी होय धर्म्म करे तो सुख की वड़वारी होय दुःखी होय धर्म्म करे तो दुःख का नाश होय। इसलिये सर्व अवस्था विषे धर्म्म साधन भला है। यह तात्पर्य्य जानना। आगे जो विषय सुख है सो धर्म्म का फल है। इसलिये धर्म्म की रचा करते हुये पुरुषों को विषय सुख भोगना योग्य है॥

छन्दः—धर्म्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि।
संरच तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तै रुपायैस्त्वम्॥ १९

अर्थ—समस्त इन्द्रियन के विषय रूपी जो सुख हैं। सो धर्म्म रूपी जो वाग उस में सम्यक्त आदिक जो वृच तिन के फल हैं। इसलिये तू जिस किस उपाय कर उन वृचों की रचा कर और उन के फलों को चुन कर ग्रहण कर॥

भावार्थ—जैसे जो चतुर पुरुष है, सो जिन वागीचों के वृचों के साथ उत्तम फल लगें उन वृचों की रचा करे है। और उन के जो फल लगें तिन को ग्रहण करे है। तैसे तू ज्ञानी है तो जिस धर्म्म के अंगों का सुख रूप फल निपजै उस धर्म्म के अंगों की रचा कर और उन से

उपजे जो फल वहि ठहिरे सुख उनको भोग, ऐसे किये सुख का विच्छेद न होय है। आगे विषय सुख की प्राप्ति के लिये धर्म्म को करता हुआ जो जीव उस के विषय सुख का अभाव होय है। ऐसी आशंका करता हुआ जो तू सो धर्म्म से विमुख मत हो क्योंकि ऐसा न्याय है॥

छन्दः—धर्म्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्नो विरोधकः स्वकार्य्यस्य ।
तस्मात् सुखभङ्गभिया माभूर्धर्म्मस्य विमुखस्त्वम् ॥ २० ॥

अर्थ—धर्म्म सुख का कारण है। और कारण अपने कार्य का विरोधी होता नाहीं इसलिये तू सुख के नाश होने का भय कर धर्म्म के विषे विमुख न हो॥

भावार्थ—लोक विषे यह प्रसिद्ध है। जिस कार्य्य का जो कारण होय तिस कार्य्य का सो कारण नाश करन हारा न होय है। यहां सुख कार्य्य है, धर्म्म कारण है। सो धर्म्म सुखका भंग कैसे करैगा। इसलिये धर्म्म साधन करते हुए कि मेरे सुख का नाश होगा ऐसा भय कर धर्म विषे अनादर मत करै क्योंकि कारण से कार्य्य की वृद्धि होय है इसलिये धर्म्म करने से सुख की वृद्धि होय है। ऐसा निश्चय कर धर्म्म विषे प्रीति ही करनी योग्य है। आगे इस ही अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हुए सूत्र को कहे हैं॥

छन्दः—धर्म्मादवाप्तविभवो धर्म्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥ २१ ॥

अर्थ—धर्म्म से पाया है सुख सम्पदारूप विभव जिसने ऐसा जो जीव है, सो धर्म्म को पाल कर भोग को भोगे जैसे बीज से पाया है अन्न जिसने ऐसा जो किसाण है सो तिस अन्न के बीज को राखै है ॥

भावार्थ—जैसे जो अन्न निपजै है सो बीज के बोने से निपजै है। बीज बिना खेद खिन्न भये भी अन्न निपजै नाहीं। चतुर किसाण ऐसा विचारे है कि मेरे बीज से अन्न भया है। सो अब भी बीज के रखने से मुझे आगे अन्न की प्राप्ति होगी इसलिये मुझे बीज को राख अन्न भोगना उचित है, तैसे ही सुख है। सो धर्म्म बिना खेद खिन्न भये भी होवे नाहीं इसलिये जो तू चतुर संसारी है तो ऐसे विचार कि मेरे धर्म्म सेवने से यह सुख भया है सो अब भी धर्म्म साधने से मेरे आगामि सुख की प्राप्ति होगी इसलिये धर्म्म को राख सुख भोगना योग्य है सो ऐसा विचार कर जैसे तुझ से धर्म्म सधे तैसे पुण्य उदय से निपजा जो सुख उसको भोग आगे धर्म्म से कैसा फल पाईये है सो कहते हैं ॥

छन्दः—संकल्प्यं कल्पवृत्तस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्म्मादवाप्यते ॥ २२ ॥

अर्थ—कल्पवृक्ष का तो सकल्प योग्य (जिसको वचन कर मांगिये) ऐसा फल है। और चिन्तामणि का भी चिन्तवन योग्य (जिसको मन कर जानिये) ऐसा फल है। परन्तु धर्म्म से तो जो संकल्प योग्य नहीं और चिन्तवन योग्य नाहीं। ऐसा कोई अद्भुत फल मिले है॥

भावार्थ—लोक विषे कल्पवृक्ष और चिन्तामणि को उत्तम फल के दाता बताईये हैं। सो वह तो वचन और मन कर मांगे हुए किंचित् विषय सामग्री रूपी फल को देवें हैं और जो धर्म्म है सो वचन और मन के गोचर नाहीं ऐसा जो अद्भुत सुख रूप फल उसको देवे है इस लिये कल्पवृक्ष और चिन्तामणि से भी धर्म्म की प्राप्ति को उत्तम जान कर इसके साधन विषे तत्पर रहना योग्य है। आगे ऐसा धर्म्म किस रीति से उपार्जन करिये है सो कहिये है॥

छन्दः—परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥ २३ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् निश्चय कर पुण्य पाप का कारण परिणाम ही को कहैं हैं इसलिये पाप का नाश और पुण्य का संचय भले प्रकार करना योग्य है ॥

भावार्थ—कोई शरीर की सामर्थ्य के न होने से कोई धनादिक के न होने कर कोई सहायादिक के न होने कर धर्म्म साधन होता न मानैं हैं सो यह भ्रम है, केवल पर को दोष लगाय उपदेश को निरर्थक मत करो सुनो पुण्य और पाप का कारण परिणाम ही हैं। क्योंकि पर का किया पुण्य पाप होता नाहीं अपने ही परिणाम से पुण्य पाप होय है इसलिये अशुभ परिणाम छोड़ना शुभ परिणाम करना इस रीति से तुमको पाप का नाश और पुण्य का संचय करना योग्य है। आगे जो जीव धर्म्म का संचय न करता हुआ विषय सुखों को भोगता है, उसकी निन्दा को दिखावते हुए सूत्र कहे हैं ॥

छन्दः—हत्वा धर्म्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आछिद्य तरून्मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः ॥ २४

अर्थ—जो जीव मोह से धर्म्म का घात कर विषय सुखों को भोगते हैं सो वह पापी जड़ से वृक्षों को काट कर फलों को ग्रहण करते हैं ॥

भावार्थ–जैसे कोई पापी पुरुष फल को चाहे है। परन्तु रौद्रभाव से वृक्ष को जड़ से काट कर जो फल हाथ लगें उन को ग्रहण करे है। तैसे मूर्ख जीव सुख को चाहता हुआ पाप की वृद्धि से धर्म्मका घात कर जो सुख उत्पन्न होवे उस को भोगता है। यहां इतना समझना जैसे वृक्ष को काटो वा राखो फल तो जितना लगा हुआहै, उतना ही हाथ आवेगा, परन्तु वृक्ष के काटने से आगामि फल न मिलेगा, और वृक्ष की रक्षा करने से आगामि फल की प्राप्ति होगी। तैसे धर्म्म का नाश करो वा राखो सुख तो जितना होना है उतना ही होगा। परन्तु धर्म्म के नाश करने से आगामि सुख की प्राप्ति नाहीं होगी, और राखने से आगामि सुख की प्राप्ति होगी। –.(यहां प्रश्न):– जो एक तो धर्म्म का नाश कर सुख का भोगना कहा और दूसरा धर्म्म को साधते हुए सुख का भोगना कहा। सो इन का क्या आशय है। –:(इस का उत्तर):– धर्म्म साधने के अवसर विषै भी पाप रूप रहना और अन्याय रूप पाप कार्य्य करना और प्राप्त भये हुए विषयों से अधिक विषयन की तृष्णा करनी और तीव्र कषाय रूप परिणाम राखने। इत्यादि प्रवृत्ति लिये विषय सुखन का भोगना तो धर्म्म का घात कर सुख का भोगना है और धर्म्म के अवसर विषे धर्म्म साधना और अन्याय रूप पाप कार्य्य न करना और मिले हुए विषयन विषे सन्तोष रूप रहना और बहुत कषाय न करनी इत्यादि प्रवृत्ति

लिये कुछ विषय सुख का भोगना सो धर्म्म राखि सुख का भोगना जानना और जहां कषाय न होय तहां विषय सामग्री के त्याग किये दुःख सामग्री के मिलने से भी निराकुल रहै तहां परमार्थ को राख परमार्थ सुख का भोगना जानना। —(यहां प्रश्न):— यह उपदेश केवल कथन मात्र है प्रवृत्ति रूप नाहीं। क्योंकि विषय सुख का भोग बने हुये धर्म्म उपार्जन करने को सर्वथा असमर्थ पना है। ऐसे तर्क किये कहै हैं॥

छन्दः—कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः स्मरणाचरणवचनेषु।
यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्म्मो न संग्राह्यः ॥२५॥

अर्थ—कर्त्ता पना सो कृत और हेतु को कर्त्तापना सो कारित कर्त्ता का अनुसारी अभिप्राय सो अनुमोदना इन तीनों कर मन का विचार काय कर अङ्गीकार और वचन बोलना इन विषे जो धर्म्म सर्व्व प्रकार पावने योग्य है सो धर्म्म कैसे संग्रह न करना॥

भावार्थ—जो एक ही प्रकार धर्म्म होता तो सर्व्व विषयन का त्याग किये ही धर्म्म होय परन्तु यावत् सर्व विषयन का त्याग न होय सकै तावत् अनेक प्रकार कर थोड़ा२ धर्म्म का ही संचय करना योग्य है क्योंकि जैसे अनेक व्यापारों कर धन का सचय करे तैसे अनेक प्रकार धर्म्म साधन

कर धर्म्म का सञ्चय करना, सो धर्म्म का संचय नव प्रकार होय है। मन कर धर्म्म करना १। करावना २। अनुमोदना ३। वचन कर धर्म्म करना ४। करावना ५। अनुमोदना ६। काय कर धर्म्म करना ७। करावना ८। अनुमोदना ९। और धर्म्म के अनेक अङ्ग हैं तिन विषे जो धर्म्म बने सोई करना। और एक भी धर्म्म थोड़ा घना जितना बनै उतना ही करना। ऐसे सर्व प्रकार जो धर्म्म का संचय होय है सो शुभ है। और तू कठिनता प्रकट कर धर्म्म विषे निरुद्यमी भया चाहे है। सो जैसे निरुद्यमी पुरुष दरिद्री होय दुःख पावे तैसे तू पुण्य हीन होय नरकादिक विषे दुःख पावेगा। इसलिये धर्म्म का संग्रह ही करना योग्य है। आगे जीवन के चित्त विषे ऐसे धर्म्म के प्रवर्त्तमान होते सन्ते और न प्रवर्त्तमान होते सन्ते जो फल होयहै उस को दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं॥

छन्दः—धर्म्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावत् हन्ता न हन्तु-
रपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्। दृष्टा परस्परहतिर्ज्जन-
कात्मजानां रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म्म एव॥२६॥

अर्थ—हे शिष्य तू देख जब तक धर्म्म मन विषे अतिशय से वसे है। तब तक अपने मारने वाले का भी आप मारने वाला न होय है। और उस धर्म्म के गये पीछे पिता पुत्रन के भी परस्पर घात क्रिया देखिये है। इसलिये प्रगट इस जगत् की रक्षा धर्म्म ही है॥

भावार्थ—धर्म्मबुद्धि होय तो कोई किसी को न मारे। और जो धर्म्मबुद्धि न होय तो वह उसको मारे वह उसको मारे क्योंकि जो धर्म्म न होय तो बलवान् निर्बल को मारे और उस से बलवान् उसको मारे, ऐसे सर्व लोक नष्ट हो जाय परन्तु स्वयमेव लोक विषे धर्म्म की प्रवृत्ति है इसलिये जीवन कै परस्पर भी रक्षा करने के परिणाम हैं। तिर्य्यंचादिक विना प्रयोजन छोटे जीवन को भी न मारते देखिये हैं। इसलिये लोक का रक्षक धर्म्म ही है, और जो धर्म्म लोक का रक्षक है, सो धर्म्म उस धर्म्म के साधने वाले का रक्षक कैसे न होयगा इसलिये अपना भी रक्षक धर्म ही को जान तिसका सेवन करना योग्य है। —:(यहां प्रश्न):— जो प्राणी विषय सुख को भोगते हैं उनकै पाप का उपजना सम्भवै है इसलिये धर्म्म कैसे होय ऐसी आशंका का उत्तर कहे हैं॥

छन्दः—न सुखानुभवात् पापं पापं तद्धेतुघातकारम्भात्।
नाजीर्णं मिष्टान्नान्ननु तन्मात्राद्यतिक्रमणात्॥२७॥

अर्थ—सुख के भोगने से पाप नहीं है। तिस सुख का कारण जो धर्म्म उस के घात करने वाला जो कार्य्य उसके आरम्भ करने से पाप होय है। —:(यहां दृष्टान्त कहे हैं):— जैसे मिष्ट अन्न के भोजन से अजीर्ण न होय है। परन्तु उस भोजन की मात्रादिक के उलंघन से अजीर्ण होय ॥

भावार्थ-जैसे अजीर्ण का कारण मिष्ट भोजन नाहीं। आसक्तता से अधिक भोजनादिक अजीर्ण का कारण है। तैसे पाप का कारण विषय सेवना नाहीं है। धर्म्म का घात कर बहुत कषायादिक की प्रवृत्ति सो पाप का कारण है। इन्द्रादिक देव भोग भूमिया वा तीर्थंकरादिक कौ बहुत विषय सामग्री पाइये है, तिन विषयन का सेवन भी है। परन्तु नरकादिक का कारण पाप का बन्ध होय नाहीं। और तन्दुल मच्छादिक है बहुत तृष्णा से वा पर्व्वतादिक के मिथ्या त्वादिक से बहुत विषय सेवन किये बिना ही धर्म्म का घात करने कर नरकादिक का कारण पाप बन्ध है, इसलिये तुझ से विषय छूटे नाहीं विषय छूटे बिना धर्म्म होय नाहीं। ऐसी आशंका कर धर्म्म करने में अरुचि करनी योग्य नाहीं।—:(यहां प्रश्न):— जो ऐसे है तो और विषय छोड़ मुनि पद काहे को ग्रहण करे हैं। —:(तिस का समाधान):— नरकादिक और तिर्य्यंञ्चादिक रूप बन्ध के कारण जो पाप उस का अभाव तो गृहस्थ अवस्था विषे ही धर्म्म

साधन से होय है। परन्तु यहां स्वर्गादिक का कारण और परम्परा मोक्ष को साधै ऐसा धर्म्म सधै है। इसलिये धर्म्म बुद्धि कर जो जीव साक्षात् मोक्ष को साध्या चाहै। सोसर्व विषय छोड़ मुनि पद अङ्गीकार करे है। आगे कोई तर्क करै है। जो शिकार खेलना आदि हिंसादिक रूप कार्य्य उस के भी धर्म्मवत् सुख के कारणपना की सिद्धि है। जैसे धर्म्म से सुख उपजना कहो हो। तैसे शिकार आदि कार्य्यन से भी सुख होता देखिये है। इसलिये धर्म्म के घातक आरंभ से पाप होय है सो ऐसा कैसे कहो हो। क्योंकि पाप के कारण के और सुख के कारणपना के विरोध है। ऐसी आशंका के करने पर उस को निराकरण करते संते सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—अप्येतन्मृगयादिकं यदि तव प्रत्यक्षदुःखास्पदं
पापैराचरितं पुरातिभयदं सौख्याय संकल्पतः।
संकल्पंतमनुष्ठितेन्द्रियसुखैरासेव्यते धीधनैः
धर्म्मे(र्म्ये)कर्म्मणि किं करोति न भवान् लोकद्वयश्रेयसि(से) २८

अर्थ–जो यह शिकार आदि कार्य्य हैं सो प्रत्यक्ष दुःख का ठिकाना हैं। और पापी जीवन कर सेवित हैं। और आगे नरकादिक विषे बहुत भय के दाता हैं। केवल तेरे संकल्प मात्र से मन का हुलास है इसलिये सुख के अर्थ होय हैं। उस संकल्प को तू धर्म्मकार्य्य विषे क्यों न लगावे है। कैसा है वह धर्म्मकार्य्य मिले हैं इन्द्रिय सुख जिन को ऐसे बुद्धि रूप धन संयुक्त जो जीव तिन कर सेवनीय है। और इस लोक परलोक विषे कल्याणकारी है॥

भावार्थ–शिकारादिक कार्य्यों को तू सुख का कारण माने है सो यह तो प्रत्यक्ष दुःख के स्थान हैं, क्योंकि वहां खेद क्लेश और आकुलता विशेष से होय है। परन्तु तेरे उस कार्य्य करने का हुलास भया है, इसलिये तेरे मानने से यह कार्य्य सुख के अर्थ होय है। और जब दुःख का स्थान भी तेरे मानने से सुख के अर्थ भया। तो तब जो खेद क्लेश आकुलता घटने से प्रत्यक्ष सुख का स्थान जो धर्म्मकार्य्य उस विषे वैसा माने तो वह सुख के अर्थ कैसे न होय। और तू जानेगा कि शिकार आदि कार्य्य तो भोगी पुरुषन के करने के हैं। और धर्म्मकार्य्य योगियों के करने का है, सो ऐसे नहीं है। शिकार आदि कार्यों को तो अहेड़ी आदि पापी जीव करे हैं। और धर्म्मकार्य्य को चक्रवर्त्ती आदि महाभोगी आदरें हैं। और आगामि भला जिस से होय ऐसे दुःख विषे भी सुख मानिये है। सो शिकार आदि कार्य्य तो नरकादिक दुःख के

कारण हैं धर्म्म है सो स्वर्ग और मोक्ष के सुख का कारण है। इसलिये शिकारादिक कार्य्य छोड़ सुख के अर्थ धर्म्म ही को अङ्गीकार करना योग्य है। आगे शिकार खेलने विषे आसक्त जो जीव तिन कै जो अत्यन्त निर्दयपना उस को दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—भीतमूर्त्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तिकाः ।
दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा ॥२९॥

अर्थ—भयवान् है मूर्त्ति जिन की और रक्षा कर रहित और शरीरमात्र धन कर सहित और दान्तन विषे लगे हैं तृण जिन के ऐसी जो निर्दोष हिरनी हैं जो उन को भी मारते हैं तो औरन के मारने कि उन कै क्या कथा है अर्थात् उन की निर्दयता का क्या ठिकाना है॥

भावार्थ—लोक विषे जो राजादिक समर्थ पुरुष हैं सो भी एक तो भयवान् को न मारे हैं। उस को अपनी शरण राखें हैं। और जिस का रक्षक न होय उस को न मारे हैं। अनाथ जान रक्षा ही करे हैं। और जिस में चोरी आदि दोष नाहीं उस को न मारे हैं श्रेष्ठ जान प्रतिपालन ही करे हैं। और जिस कै धन न होय उस को न मारे हैं रङ्क जान सहायता ही करे हैं। और दातों में लिया है घास जिन्होंने उन को न मारे हैं मान छोड़ने से निर्भय

ही करे हैं और स्त्री को न मारे हैं स्त्री आदिक की हत्या पुरुषार्थ का धारी न करे है ऐसी एक एक वार्त्ता जिन के पाइये है उन को भी मारना युक्त नाहीं सो हिरनी विषे तो यह सर्व बात पाइये हैं। शिकार खेलने वाले तिन को भी मारे हैं तो उन के औरन की दया कैसे होय। इसलिये शिकारी पुरुष महानिर्द्दयी हैं। महापापी जानने। आगे हिंसा के त्याग रूप व्रत विषे दृढ़पना कर अनृतस्तेय (झूठ और चोरी) के त्यागरूप व्रत विषे दृढ़पना करने को सूत्र कहे हैं:-

छन्दः—पैशून्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात्।
लोकद्वयहितमर्ज्जयधर्म्मार्थयशः सुखायार्थम्॥ ३०

अर्थ—चुगली करनी दीनता करनी कपट करना चोरी करना झूठ बोलना और मुनि हत्यादिक पातक करना इत्यादिक पाप कार्य्यों का त्याग करने से हे भव्य तू धर्म्म अर्थ यश सुख और लाभ इन के लिये दोनों लोकों में हितकारी जो पुण्य उस का सचय कर॥

भावार्थ—अनृत (झूठ) और स्तेय (चोरी) विषे गर्भित ऐसा दुष्टपना दीनपना ठगपना चोरपना असत्य बोलना महापाप रूप पातक कार्य्य करना। इत्यादिक जो कार्य्य तिन का त्याग करना योग्य है। इन का त्याग इस लोक परलोक विषे हितकारी है क्योंकि इन को

त्याग से अणुव्रत भी महाव्रत रूप धर्म्म होय है। और लोक विषे विश्वास होने कर धन उपार्जन के निमित्त बने हैं। और लोकविरुद्ध कार्य्य छोड़ने से यश होय है। और आकुलता मिटने से वा सुख का कारण होने से सुख होय है और साता वेदनीय आदि पुण्य का बन्ध होय है। इसलिये इस लोक और परलोक विषे इनके त्याग को हितकारी जान हे भव्य तू यह कार्य्य आवश्य कर –:(यहां तर्क).– जो व्रतीन कै उपसर्ग दुःख आने कर अपनी रक्षा के लिये हिंसा झूठ आदि पाप कदाचित् हो जाय तो क्या करें ऐसी तर्क किये यहां सूत्र कहे हैं :–

छन्दः—पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमतीदृशोपि नोपद्रवोभिभवति
प्रभवेच्च भूत्यै। सन्तापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः
पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—हे भव्य तुम पुण्य को करो। जिस ने पुण्य किया उस को जिस सारखा न देखा ऐसा भी जो उपद्रव है सो भी नहीं पीड़ता है। प्रत्युत (बल्कि) वह ही उपद्रव विभूति के अर्थ

होय है। यहां दृष्टान्त देखो समस्त जगत् को आताप देता हुआ सूर्य्य कमलों विषे विकाश रूप लक्ष्मी को करे है॥

भावार्थ—उपसर्ग जो दुःखदायक कारण है। सो भी पुण्यवान् को दुःख देने को समर्थ नहीं है, जैसे सूर्य्य औरों को आताप उपजावे है कमलों को प्रफुल्लित ही करे है तैसे उपद्रव है सो जिन के पाप का उदय होय उन्हीं को दुःख दे है। जिन के पुण्य का उदय है उन को विभूति का दाता होय है। सो प्रत्यक्ष देखिये है जिस उपद्रव विषे सब को बड़ा दुःख होय है। उस ही उपद्रव विषे जिस कै पुण्य उदय होय उस कै धनादिक का लाभ होय है। इसलिये धर्म्मात्मा पुरुष ऐसे उपसर्ग के आने पर भी धर्म्म को छोड कर हिंसादिक पाप रूप नहीं प्रवर्त्तें हैं। यहां कोई कहे कि पुरुषार्थ ही से शत्रुओं को दूर कर उपसर्ग निवारणे की सामर्थ्य होय है इसलिये कुच्छ पुण्य कर ही पूरी पूरी सिद्धि नहीं होय है ऐसी आशंका के निवारण के लिये सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—नेता यस्य(यच)बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः।

स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावतो वारणः।

**इत्याश्चर्य्यबलान्वितोऽपि बलिभिद्भग्नः परैः संगरे
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम्॥३२॥**

अर्थ–जिस का बृहस्पति तो मन्त्री और वज्र हथियार और देवता सेना विषे चाकर और स्वर्ग गढ़ और हरि जो ईश्वर उस का अनुग्रह सहाय और ऐरावत हाथी पाइये है। ऐसा जो आश्चर्य्यकारी बल सहित इन्द्र है सो भी शत्रुओं कर संग्राम विषे हारा। इस लिये निश्चय कर यह ही ठीक है कि भाग्य ही रक्षक है और निष्फल जो उद्यम है उस को धिक्कार है धिक्कार है॥

भावार्थ–जो जीव पुरुषार्थ से दुःख निवारना मान कर जैसे अपना पुरुषार्थ सधै तैसे उपाय करे हैं। उन को कहिये है कि पुरुषार्थ तो निष्फल है और जो पुण्यकर्म्म है उसका नाम दैव (भाग्य) है सोई सहाई है। उस के होतैं ही पुरुषार्थ कार्य्यकारी है। उस बिना पुरुषार्थ कुछ कार्य्यकारी नाहीं। यहां वैष्णव मत की अपेक्षा से उदाहरण कहा है, देवताओं में इन्द्र बलवान् है। सो भी दैत्यों के संग्राम विषे हारा अथवा इस ही का जैन-मत अपेक्षा अर्थ करिये तो इन्द्र नाम विद्याधर भया है। उस ने मन्त्री आदिक का बृह

स्पति आदि नाम धरा था । सो वह बहुत पुरुषार्थ कर संयुक्त भया है परन्तु रावण से हारा। इसलिये पुरुषार्थ को निरर्थक जान और पुण्य कर्म ही को कार्य्यकारी जान पुण्य का साधन करना योग्य है । यहां कोई कहे कि हमने तो किसी के हिंसा का त्याग देख्या नाहीं इस के आचारण करने वाले भी असम्भव भासे हैं । क्योंकि तिन की पहिले से वार्त्ता मात्र ही भई सुनने में आवे है, ऐसा कहने वाले पुरुष को उत्तर कहे हैं .—

छन्द:—भर्त्तार: कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं
रत्नानां निधय: पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहा: ।
स्पृष्टा: कैरपि नो नभोविभुतया विश्वस्य विश्रान्तये
सन्त्यद्यापि चिरंतनान्तिकचरा: सन्त: कियन्तोऽप्यमी३३

अर्थ—जो चिरकालवर्त्ती बड़े मुनि भये हैं उनके शिष्य जो उनके मार्ग विषे प्रवर्त्तेहैं सो ऐसे कई सत् पुरुष अब भी प्रत्यक्ष पाइये हैं । कैसे हैं वह सत्पुरुष जो आप मोह को छोड़ कर कुलाचल पर्वतवत् पृथ्वी के भर्त्ता हैं जैसे कुलाचल पर्वत पृथ्वी को धारेहैं और पृथ्वी विषे

मोह कर रहितहैं तैसे वह सत्पुरुष पृथ्वीस्थित जीवन को हित विषे लगाय पोषे हैं और उन जीवन विषे मोह कर रहित हैं फिर कैसे हैं समुद्रवत् रत्नों के निधि हैं। और नहीं है धन की वाञ्छा जिन के ऐसे हैं जैसे समुद्र मोती आदि रत्नन की खान है। और धन की वाञ्छा कर रहित हैं तैसे वह सत्पुरुष सम्यग्दर्शन रूपी रत्नों की खान हैं। और धनादिक की वाञ्छा कर रहित हैं। फिर कैसे हैं आकाशवत् किसी से उन का स्पर्श (सम्बन्ध) नहीं है और विभुता जो परममहत्व उसकर सर्व जगत् की विश्रान्ति (विश्राम) के अर्थ होरहे हैं। जैसे आकाश किसी पदार्थ कर लिप्त नहीं है। और बड़े पने कर सर्व जगत् के रहने का स्थान है। तैसे सत्पुरुष किसी परिभाव कर लिप्त नहीं हैं। और महंतपना कर सर्व जगत् का दुःख दूर करने का ठिकाना हैं। ऐसे कितने एक सत्पुरुष अब भी पाइये हैं।

भावार्थ–जिस काल विषे इस ग्रन्थ की रचना भई है उस काल विषे यथार्थ मुनि धर्म्म के धारक थोड़े जीव विद्यमान थे और शिथिलाचारी बहुत थे तब किसी ने ऐसी तर्क करी थी कि मुनि धर्म बहुत कठिन है केवल उस के आचरण की चौथे काल विषे वार्ता भई सुनिये हैं। परन्तु कोई आचरण वाला तो दीखता नाहीं उस को कहे हैं। जो अब भी कोई मुनि धर्म का धारक प्रत्यक्ष पाइये है। तू धर्म्म का अभावमान अपने शिथिलाचार को किसलिये पुष्ट करे है। किसी

क्षेत्रकाल विषे यदि धर्मात्मा थोड़े होंय तो धर्मका स्वरूप यथावत् ही मानना योग्यहै। आगे इन संतन कर आचरा जो मार्ग उस से भिन्न जो यह जीव सो संसार की स्थिति को न देखता संता क्या करे है सो कहे हैं :-

छन्दः-पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा विमोहादीहेते
सुखलवमवाप्तुं नृपपदम्। अहो मुग्धो लोको मृतिजनन
दंष्ट्रान्तर्गतो न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यममसुम् ३४

अर्थ-पिता तो पुत्रको और पुत्र पिताको बहुत प्रकार ठग कर सुख का है अंश जिसमे ऐसा जो राज पद उसके पावने को मोह से वांछै हैं,यह बड़ा आश्चर्य है कि मूर्ख जीव जन्म मरण रूपी(यमकी)डाढ़के मध्य मे पड़ाहुवा शरीरको हरते हुये न थकनेवाले इस यमको नहीं अवलोके है॥

भावार्थ---जैसे कोई पशु सिंह की दाढ़ विषे आया हुआ अपने शरीर को चावता जो सिंह उस का तो विचार करै ही नाहीं और क्रीड़ा करने का उपाय करै सो यह बड़ा आश्चर्य है, तैसे जो जन्म मरण रूपी दशा है। सो यह यम की दाढ़ है। उसके बीच गाल विषे प्राप्त

भया जो यह जीव सो अपने आप को हरता जो काल उस का तो विचार करे ही नहीं और राजादिक पद लेने को नाना उपाय करे है। सो यह वड़ा आश्चर्य है। इसलिये ऐसे मूर्खपने को छोड़ यम का चिंतवन राख विषय वांछा करनी योग्य नहीं है। आगे विषयन विषे मोहित जो जीव उस के जो पुत्र का मरना आदिक अकार्य की प्रवृत्ति होय है। उस विषे क्या कारण है सो कहे हैं ॥

छन्दः—अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥ ३५ ॥

अर्थ—विषयन कर अन्धा किया गया है सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र जिस का ऐसा जो यह जीव सो अन्ध से भी महान् अन्ध है यहां हेतु कहे हैं। कि अन्ध है सो तो नेत्र ही कर नहीं देखे है। और विषय कषाय कर जो अंध है सो किसी कर भी नहीं जाने है ॥

भावार्थ—अन्ध पुरुष को तो नेत्र ही कर नहीं सूझे है। मन कर विचारना कान कर सुनना इत्यादि ज्ञान तो उस के पाइये है। और जो विषय वासना कर अन्धा भया है। उसके किसी द्वारा भी ज्ञान न होय सके है, यदि नयन विषे दुःख हो तो नेत्रन कर न दीखे तो मन

कर विचारे भासे, सीख देनेवाला सुनावे इत्यादि ज्ञान होने के कारण वनें परंतु विषय वासना कर ऐसा अन्ध होय है कि किसी को भी गिने नाहीं, इसलिये अन्ध होना निषिद्ध है । तिस से भी विषयन कर अन्ध होना अति निषिद्ध जानना । आगे कहे हैं कि किञ्चित् विषय की वाञ्छा कर उनके अर्थ जो तेरी प्रवृत्ति है । सो यह वाञ्छा तो सब ही प्राणीन के है परन्तु इस वांछा कर किस के मन वाञ्छित पदार्थ की सिद्धि भई । किसी के भी न भई ॥

छन्दः—आशागर्त्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥३६॥

अर्थ—हे प्राणी यह आशा रूपी डूंघा गढ़ा हर एक प्राणी के है जिस में समस्त त्रैलोक्य की विभूति अणु समान सूक्ष्म है । जो त्रैलोक्य की विभूति भी एक प्राणी के आजाय तो भी तृष्णा न मिटै सो किस किस के कितना कितना क्या क्या आवे इसलिये हे जीवो तुम्हारी विषय की वाञ्छा वृथा है ॥

भावार्थ—त्रैलोक्य विषे विभूति तो अल्प है और हर एक जीव के आशा रूपी गढ़ा अगाध है जिस विषे त्रैलोक्य की विभूति अणु समान है सो वह किस किस के हिस्से में आवे ।

और यह आशा रूपी गढ़ा कैसे पूर्ण होय इसलिये तुम्हारी विषय की अभिलाषा वृथा है याही तें मुनि विषय सुख को छोड़ कर महा पुण्य के उपार्ज्जने के निमित्त प्रवर्त्ते हैं। क्योंकि विषय सुख में प्रवर्त्त कर भव भव विषे नवें नवें शरीर धारने पड़े हैं इसलिये वह आत्म कल्याण विषे प्रवीण हैं। और विचार कर आत्मकार्य्य मे प्रवर्त्ते हैं। जो समस्त प्रभाव है सो पुण्य का फल है। सोई दिखावे हैं॥

छन्द—आयुः श्री(व)र्वपुरादिकं यदि भवेत् पुण्यं पुरोपार्जितं
स्यात्सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि।
इत्यार्य्याः सुविचार्य्य कार्य्यकुशलाः कार्य्येऽच मन्दोद्यमाः
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्ततेतराम्॥३७॥

अर्थ—इस जीव कै सुर मनुष्यादिक विषे जो दीर्घायु, लक्ष्मी, सुन्दर काय इत्यादिक होय हैं, सो सर्व पूर्व जन्म में उपार्जन किये पुण्य कर होय हैं अर्थात् जिसने पुण्य उपार्ज्जन किया होय उसकै यह सर्व होय हैं और जो पुण्य न उपार्ज्जन किया होय तो अनेक उद्यम

और खेद करै तौभी सर्वथा कुछ न होय है इसलिये कार्य्य विषे प्रवीण उत्तम पुरुष यह विचार कर इस भव के तो कार्य्यं विषे मन्द उद्यमी होय हैं। और शीघ्र ही आगामि भव के अर्थ प्रीति से निरन्तर अत्यन्त यत्न करे हैं॥

भावार्थ—पूर्व भव विषे जिसने दया, दान, तप आदिक कर विशेष पुण्य उपार्ज्जन किया होय उस कौ दीर्घ आयु सुन्दर काय विभूत्यादिक होय हैं। और जिसने पुण्य उपार्ज्जन न किया होय सो यदि अधिक भी उद्यम करै और अति खेद खिन्न होय तौ भी कुछ न होय है। इसलिये ऐसा विचार विवेकी पुरुष इस भव के कार्य्य विषे तौ मन्द उद्यमी हैं। और शीघ्र ही परभव के सुधारने के अर्थ अति प्रीति कर विशेष यत्न करे हैं। आगे कोई प्रश्न करे है कि पूर्व पुण्य के प्रसाद से आय प्राप्त भये जो इस भव के सुख के साधक विषय सुख उन विषे क्यों मन्द उद्यमी होय। —:(तिस का समाधान):—

छन्दः—कः स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना
यानन्वेष्टुमिव त्वयाश्रुचिक्लतं येनाभिमानामृतम्।

आज्ञातं करणैर्मनः प्रणिधिभिः पित्तज्वराविष्टवत्
कष्टं रागरसैः सुधीस्त्वमपि सन् व्यत्यासितास्वादनः॥३८

अर्थ—कड़वे विष के तुल्य जो विषय तिन में क्या स्वाद है। तृष्णा कर अत्यन्त दुःखी जो तू इन विषयन को ढूण्डने के लिये तैं अपना महत्व रूपी अमृत मलीन किया और मनके दूत जो इन्द्रिय तिनका आज्ञाकारी होय कर विषयन विषे प्रवर्त्ता जैसे पित्तज्वर युक्त जो प्राणी तिस को वस्तुओं का स्वाद विपरीत भासे, तैसे तू यद्यपि सुबुद्धि है तो भी विषयाभिलाषी होकर राग रस से विपरीतस्वादी भया ॥

भावार्थ—जैसे पित्तज्वर वाले को वस्तुओं का स्वाद विपरीत भासे। तैसे तू राग द्वार कर विपरीतस्वादी भया। कड़वे विष समान इन विषयन विषे कहां स्वाद है परन्तु तुझे स्वादसा भासा। और इन ही को मनोज्ञ जान कर ढूंढता हुआ विषयाभिलाष कर महादुःखी जो तू सो अपना महत्त्व रूपी अमृत अशुचि करता भया। क्यों कि जो विषयाभिलाषी होय है, उस की महन्तता सर्वथा न रहे है। आगे कहे हैं कि किसी ही वस्तु से नहीं निवृत्त हुआ चित्त

जिस का ऐसा विषयासक्त जो तू सो तेरे भक्षण की असमर्थता से जो कुछ वचा सो वचा वास्तव से (दरहकीकत) तो तू सर्वभक्षी भया ॥

छन्दः—अनिर्वृत्ते जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि यत्।
तत्तस्याशक्तितो भोक्तुं वितनोर्भानुसोमवत् ॥३९॥

अर्थ—सन्तोष से रहित जो तू सो सर्व जगत् की माया के अङ्गीकार करने की है अभिलाषा जिस के सो तिस भाव से तो तैने कुछ भी न छोड़ा। और तेरे मुख से जो कुछ वचा सो भोजन की अशक्ति से वचा है जैसें राहु रवि शशी को निगलता सो निगल न सका इस लिये वह वचे ॥

भावार्थ—यह जीव ऐसा विषयासक्त और तृष्णातुर है कि जो सर्व जगत् की विभूति और त्रैलोक्य के विषयादिक प्राप्त होयें तौभी तृष्णा न मिटै है परन्तु जो कुछ वचा सो भोग भोगने की असमर्थता से वचा है जैसे राहु, रवि शशी को भक्षण न कर सका इसलिये वह वचे हैं। आगे कहे हैं कि दैवयोग से करुणा रूप भया है चित्त जिस का और मोह लक्ष्मी की

अभिलाषा कर हिंसा की निवृत्ति की इच्छे है ऐसा जो तू सो तुझे बाल्यावस्था से ही सर्वथा परिग्रह का त्याग करना योग्य है ऐसा दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—साम्राजं कथमप्यवाप्य सुचिरात् संसारसारं पुन
स्तत्त्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वताम्॥
त्वं प्रागेव परिग्रहान्परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते
माभूर्भौतिकमोदकव्यतिकरं संपाद्य हास्यास्पदम् ॥४०॥

अर्थ—हे भव्य जो पूर्व बडे२ राजा भये हैं उन में से कोई२ पुण्य के उदय से संसार विषे सार ऐसा जो चक्रवर्त्ती पद का राज्य उस को चिरकाल भोग कर पीछे तज कर ही शाश्वती जो निर्वाण विभूति उस को प्राप्त हुए हैं सो निर्वाण का कारण परिग्रह का त्याग ही है। इसलिये तू पहिले ही परिग्रह का त्याग कर कुमार अवस्था विषे ही मुनि पद को धार बाल ब्रह्मचर्य्य के समान और सुख नहीं है यह परिग्रह त्यागने योग्य ही है। जिन्हों ने चक्रवर्त्ती पद भोगा उन्हों ने भी जब छोड़ा तब मुक्त भये। इसलिये जो राज्य और व्यवहार को न करै

उसके समान और उत्कृष्ट नाहीं है और तेरे ऐसी अभिलाषा है कि इन परिग्रहों को ग्रहण कर तजूं सो ऐसी इच्छा कर तू भेषधारी के लाडू कैसी कहावत कराय लोक में हांसी मत करावे ॥

भावार्थ—एक भौतिक भेषधारी भिक्षा को भ्रमता था उस के पात्र विषे किसी ने लाडू डाला सो लेकर जाय रहा था मार्ग में पग उखड़ा सो लाडू पात्र में से मलीन जगा पर जाय पड़ा तब उस ने लाडू उठाय पात्र में डाल लिया। तब किसी ने कहा तू ने बुरा किया है ऐसी जगा का पड़ा हुआ लाडू न लेना था तब वह कहता भया तू चुप होय रहो मैं यह लाडू न भक्षण करूंगा परन्तु आश्रम विषे धोय कर डाल दूंगा तब लोगों ने बहुत हांसी करी। और कहा तू लाडू न खावे और धोय कर डालदे तो मलीन जगह का उठाया पात्र में क्यों डाला पड़ा ही रहने दिया होता। सो जैसे लाडू को उठाने कर भौतिक की हांसी भई। तैसे तू कहे है कि मैं परिग्रह सम्पदा को भोग कर पीछे तजूंगा। सो यह मायामलीन जगह पर पड़े हुए लाडू के समान है। तुझे अङ्गीकार करना योग्य नाहीं है त्याग तो करना ही है फिर ग्रहण किस लिये करे है, जिन चक्रवर्त्यादिक राजाओं ने राजसंपदा भोगी उन्हों ने भी जब तजी तब मुक्त भये हैं इस लिये तू कुमार अवस्था ही से तज ता के तू उन से भी उत्कृष्ट होजाय। जैसे किसी पुरुष के कीचड़ लगा था सो धोय कर उज्ज्वल भया और जो कीचड़ लावे ही नहीं सो सर्वा-

त्कृष्ट है। और कीचड़ लगाय कर धोया चाहे सो हांसी का स्थान होय है। आगे कहे हैं कि शाश्वती जो निर्वाण विभूति उस के साधक निर्ग्रन्थ मुनि ही हैं। गृहस्थ अवस्था विषे निर्वाण का साधन न कर सके है ऐसा दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—सर्वं धर्म्ममयं क्वचित् क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
क्वाप्येतद्द्वयवत् करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि॥
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथ वा
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥४१॥

अर्थ–यह जो गृहस्थाश्रम है सो सर्वथा इस जीव को कल्याण कर्ता नाहीं है जैसे मतवाला आदमी अनेक उन्मत्त चेष्टा करे है तैसे गृहस्थी बुद्धिमान् जीव अनेक चारित्र करे हैं कभी सामायिक पडिकमना पोसह संयुक्त उपवासादिक कर जीव को केवल धर्म्ममय करें हैं। और कभी स्त्री सेवनादिक कर पापमय करे हैं। और कभी पूजा प्रभावना या चैत्य

चैत्यालय का बनवाना इत्यादिक कार्य्यों कर पुण्य पाप दोऊ मयी करें हैं। इसलिये यह गृहस्थ आश्रम अन्धे की जेवड़ी वटना समान है। अथवा गजस्नानवत् है। वावले कीसी चेष्टा है ॥

भावार्थ—यह गृहस्थाश्रम जीव को हितकारी नाहीं है उन्मत्त पुरुष कैसी चेष्टा है कभी तो सर्वथा दयारूप सामायिक पोसह तिन कर धर्म्म ही उपार्जे है। और कभी पूजा प्रतिष्ठा यात्रा चैत्यालय बनवाना इत्यादिक कार्य्यों कर विशेषपुण्य और अल्पपाप उपार्जे है। इसलिये यह गृहस्थाश्रम तजने योग्य है कल्याणकारी नाहीं। जैसे अन्धा जेवड़ी वटे है सो उखड़ती चली जाय है और हाथी स्नान कर सिर पर धूल डाले है इसलिये यह उन्मत्त चेष्टा है। आगे कहे हैं कि शाश्वती जो मोक्ष सम्पदा उस का जो साधक होय सो उपकारी कहिये है यह गृहस्थाश्रम शिवसम्पदा का साधक नहीं है इसलिये इस विषे जीव का हित नहीं है यह गृहस्थावस्था और इस विषे असि कहिये खड्गवृत्ति और मसी कहिये स्याही उसकर लिखनवृत्ति और कृषि कहिये खेती और वाणिज्य कहिये व्यापार सो सब ही दुःख के साधक हैं। इन में कोई भी सुख का साधक नहीं है ऐसा दृढ़ कराने को सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—कृष्ट्वोर्वीं नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेम्भोनिधौ
किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः।
तैलं त्वं सिकतास्वयं मृगयसे वांछसि विषा (षेण) जीवितुं
न त्वाशाग्रहनिग्रहात् तव सुखं न ज्ञातमेतत्त्वया॥ ४२॥

अर्थ—हे जीव तू इस गृहस्थाश्रम विषे सुख के कारण क्यों क्लेश करे है। इस में सुख नहीं है तू हल से खेती जोत कर बीज बोवे है और खड्ग को धारण कर राजाओं को सेवे है और लेखन वृत्तिकर उद्यम करे है और वाणिज्यवृत्ति कर वन और समुद्र विषे बहुत भटके है। और कुज्ञान से चिरकाल पर्यंत यह कष्ट करे है सो हाय २ तू बालू रेत विषे तेल ढूंडे है और विष से जीया चाहे है अहो प्राणी आशा रूप जो ग्रह (भूत) है इस के निग्रह (वशकरने) से ही तुझे सुख है, तृष्णा कर सुख नहीं यह तूने न जाना है, इसलिये अजानपना से परिश्रम करे है॥

भावार्थ—गृहस्थाश्रम विषे असि, मसि, कृषि वाणिज्य यही उपाय हैं सो सब दुःखदाई हैं इन में सुख नहीं है खेती का तो प्रगट खेद नज़र ही आवे है। सदा क्लेश कुग्राम वास क्रिया

की हीनता मानभंग, स्वचक्र आदि सप्त ईति भीति का भयरहे है। और खड्गधारी आजीवका के निमित्त नृपन की सेवा करे है सो नृपन की सेवा महाकष्ट देने वाली है और आजीवका के अर्थ जीव भी दे है। और व्यापारी व्यापार के अर्थ समुद्र विषे जहाज मे बैठ कर जाय है। सो कभी जहाज डूब भी जाय है अथवा महागंभीर वन में भटकै है। इन के दुःख कहां तक कहैं नाना प्रकार की हानि वृद्धि कर सदा व्याकुलही रहे है और लिखने वाला लिखता२ भी खेद खिन्न होय है अल्प प्रयोजन के अर्थ सदा पराधीन ही रहे है इसलिये इन उपायन में जो तू सुख चाहे है, सो रेत में तेल को ढूंडे है अथवा विष खायकर जीया चाहे है सो इस विपरीत बुद्धि को छोड़ दे यह आशा रूपी खोटा ग्रह तेरे अनादि से लगा है इस से तूने कभी भी सुख नहीं पाया है और इस के निग्रह से जो सुख है सो तैने अब तक न जाना है इसलिये संसार में भ्रमण कर रहा है। आगे कहे हैं कि सुख का उपाय संतोष ही है जगह जगह ग्रन्थोंमें आशा का निग्रह ही उपदेशा है सो इस को न जानकर यह प्राणी विपरीत चेष्टा करे है।

छन्द:-आशाहुताशनग्रस्तवस्त्वर्थी (स्तूच्चै:) वंशजां जना:।
हा किलैति(त्य) सुखच्छायां दुःखधर्म्मापनोद(दि)न: ॥४२

अर्थ--आशारूपी अग्नि कर जले हुये संसार की वस्तुओं विषे मन भटकावे है सो वृथा है वह वस्तु भी विनश्वर और मन की वृत्ति भी विनश्वर है। इन में सुख नहीं सुख के अर्थ भोग का सेवन वृथा है। हाय २ मूढ़ जीव दुःख के कारण को सुख माने है। जैसे कोई जन आताप के निवारने के लिये वांस की छाया में बैठे है सो वृथा है।

भावार्थ--जैसे वांस की छाया आताप के दूर करने वाली नहीं तैसे संसार की माया सुखकारी नहीं है,परन्तु विवेक विना आशारूप अग्निकर जले हुए जीव सुखके अर्थ कनक कामिनी आदि वस्तुन के अभिलाषी होय हैं। सो तिन में सुख नहीं है। जैसे कोई आताप के निवारणे के अर्थ वांसकी छाया में बैठे उस का आताप दूर न होय "उलटा" वांस आपस में घसि कर जल उठैं तौ बैठने वाला भस्म होजाय, इस लिये यह महाविघ्नकारी है। इसीतरह विषयन का सेवन हाराइस भव में तो तृष्णा कर व्याकुल भया महा खेद खिन्न होय है। और परभव में नरकनिगोद को प्राप्त होय है यह विषय किसी प्रकार भी सुखकारी नहीं हैं इसलिये इन विषयन का सेवन बांस की छाया समान वृथा है। ग्रहण करने योग्य नहीं है तजने योग्य है। आगे कहे हैं कि दैवयोग से किसी के तुच्छ मात्र सुख प्राप्त भया सो भी स्थिर नहीं है सो यह बात दृष्टान्त कर दृढ़ करे हैं॥

छन्दः—खातेऽभ्यासजलाशयाजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा
भूयोभेदि रसातलावधितनः कृच्छ्रात्सुतुच्छं किल ।
क्षारं वार्युदगात्तदप्युपहृतं पूतिक्रमिश्रेणिभिः
शुष्कं तच्च पिपासतोऽस्य सहसा कष्टं विधेश्चेष्टितम् ॥ ४४

अर्थ—कोई पुरुष जल की आशा कर गढ़ा खोदने का अभ्यास करता भया सो खोदते २ सिला निकसी तब वह खोदने वाला आरम्भ के सिद्ध करने को फिर पाताल पर्य्यन्त खोदता भया सो बड़े कष्ट से तुच्छ जल निकासा। सो भी खारी और दुर्गन्ध क्रमन की पंक्ति कर संयुक्त सो भी तत्काल सूक गया। इसलिये यह उद्यम कैसे करे उदय की चेष्टा कष्टकारी है ॥

भावार्थ—निश्चय से तो इस तृषातुर की तृषा पूर्ण न होय है क्योंकि उदयगति बलवान् है, कोई जाने मैं उपाय कर अर्थ सिद्ध करूं। सो पुण्य के उदय विना उपाय किये भी सिद्धि न होय है, सो कथन दृष्टांत कर दृढ़ करें हैं। किसी तृषातुर पुरुष ने जल की आशा कर पृथ्वी

खोदने का अभ्यास किया, सो खोदते खोदते शिला निकसी तब खेद खिन्न होय अति गहरा पाताल पर्यन्त खोदा सो तहां रंचमात्र जल निकस्या सो भी खारा दुर्गंध लटनि कर भरिया हुआ सो भी तत्काल सूक गया। इस लिये इसका किया क्या होय है उदय की चेष्टा बलवान् है। आगे कोउ कहे कि मैं न्याय वृत्तिकर अर्थ का उपार्जन करूं। और सम्पदा की वृद्धि कर सुख भोगूं जो ऐसी बात कहे उस को समझावें हैं :—

छन्दः—शुद्धैर्धनैर्विवर्द्धन्ते सतामपि न संपदः।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥ ४५॥

अर्थ—अहो प्राणी न्याय के आचरण कर उपार्जा जो धन उसकर उत्तम पुरुषों के भी सुख संपदा नहीं बढ़े है। जैसे निर्म्मल जल कर कदाचित् समुद्र नहीं पूर्ण होय है।

भावार्थ—अयोग्य आचरण तो सर्वथा त्याज्य ही है और योग्य आचरण कर उपार्जा जो धन उसकर भी सम्पदा की वृद्धि न होय है। जैसे कदाचित् भी निर्म्मल जल कर समुद्र पूर्ण नहीं होय है। इसलिये न्यायोपार्जित धन की भी तृष्णा तज कर सर्वथा निःपरिग्रही हो। आगे कहे हैं। कोई ऐसा माने है कि जो कुछ सम्पदा की वृद्धि होय सो होय। परन्तु ...

गृहस्थपना धर्म्म, सुख, ज्ञान और सुगति इनका साधन है । सो इस भान्ति जो माने उस को समझाते हैं :-

छन्दः—स धर्म्मो यत्र नाधर्म्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥ ४६ ॥

अर्थ–धर्म्म सोई है जिस विषे अधर्म्म नहीं है। और सुख सोई है जिस विषे दुःख नहीं है। और ज्ञान सोई है जिस विषे अज्ञान नहीं है। और गति सोई है, जहां से फिर पाछे आवना न होय है ॥

भावार्थ—जहां लेश मात्र भी हिंसादिक पाप है वहां धर्म्म नहीं है। और जहां संक्लेश रूप दुःख है वहां सुख नहीं है। और जहां सन्देह रूप अज्ञान है वहां ज्ञान नहीं है। और जहां जाय कर फिर पीछे आइये (जन्म मरण होय) है सो वह गति नहीं है । आगे कोई आशंका करे कि ऐसे अविनाशी सुखादिक तो कष्टसाध्य हैं । और यह धन का उपार्जन सुख साध्य है । इसलिये इस ही विषे प्रवृत्ति करिये सो ऐसी आशंका करन हारे को समझावे हैं :-

छन्दः—वार्त्तादिभिर्विषयलोलविचारशून्यः
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम्।
तच्चेष्टितं यदि सकृत्परलोकबुद्ध्या
न प्राप्यते ननु पुनर्ज्जननादिदुःखम् ॥४७॥

अर्थ—हे विषय के लालची तू विचार रहित जो असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, इत्यादि उद्यम कर इस लोक विषे जो धन के उपार्जन के अर्थं बारंवार क्लेश करेहै सो ऐसा उपाय यदि एक वार भी परलोक के अर्थ करे तो फिर जन्म मरण का दुःख न पावै। इसलिये तू धन का साधन छोड़ धर्म्म का साधन कर॥

भावार्थ—जो विषय के लोलपी हैं, और जिन में विचार नाहीं वे खेती आदि अनेक उपायों कर धन के अर्थं वारम्वार उद्यम करे हैं, सो श्रीगुरु दयालु होय भव्य जीवन को उपदेश दे हैं। हे भव्य जैसा तू धन के अर्थं वारम्वार क्लेश करे है। तैसा यदि एक वार भी परलोक

के अर्थ उद्यम करे तो फिर जन्म मरण आदि के दुःख न पावे भवसागर से तरे। आगे परलोक के उपाय विषे दृढ़ता उपजावने के अर्थ वाह्य पदार्थन विषे राग द्वेष छुड़ावें हैं :-

छन्दः—संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्मको
वाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः।
अन्तः शान्तिमुपैहि यावदद्याप्राप्तान्तकप्रस्फुरज्-
ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ४९

अर्थ—हे जीव तू यथार्थ वस्तु को नाहीं जाने है। यह इष्ट है यह अनिष्ट है ऐसी कल्पना कर वाह्य वस्तुओं विषे वारम्वार आसक्त होय कर क्यों वृथा काल गमावे है अन्तःकरण विषे शान्त दशा को प्राप्त हो। जब तक प्राप्त हुवे निर्दयी काल की देदीप्यमान ज्वाला कर भयानक जो उदराग्नि उस के मुख विषे तू भस्म न होय उस के पहिले ही राग द्वेष का त्याग कर परम शान्ति दशा को प्राप्त हो॥

भावार्थ—जे यथावत् वस्तु का स्वरूप नाहीं जानते हैं वह धन श्री राज्यादिक को भला जाने हैं। और दुख दारिद्र रोगादिक को बुरा जाने हैं। ऐसे इष्ट और अनिष्ट की कल्पना कर बाह्य वस्तुवों विषे आसक्त होय वृथा काल गमावे हैं। सो श्रीगुरु भव्य जीवन को उपदेश दे हैं। अहो भव्य तुम इस इष्ट अनिष्ट कल्पना को तजो। बाह्य वस्तुओं विषे बारम्बार आसक्त होय क्यों वृथा काल गमावो हो। जब तक तुम काल की भयानक उदर अग्नि विषे भस्म न हो जावो उसके पहिले ही राग द्वेष को तजो अन्तःकरण विषे शान्ति दशा को प्राप्त होवो। यह इष्ट अनिष्ट कल्पना मिथ्या है। आगे कहे हैं कि यह आशा रूपी नदी तुझे वहाय कर भवसमुद्र विषे डाले है। इसलिये इसके तिरने का उपाय कर ऐसा दिखावे हैं :—

छन्द:—आयातोस्यतिदूरतोऽङ्ग परवानाशासरित्प्रेरित:
किन्नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षम:।
स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद्दुरन्तान्तक-
ग्राहव्याप्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवे: ॥४९॥

अर्थ–हेमित्र तू परवस्तु का अभिलाषी हुआ २ आशारूपी नदी कर बहाया हुआ अनादिकाल से अत्यन्त जन्म धरता अति दूर से आया है तू क्या न जाने है। यह आशानदी और किसी उपाय कर न तरी जाय है इस आशानदी को आत्मज्ञान कर तू ही तरने को समर्थ है। इसलिये अब स्वाधीनता को ग्रहण कर इस आशानदी के किनारे को शीघ्र ही प्राप्त हो नहीं तो आशानदी कर बहाया हुआ भवसागर के मध्य में डूबगा कैसा है वह भवसागर दुःख दायक है अन्त जिस का ऐसा जो कालरूप ग्राह (नाकू) उसने फाड़ा जो गम्भीर मुख उस कर अति भयानक है।

भावार्थ–भोग तृष्णा रूप जो आशानदी उस में तू अनादिकाल से वहा चला जाय है सो इस के तरने को आत्मज्ञान कर तू ही समर्थ है। और उपाय नहीं है क्योंकि ज्ञान ही से आशा मिटे है इसलिये अब पराधीनता को छोड़ शीघ्रही स्वतन्त्र होय कर आशानदी के पार जा नहीं तो संसार रूपी समुद्र के मध्य में डूब जावेगा इस संसार सागर विषे कालरूप ग्राह (नाकू) अतिप्रबल है। सदा मुख फाड़े ही रहे है उसका गम्भीर मुख अति विषम है जगत् को निगले है सो तू उसकाल रूपी ग्राह से बचा हुआ भवसागर के मध्य पड़ा है इसलिये आशारूपी नदी के पार जा। आगे कहे हैं कि विषय की वांच्छा कर व्याकुल जो तू सो अयोग्य ही को भोगे है।

छन्दः—आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद्भूयोप्यविकुत्सयन्नभिलषस्यप्राप्तिपूर्वं यथा ।
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान्यावद्दुराशामिमा-
मंहः संहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥ ५० ॥

अर्थ—इस संसार विषे विषयी जीवों ने जो कौतूहल से भोग कर पदार्थ छोड़े हैं उन को फिर अभिलाषा करे हैं। सो तू ऐसा रागी भया कि मानों तूने जैसे यह भोग पहिले कभी न पाये थे, सो यह तो तूने अनन्तवार भोगे हैं और अनन्त जीवन कर अनन्तवार भोगे गये हैं सो तुझे इन की सूध (खबर) न आवे है सो यह पराई उच्छिष्ट (जूठ) तथा अपनी उच्छिष्ट को ग्रहण करना है। इन विषयन कर तेरे तथा और जीवन के कहां शांति है कभी नहीं है। जब तक यह निकृष्ट आशाअपराध के समूह रूप प्रबल वैरियों की सैना उस की जो वैजयन्ती कहिये जीतध्वजा उस के समान जो आशा उसको तू न हरे तब तक तेरे शान्ति नहीं है।

भावार्थ—शान्ति का मूल आशा का परित्याग है। जब तक अपराध रूप वैरी की ध्वजा समान जो यह आशा उस को तू न हरे तब तक शान्ति कैसे होय। और ये भोग वस्तु विषयी जीवों ने भोग भोगकर छोड़ी हैं और तूने भी अनन्तवार सेवन कर (२) छोड़ी है सो इनके सेवते तुझे घृणा न आवे है तू तो ऐसा रागी भया सेवे है जैसे जानिये कि तूने पूर्व न पाई थी यह जगत् की माया जगत् की जूठ और तेरी भी जूठी इस का सेवन क्यों करे है यह तुझे उचित नहीं है। आगे कहे हैं कि तू उस आशा को न तजता संता और क्या किया चाहे है।

छन्द:—भुक्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं
संमृत्वापि समस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघांसुर्मुधा ।
यद्यत्साधु विगर्हितं हतमिति तस्यैव धिग् (क्) कामुकः
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥ ५१ ॥

अर्थ—कालेनाग समान प्राणों के हरनहारे यह जो भोग हैं इनके भोगनेकी है अत्यन्त अभिलाषा जिस के ऐसा जो तू सो होनहार और होचुके भवों को विगाड़ कर अखण्डित मृत्यु से मरकर

सब सुख वृथा घात करता भया सो कैसा है तू आप अविवेकी है और परलोक के भय से रहित निर्दय कठोर परनामी है। सो जो साधुन कर निंदित वस्तु उस ही का अभिलाषी भया है। सो धिक्कार है उन कामी पुरुषों को जिन का मन काम क्रोध रूपी महाग्राह नाकूवों के वश है। सो प्राणी क्या २ न करे हैं सब ही कुकर्म्म करे हैं॥

भावार्थ–कालेनाग के समान विषके भरे जो यह भोग हैं इनमें तूने अति अभिलाषा कर कुगति का बंध किया है, परलोक का भय और जीवन की दया न करी है, सो वृथा ही अपने सर्व सुख का घात किया है धिक्कार हो इसतेरी बुद्धि को जो २ वस्तु साधुओं ने निन्दी उनहीं का अभिलाषी भया है काम क्रोध रूपी जो महाभयङ्कर ग्राह (नाकू) हैं इनके वशीभूत होय तू क्या २ अनर्थ न करे है जीवहिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, बहु आरम्भ धन की तृष्णा इत्यादि अनेक पाप करे है अनर्थ के मूल यह विषय कषाय ही हैं। आगे कहें हैं कि जगत् की स्थिति क्षणभंगुर है सो जो उसको न देखे है उसकी ही भोगन विषे वांच्छा होय है॥

छन्द:–प्रवो यस्याऽजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते
स्थैर्यं नाम न कस्य चिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्।

भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसितरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥५२॥

अर्थ–हे भ्रातः भ्रान्ति को तज कर क्या तू आंखों के साम्हने प्रत्यक्ष न देखे है कि यह जगत् कालरूपी पवन कर निर्मूल करिये है। किसी की नाममात्र भी स्थिरता नहीं है। जिस दिन की प्रभात होय है वह ही दिन अस्त को प्राप्त होय है। इस संसार का स्वभाव ही क्षणभंगुर है, जो पर्य्याय को धरे है सो नाश को प्राप्त होय है। इसलिये तू किस कारण इस जगत् विषे वारम्वार आशा बांध भ्रमे है।

भावार्थ–इस संसार का चरित्र क्षणभङ्गुर है जो पर्य्याय धरे सो अवश्य ही नाश को प्राप्त होय है, जैसे दिन के आरम्भ विषे प्रभात होय है फिर वही दिन सन्ध्यासमय अस्त होय है, यह जगत् कालरूप प्रचण्ड पवन कर चञ्चल है बाल वृद्ध आदि सब ही इस को जाने हैं तुझे क्यों न सूझे है तू इस असार संसार विषे आशावान् होय किसलिये भ्रमण करे है। भ्रान्ति को तज कर वस्तु के यथार्थस्वरूप को क्यों न जाने है। विनश्वर वस्तु विषे

क्यों वाञ्छा करे है। आगे कहे हैं कि इस प्रकार जगत् के स्वरूप को क्षणभङ्गुर न विचारता जो तू सो तू ने चतुर्गति संसार विषे अनेक प्रकार के दुःख भोगे हैं :—

छन्दः—संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेप्युद्वेगकारीण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम्।
तत्तावत्स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधैः
वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवत् यत् प्राप्तवान्निर्द्धनः॥५३

अर्थ—हे जीव तूने इस संसार विषे नरकादिक कुयोनियों में अत्यन्त दुःख भोगे हैं। जिन के स्मरण किये व्याकुलता उपजे है सो उन दुःखन की वात तो दूर ही रहो। इस नरभव ही विषे निर्धन जो तू सो नाना प्रकार के भोगों का अभिलाषी हुआ काम कर पूर्ण जे स्त्री तिन का मन्द २ हास्य और तिन के तीक्ष्ण कटाक्ष और काम के वाण तिन कर वेधा हुआ वरफ से जले हुये वृक्ष कैसी दशा को प्राप्त भया है सो इसही दुःख को चितार॥

भावार्थ—अनादि काल का अविवेकी (अज्ञानी) जो तू है सो क्षणभङ्गुर जगत् की माया के साथ अनुराग कर संसार विषे नरक निगोदादि में अनेक दुःखों के भोगने वाला भया है, सो जिन का चितवन ही किये अत्यन्त क्लेश उपजे उन दुःखन की बात तो दूर ही रहो यह नरभव अतिदुर्लभ पाया है इस में भी तृष्णा कर सुख का लेश न पाया है काम के तीक्ष्ण बाणों कर और मदोन्मत्त स्त्रियों की जो कटाक्ष तिन कर वेधा हुआ बरफ से जलाये हुये वृक्ष कैसी दशा को प्राप्त भया है सो यह चितार जगत् की वाञ्छा से निवृत्त हो। जगत् की वाञ्छा मृगतृष्णावत् है। जैसे कोई मृग वन विषे तृषातुर होय सूकीरेत को जल जान दौड़ा सो वहां जल को न देख अतिखेद को प्राप्त भया। तैसे विषयतृष्णा कर पीड़ित तू कनक कामिनी आदि वस्तुओं को सुख के कारण जान वृथा उन का अभिलाषी भया है। वहां लेशमात्र भी सुख न पाया क्योंकि वह पर पदार्थ दुःख ही के कारण हैं। किसी को तो कुछ न मिले है इसलिये खेदखिन्न रहे है। और कदाचित् किसी को कुछ मिले भी तो मनवाञ्छित न मिले है इस कारण से व्याकुल रहे है। और कदाचित् किसी को मन की चाही वस्तु मिल भी जाय तो स्थिर नहीं रहे है इसलिये सदा तृषातुर ही रहे है। और यह पांचों ही इन्द्रिय जीवन को दुःखदाई हैं। जिन्होंने अतिअनुराग कर एक एक

ही इन्द्रिय का विषय सेवन किया वह भी तृप्त न भये, क्लेश और नाश को ही प्राप्त भये हैं देखो हाथी तो स्पर्श इन्द्रिय के अनुराग कर कागज़ की हथनी को साक्षात् हथनी जान कर उस के निकट आया सो गढ़े में गिर पराधीन होय नाना दुःख भोगता भया। और रसना इन्द्रिय की अभिलाषा कर मीन धीवर के जाल में पड़ा सो प्राणों ही से गया, और नासिका इन्द्रिय के वश होय भ्रमर कमल की वासना से तृप्त न भया सो कमल सूर्यास्त समय में मुद्रित भया जिस में यह रुक कर मरण को प्राप्त भया। और नेत्र इन्द्रिय के विषय में आसक्त होय पतङ्ग दीपक की शिखा को मनोज्ञ जान उस में गिरा सो भस्म हो गया। और कर्ण इन्द्रिय की चाह से हिरण गीत का अनुरागी होय शिकारी के वाण से प्राणों को तजता भया। इस भान्ति ये एक एक इन्द्रिय के विषय सेवन से इस दशा को प्राप्त भये। सो जो पांचों ही इन्द्रियन के विषय सेवे हैं वह भव भव में दुःख पावे हैं, इसलिये तू विषयों की अभिलाषा तज सुख का कारण जो वीतरागभाव उसको अंगीकार कर। आगे कहे हैं, कि संसार विषे परिभ्रमण करता जो तू सो ऐसे कुचारित्रों को अपने आप में प्रत्यक्ष देखता भी वैराग्य को क्यों न प्राप्त होय है॥

छन्दः—उत्पन्नोस्यतिदोषधातुमलवद्देहोसि कोपादिवान्
साधिव्याधिरसि प्रहीनचरितोस्यस्यात्मनोवञ्चकः ।
मृत्युव्यात्तमुखान्तरोसि जरसा ग्रस्तोसि जन्मिन् वृथा
किंमत्तोस्यसि किं हितारिरहिते किं वासि बद्धस्पृहः ॥५४॥

अर्थ—हे अनन्त जन्मों के धारण हारे अज्ञानी जीव तू इस संसार विषे अनेक योनियों में उपजा और तुम्हारा शरीर महादोष रूप धातु और मल वाला है और तू क्रोधादि युक्त है और मानसिक और शारीरक दुःखों कर पीड़ित है और हीनाचारी है अर्थात् अभक्ष्य वस्तुओं के भक्षण करने से दुराचारी है। अपने आत्मा को ठगन हारा है तू मृत्यु के फाड़े हुये मुख में पड़ा है जराकर ग्रस्त है, वृथा उन्मत्त हो रहा है क्या तू आत्मकल्याण का शत्रु है अथवा अकल्याण की वांछा करे है ॥

भावार्थ—इस संसार विषे शरीर को ग्रहण कर यह जीव जन्म धरे है । संसार का मूल कारण जो कुबुद्धि सो अज्ञानी जीवन के अनादि से ही है । इसलिये इस देह विषे आत्म

बुद्धि कर नये नये शरीर धरे है। सो नारकीन का शरीर तो महादुःख रूप अनेक रोगमय ही है। और देवन का शरीर रोगरहित है, परन्तु मन की चिन्ताकर महादुःख रूप है। और मनुष्य तिर्य्यंचन का शरीर अनेक रोगन का निवास त्रिदोष जो वाय, पित्त कफ और सप्तधातु तन्मय होने से महाअपवित्र है। तिन में मनुष्य का शरीर महा दुराचारी, जीवन का घाती, निर्दय परिणामी, असत्यवादी, परधन का हरनहारा, परदारा का रमणहारा, बहु आरम्भी, परिग्रही, और परविघ्नसंतोषी है, ऐसे देह के साथ क्यों प्रेम करे है। तू क्रोधमान माया के योग से महाअविवेकी भया अपना बुरा करे है। तू आत्मघाती है आप को आप ठगे है अनेक जन्म मरण किये और करने को उद्यमी है। जराकर ग्रस्त है तुझ को परलोक का भय नहीं है सो क्यों उन्मत्त भया है अकल्याण विषे प्रवर्त कर क्यों अपना वैरी होय है। अब श्रीगुरु का उपदेश मान देह से स्नेह तज विषयकषाय से पराङ्मुख होय अनाचार तज आत्मकल्याण कर बन्ध के कारण जो रागादिक परिणाम हैं तिन का अभाव कर यही उचित है। आगे कहे हैं कि आत्मा के हितकारी नाहीं ऐसे जो यह विषय तिन विषे तू अनुरागी तो भया परन्तु वांछित विषय की प्राप्ति बिना केवल क्लेश ही को भोगे है॥

छन्दः—उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्ज्जद्गभस्तिप्रभैः
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णोजनः ।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्द्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥ ५५

अर्थ—अहो यह प्राणी विवेक से पराङ्मुख इन सब इन्द्रियन कर तप्तायमान भया है और वढ़ी है तृष्णा जिस की सो मन वांछित वस्तुन को न पाय कर अनेक पापरूप उपाय कर व्याकुल होय है जैसे जल के समीप विषम जो कीचड़ उसमें फंसा जो बूढ़ा वैल सो कष्ट भोगे है । कैसी है यह इन्द्रिय उग्र जो ग्रीष्म ऋतु उस विषे तीव्र जो सूर्य उस की तप्तायमान जो किरणें तिन समान आतापकारी हैं ॥

भावार्थ—जैसे तृषा के करनहारे ग्रीष्म के सूर्य की प्रज्वलित किरणें हैं तैसी प्रज्वलित इन्द्रियन कर वढ़ी है तृष्णा जिस कै ऐसा जो यह अविवेकी प्राणी सो मन वांछित वस्तुन को न पाय कर व्याकुल होय है । जैसे बूढ़ा दुर्बल वैल तृषातुर होय जल के अर्थं सरोवरादिक

के तीर गया सो जल तक तो न पहुंचा परन्तु बीचही कीचड़ में फसकर क्लेश भोगता भया। तैसे विषय के अर्थ उद्यम कर मनवांछित विषयन कूं न पाय कर यह जीव क्लेशित होय है यह विषयन की तृष्णा महाक्लेश कारिणी है यह तृष्णा ज्ञानामृत ही से उपशमे है। आगे कोई प्रश्न करे है कि जिन को मनवांछित विषयन की प्राप्ति नहीं वह तो क्लेश भोगते कहे सो तो प्रमाण है परंतु जे इन्द्र चक्रवर्त्यादिक तिन के तो विषय पूर्ण हैं सो उन के क्लेश की शांतता होयगी। इस भांति जो प्रश्न करे उस को समझावे हैं॥

छन्दः—लब्धेन्धनोज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः॥ ५६ ॥

अर्थ—हे भव्य अग्नि इंधन के योग से प्रज्वलित होय है और इंधन विना बुझ जाय है। और मोहरूप अग्नि अतिप्रवल है परिग्रह रूपी इंधन के योग से तृष्णारूप होय प्रज्वले है और परिग्रह की अप्राप्ति से व्याकुलता रूप होय प्रज्वले है अहो यह अतिप्रवल मोहाग्नि दोनों प्रकार ही प्रज्वलित है इसलिये मोहाग्नि समान और अग्नि नहीं है॥

भावार्थ—और अग्नि तो इंधन के योग से प्रज्वलित होय है और इन्धन के वियोग

से बुझ जाय है । और यह मोहाग्नि परिग्रह के बढ़ने से तो बहुत तृष्णा रूप होय है और परिग्रह के घटने से व्याकुलता रूप होय है जब असाता के योग से कुछ न मिले है तब महा दुःखी होयहै और जब साता के योग से कुछ मिले भी है तब तृष्णा बढ़ती जायहै जैसे सौ से हजार की हजार से लाख की इस भान्ति अधिक अधिक बढ़ती चली जायहै सन्तोष नहीं आवे है, सो सन्तोष विना सुख नहीं है । इस लिये मोह अग्नि को दोनों प्रकार दाहक कहा है। कितने ही विवेकी जीव जब शांतभावरूप जल कर इसको उपशमावें हैं तब ही सुखी होयहैं । आगे कहैहैं कि विषय सुख के साधन जो स्त्री आदि पदार्थ उन में प्राणियों का लगना जिस मोह के प्रभाव से होय है उस मोह को निद्रा के समान वर्णन करे हैं ॥

छन्दः—किं मर्म्माण्यभिदन्न भीकरतरो दुष्कर्म्मगर्म्मुद्गुणः
किं दुःखज्वलनावलीविलसितैर्ना लेढि देहश्चिरम् ।
किं गर्ज्जद्यमतूर्य्यभैरवरवान्नाकर्णयन्निर्णयन्
येनायं न जहाति मोहविहितां निद्रामभद्रां जनः ॥ ५८ ॥

अर्थ—क्या पापकर्म्म रूप मुद्गर इस जीवके मर्म्म कू छेदता हुआ अत्यन्त भयकारी नहीं है अपितु भयकारी ही है। अथवा क्या महादुःख रूप अग्नि की पंक्ति के प्रज्वलित होने कर इस का देह नहीं जले है अपितु जले ही है। और क्या गाजता जो यम उस के वादित्र के भयंकर शब्द यह नहीं सुने है अपितु सदाही सुने है। फिर किस कारण से यह मूर्ख जीव अकल्याण रूप जो मोहजनित निद्रा उस को न तजे है॥

भावार्थ—जो निद्रा के वश होय वह भी इतने कारण पाय कर जागे है। यदि कोई मुद्गर की चोट मरम की ठौर देवे तो शीघ्रही निद्रा जाती रहे है अथवा अग्नि का आताप देह को लगे वा वादित्र के नाद सुने तोभी निद्राजाती रहे है परन्तु यह अविवेकी जीव पापकर्म्म के उदयरूपी मुद्गरों कर मर्म्म की ठौर मारिये है। और दुःख रूप अग्नि कर इस का देह जले है। और आज यह मरा, वा कल वह मरा, इत्यादि जो यम के वादित्रों के शब्द हैं उन को यह निरन्तर सुने है। तो भी यह इस अकल्याण कारिणी मोहनिद्रा को नाहीं तजे है। सो यह बड़ा आश्चर्य्य है। आगे कहे हैं कि मोह जनित निद्रा के वश से यह जीव इस दुःख रूपी असार संसार विषे प्रीति करे है :—

छन्दः—तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुःकर्म्मणो
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिः गाढं स्वयं वन्धनम्।
निद्राविश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं
जन्मिन् जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत्॥५८

अर्थ—हे जन्म मरण के धरण हारे संसारी जीव तेरे इस संसार विषे निश्चयसेती दुःख है तो भी तू संसार ही विषे अनुराग करे है सो यह वड़ा आश्चर्य है। कौन कौन दुःख है सो चितार प्रथम तो महाक्लेश का कारण जो शरीर उस के साथ तेरा सम्वन्ध है। सदा एक देह को छोड़ दूसरी देह में गमन करे है। और पापकर्म्म के फल जो दुःख उन को सदा भोगे है। और समय समय में कर्म्मों की प्रकृतियों कर आप गाढ़ा वन्धे है। यही तुम्हारा व्यापार है। और निद्रा विषे विश्राम करे है। काल से डरे है। फिर भी निश्चयसेती निरन्तर मरे ही है॥

भावार्थ—जगत् की ऐसी रीति है। जो दुःख का स्थान होय वहां कोई भी न रमे है सो यह संसारसागर महादुःख का निवास है, इस विषे तू रमे है। सो यह वड़ा आश्चर्य है।

शरीर का जो धारण सोई दु.ख है। सबसे उत्कृष्ट मनुष्य का शरीर है जिसकर मुक्ति होय है उस की भी यह दशा कि प्रथम तो पिता का वीर्य्य और माता के रुधिर कर इस की उत्पत्ति है, और महा अशुचि जो गर्भवास उस में निवास होय है,और अधोमुख रहना और गर्भकी अति उष्णता का सहना इत्यादि नाना प्रकारके दुःख और गर्भ से निकसने में महादुःख सहे है और बालअवस्था में अतिअज्ञानदशा सो कुछ सुध नाहीं। और यौवनअवस्था में काम,क्रोध,लोभ,मान माया, मोहादिक अनेक प्रकार तिनकर सदा व्याकुल रहे है और वृद्ध अवस्था विषे अति शिथिलता अति विकलता होय है और यदि देवन का शरीर पावे उस में भी मन को अति पीड़ा होय है बड़ी ऋद्धिके धारी देवन को देख कर आप को न्यून मान दुःखी होय है,और अपनी देवांगनादि को तथा और देवन को मरतेदेख कर दुःखी होय है और जब अपनामरना आवे तबतो अतिदुःख होय है और तिर्य्यञ्चगति के अनेक दुःख सो विद्यमान देखियें ही हैं। और नारकीन के दुःख की तो क्या कथा वह तो महादु.खमयी हैं क्योंकि उन के छेदन,भेदन, ताड़न, तापनादिक शरीरके दुःख और मन को महाक्लेश होय है,और क्षेत्र जनित शीतल उष्ण दुर्गन्धादिक का दुःख और सकल रोग तहां पाईये हैं और परस्पर लड़ने का दुःख और नरक मे असुरकुमारों कर लड़वाने का महादुःख है सो कहां लग कहिये,शरीर दु.ख ही का निवास है। पाप कर्म्म का फल क्लेश सदा भोगना,और

समय२ कर्म की प्रकृतिनकर गाढ़ वन्धन और निद्रा विषे बेसुधि होना, और काल से डरना, आयु के अन्त में मरना, इत्यादि अनेक प्रकार के दुःखों में सुख मानना, सो बड़ा आश्चर्य्य है। इसलिये इन दुःखन से उदास होय सुख का मूल जो जगत् से उदासीनता सोई अंगीकार कर। आगे कहे हैं कि जिस शरीर से तू एकता मान अनुराग करे है सो कैसा है यह दिखावें हैं॥

छन्दः—अस्थिस्थूलतुलाकषायघटितं नद्धं शिरास्नायुभि
श्चर्म्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः।
कर्म्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ५९॥

अर्थ—हे निर्बुद्धि यह शरीर रूप घर तेरा वन्दिग्रह समान है इस से वृथा प्रीति मत कर, कैसा है यह शरीर रूप बन्दिग्रह हाड़रूप स्थूल पाषाण तिनके समूह कर घड़ा है। और नसा जाल रूप बन्धन कर वेढ्या है। अर चर्म से आच्छादित है और रुधिर कर सजल जो मांस उस कर लिप्त है। और दुष्ट कर्म्म रूप वैरियों ने रचा है। और आयु कर्म्म रूप गाढी भारी बेड़ी तिन कर युक्त है॥

भावार्थ—बन्दिग्रह के समान और दुःख का कारण नहीं है। सो वन्दीग्रह तो स्थूल पाषाणों के समूह कर घड़िये है। और शरीर हाडों कर घड़ा है। वन्दीग्रह तो वन्धन कर वेढियेहै। यह नसा जाल कर वेढ्याहै, और वह ऊपर से आछादित है, यह चर्म्म कर आच्छादित है। और रुधिर सहित मांस कर लिप्त है, वह दुष्टन कर रचा है यह कर्म्म रूप वैरीन कर रचा है वह वेड़ीयों कर युक्त है यह आयु रूप वेड़ी कर युक्त है। सो ऐसा कौन कुवुद्धि है जो ऐसे बन्दिग्रह से प्रीति करे। इसलिये तू महा निर्वुद्धि है जो ऐसे शरीर रूप बन्दिग्रह से प्रीति करे है सो तुझे इसके साथ प्रीति करनी उचित नहीं है। आगे कहें हैं कि शरीर को तो बन्दिग्रह समान वताया अब और जो वस्तु घर कुटुंवादिक हैं जिन से तेरी प्रीति है वह कैसे हैं, सो दिखावें हैं॥

छन्दः—शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्व्वमेतत्
त्यजत भजत धर्म्मं निर्म्मलं शर्म्मकामाः ॥ ६० ॥

अर्थ—घर तेरा शरण रहित है जहां तुझे कोई भी बचावन हारा नहीं है और यह बांधव बंध का मूल हैं और जिस से तेरा अति पियार है ऐसी जो स्त्री सो विपदा रूप घरका द्वार है और यह पुत्र शत्रु हैं और सब परिवार दुःख ही का कारण है ऐसा तू विचार कार इन सबन को तज जो सुख का अर्थी है तो निर्म्मल धर्म्म को भज ॥

भावार्थ—इस असार संसार विषे तू क्या सार जाने है जिन २ वस्तुओं विषे तू राग करे है सो सब दुःख का मूल हैं यह घर तो शरण रहित है जहां कोई भी रक्षक नहीं है और अनेक उपाधि का मूल है और यह बांधव बंध ही के कारण हैं इस भव और पर भव में दुःखदाई हैं और तू स्त्री को खास अपनी जाने है सो विपत्ति के घर का द्वार है और पुत्रों को अतिप्रिय माने है सो तेरे वैरी हैं जन्मैं तब तो स्त्री का योवन हरे हैं और बालक होवें तब मिष्ट भोजनादिक हरे हैं जब समर्थ होते हैं तब तेरा धन हरे हैं। इसलिये पुत्र समान और तेरा कोई वैरी नहीं है सो जो तू सुख का अर्थी है तो इन सबन को तज केवल निर्म्मल जिन धर्म्म को भज। आगे कोई कहै कि यह गृहादिक तो हमारे उपकारी नहीं हैं। परन्तु धन तो उपकारी है तिसका समाधान :—

छन्द:—तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः
सम्बन्धेन किमंग शश्वदशुभैः सम्बधिभिर्बन्धुभिः।
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा
देहिन् याहि सुखाय ते समममुं मा गाः प्रमादं मुधा॥६१

अर्थ—हे प्राणी तू वृथा प्रमाद को प्राप्त मत हो। इस समभाव को सुखके अर्थ प्राप्त हो तेरे इन धनों कर क्या है। कैसे हैं यह धन आशा रूपी अग्नि के प्रज्वलित करने को इन्धन समान हैं। और हे मित्र निरन्तर पाप के उपार्जन हारे जो यह तेरे सम्बन्धी हैं, उनके ममत्व कर क्या है, और महामोह रूपी सर्प के बिल समान जो यह तेरी देह है इस कर क्या है अथवा घर कर क्या है इसलिये तू सुख के अर्थ केवल समभाव को प्राप्त हो। वृथा ही प्रमादी होय रागादिक भावनि कूं मत परिणमें॥

भावार्थ—इस जीव को दुःख के कारण रागादिक और सुख का कारण जो एक समभाव इन ही के दृढ़ करणे को श्रीगुरु भव्य जीवन को उपदेश दे हैं। हे मित्र! यह सर्व तन,

धन, भ्राता, पुत्र, परिवार, घर और सम्बन्धी दुःख ही के कारण हैं। इन में सुख नहीं है, यदि तुझे सुख की वाञ्छा है तो प्रमाद मत करे समभाव को भज अर्थात् लाभ अलाभ जीवन मरण वैरी बन्धु राजा रंक सम्पदा आपदा इन सब को समान जान। आगे इस समभाव के दृढ़ करने के अर्थ लक्ष्मी को त्याज्य दिखावें हैं॥

छन्दः—आदावेव महाबलैरविचलं पट्टेन बद्धा स्वयं
रक्षाध्यक्षभुजासिपञ्जरवृता सामन्तसंरक्षिता।
लक्ष्मीर्दीपशिखोपमा क्षितिमतां हा पश्यतां नश्यति
प्रायः पातितचामरानिलहते वान्यत्र काशा नृणाम् ६२

अर्थ—हाय हाय यह राजाओं की लक्ष्मी दीपक की शिखा समान चञ्चल है ढुलते (२) चमर की पवन कर मानो देखते २ विलय जाय है। जब राजलक्ष्मी की ही यह दशा है तो और मनुष्यन कै लक्ष्मी के रहने की क्या आशा है इस राजलक्ष्मी को चञ्चल जान प्रथम ही बलवन्त पुरुषों ने पट्टबन्ध के मिस कर निश्चल बांधी है और रक्षा के अधिकारी जो सामंत

उन की खड्गसहित जो भुजा सोई भया वज्रपिञ्जरा उस कर भलीभान्ति जिस की रक्षा करी जाती है। परन्तु तौभी वह न रहे है, देखते देखते ही जाती रहे है॥

भावार्थ–राजलक्ष्मी दीपक की शिखा समान अति चञ्चल है। रक्षा करते करते तत्काल विनष्ट हो जाय है रक्षा के अर्थं बलवन्त पुरुषों ने पट्टबन्ध के मिस कर निश्चल बांधी है और खड्ग के धारी सामन्तन की भुजारूप जो वज्रपिञ्जरा उस में राखी है परन्तु तो भी न रही है देखो जब चक्रवर्तियों की ही लक्ष्मी क्षणभंगुर है तो तब औरों के पास रहने की क्या आशा है इसलिये लक्ष्मी को विनश्वर जान अविनाशी विभूति का उपाय करना योग्य है :–

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा विषे ऐसा कहा है :–

जासासयाणलच्छी चक्कहराणं विपुणवंताणम्।
साकिंबंधेय रइं इयरजणाणं अपुणाणम्।

अर्थ–यह लक्ष्मी जब महा पुण्याधिकारी चक्रवर्त्यादिक तिनके भी सदा न रहे है तो औरों के कैसे रहे। आगे कहे हैं की जिस शरीर विषे राजलक्ष्मी का पट्टबान्धा सो यह शरीर कैसा है और इस विषे तू कैसे २ दुःख भोगे हैं॥

छन्दः—दीप्तोभयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत्।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे वत सीदसि॥ ६३ ॥

अर्थ—जैसे दोनों तरफ लगी है अग्नि जिस के ऐसी जो एरण्ड की लकड़ी उस के वीच में जो कीड़ा सो अति खेदखिन्न होय है। तैसे उस कीड़े के समान जन्म मरण कर सहित इस शरीर विषे तू अतिखेद खिन्न होय है॥

भावार्थ—जब एरंड की लकड़ी के दोनों तरफ अग्नि लगे तव मध्य में रहता हुआ कीड़ा कहां जाय अति खेद खिन्न होय जले है इसलिये शरीर से ममत्व तज, ताके फिर यह शरीर न धरे इस शरीर से जो अनुराग है सोई नये शरीरधरणे का कारण है। ऐसा जानकर महा मुनियों ने इस देह से स्नेह तजा है। आगे कहे हैं कि इस शरीर के आश्रित जो इन्द्रिय इन के वशी होय तू क्यों अनेक प्रकार के क्लेश भोगे है। ऐसी शिक्षा देवे हैं॥

छन्दः—नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं
प्रेष्यः सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहांस्यलं बृंहयन्।

बढ़ती चली जाय है। और तृप्ति नहीं होय है सो तृप्ति बिना सुख कहां इसलिये वह महादुःखी हैं। शास्त्र में सुखी नाम मुनि ही का है और का नहीं। जगत् का सब सुख पराधीन है। सो पराधीन सुख से स्वाधीन दुःख ही श्रेष्ठ है। पराधीनपने में सुख माने है, सो वृथा है। और जो स्वाधीनपने में सुख न होता तो महा तप को करनहारे मुनि सुखी ऐसा नाम क्यों पावते। इसलिये यह निश्चय भया कि जिन के आशा है वह ही दुःखी हैं और जिन के आशा नहीं है वह ही सुखी हैं यह सर्व ही संसारी जीव आशा के दास और इन्द्रियन के आधीन हैं इसलिये दुःखी हैं। और मुनि आशा के त्यागी मन इन्द्रियन के जीतन हारे हैं इस लिये सुखी हैं। आगे दो काव्यों कर मुनियों के गुणों की प्रशंसा करे हैं :—

छन्दः—यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्य्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम्।
मनो मन्दस्यन्दं बहिरपि चिरायातिविमृशन्
न जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः ॥६७॥

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणापरा
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदिनी ।
अनशनतपश्चर्य्या चान्ते यथोक्तविधानतो
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः॥ ६८ ॥

अर्थ–मुनियों की महिमा कहां तक कहिये जिन के स्वाधीन तो व्यवहार हैं। और दीनता रहित भोजन है। और मुनियों के सङ्गम में निवास है। और मन का वेग ऐसा मन्द होय गया है कि शान्त भाव ही है फल जिस का सो आत्म विचार ही में लीन हैं। जिन का मन चिरकाल तक आत्म विचार करता हुआ कभी ही वाह्य क्रिया विषे आवे है। ऐसे मुनि की परमदशाभई। सो हम नहीं जानते कि यह किस उदार तप की परिणति है। और अतुल है, वैराग्य और शास्त्रका चितवन और सर्वोत्कृष्ट सर्व जीवनकी दया जिनकै और एकान्त वाद एकनय का हठ सोई भया महाअन्धकार उसके विस्तार के दूर करणे को सूर्य्य की किरण के समान है बुद्धि जिनकी। और अन्तकाल में शास्त्रोक्त विधि कर अनशन धर शरीर का तजना यह क्रियाये सत्पुरुषन के

अल्प तप की विधि का फल नहीं हैं किन्तु महातप का फल हैं॥

भावार्थ–सव ही जीव पराधीन हैं इन्द्रियन के वश हैं। जो गमन भी करें हैं सो भी कामना के अर्थ करे हैं। और मुनियों का विहार स्वाधीन है जिनके कोई भी वांछा नहीं है और वर्षा ऋतु विना एक स्थान में नहीं रहे हैं क्योंकि एक थान में रहने से लोगों से स्नेह बढ़े है इसलिये वैराग्य भाव की वृद्धि के अर्थ विहारही करे हैं और दीनता रहित भोजन करे हैं जगत् के जीवन का भोजन दीनता रूप है। जो दरिद्री हैं उनकै तो प्रगट ही दीनता दीखे है। घर में तो सामग्री नहीं है पर घर से लाकर कार्य्य करे हैं सो कठिनता से मिलता है और जो धनवान् हैं वह नाना वस्तुवों के अभिलाषी हैं सो देशकाल के योग से कुछ पूर्ण होय कुछ न होय इसलिये दीनताही है। और एक मुनि ही दीनता रहित हैं जिनके लाभ अलाभ रस नीरस सव समान हैं। और मुनियों को मुनियों के संग में रहना इस समान कोई उत्कृष्टता नहीं है और गृहस्थियों की कुसंग है बड़ा कुसंग तो स्त्री की संगति है। जिस कर काम क्रोधादिक उपजे हैं और साधन की सङ्गति से काम क्रोधादिक विलय जाय हैं। और लोगन के और अभ्यास लग रहे हैं साधन के श्रुत ही का अभ्यास है। और शास्त्र के अभ्यास का फल परमशांतभाव सो ही जिनके प्रगट भया है। और मूढ़ लोक शास्त्र के अभ्यास कर मदोन्मत्त होय हैं सो यह बड़ा दोष है। मुनि के मन

का वेग मंद होय गया है लेकिन का मन महाचंचल सदा वाह्य वस्तुवों ही विषे भटके है। मुनि का मन आत्मविचार विषे लग रहा है कभी वाह्य शुभक्रिया विषे भी आवे है परन्तु अशुभक्रिया का लेश भी नहीं है। यह दशा मुनियों की भई सो मैं नहीं जानता कि यह कौनसे उत्कृष्ट तप का फल है। जिनकै अतुलवैराग्य है और संसार भोगों और शरीर से अतिउदासीनता है। और जगत् के जीव जिनकै रागद्वेष-का तीव्रउदय है सब ही रागी हैं और अव्रत सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधी के अभाव से यद्यपि मिथ्यादृष्टि कैसे रागी नहीं हैं तथापि अप्रत्याख्यान के उदय से किञ्चित् रागी हैं। और अणुव्रत्ति श्रावक अप्रत्याख्यान के अभाव से अव्रतसम्यग्दृष्टियों से श्रेष्ठ हैं तथापि प्रत्याख्यान के उदय से अल्परागी हैं और मुनियों कै प्रत्याख्यान का भी अभाव भया। इसलिये उन कै विषयानुराग भी सर्वथा मिट गया। संज्वलन के उदय से किञ्चित् धर्म्मानुराग रहा है सो छठे गुणस्थान है। आगे ऊपर ले गुणस्थान विषे वीतरागभाव ही की वृद्धि है इसलिये मुनि कै अतुल वैराग्य ही कहिये जो धर्म्मानुराग है सो वीतरागभाव ही का कारण है। और मुनि के छठे गुणस्थान शास्त्र का चितवन है ऊपर के गुणस्थान विषे आत्मध्यान ही है शास्त्र का ज्ञान मुनियों जैसा औरों के नहीं है अज्ञानी जीव तो कुकथा विषे ही आसक्त हैं शास्त्र का अनुराग नहीं है और सम्यक्दृष्टि अव्रती तथा अणुव्रत्ति

श्रावक यद्यपि जिनसूत्रके अभ्यासीहैं तथापि परिग्रहके योग से अल्पश्रुतिही हैं बहुश्रुति नहीं हैं और जीवदया मुनि कैसी औरोंके नहींहै अज्ञानीजीव तो सदा निर्दयीही हैं। और अव्रतसम्यक् दृष्टि भावन कर तो दयारूप ही हैं तथापि बहुआरम्भ परिग्रह के योग से दया नहीं फले है। और अणुव्रतिके अल्प आरम्भअल्प परिग्रहके योगसे अल्प हिंसा है त्रस की तो सर्वथा हिंसा नहींहै स्थावरजीवन की हिंसा है इसलिये सर्वथा अहिंसा न कहिये। सर्वथा अहिंसा तो मुनियों ही कै है मुनि महादयावान् हैं और मुनिकी बुद्धि सदा एकान्तवादरूप अंधकारके हरने को सूर्य की प्रभा समान है और किसी की बुद्धिऐसी प्रकाशरूप नहींहै यद्यपि सम्यक्‌दृष्टि श्रावकों की बुद्धि एकान्तवाद रूप तिमिर से रहित स्याद्वाद श्रद्धान की परिणयी है तथापि मुनियों की शिक्षा कर व्रत लिये है स्याद्वादविद्या के गुरु मुनि ही हैं। और अंतकाल में मुनियों कै शरीर का तजना अनशन तप कर होय है उत्कृष्ट आराधना मुनियों ही कै है। अणुव्रति श्रावक कै मध्य आराधना है। और अव्रतिसम्यग्दृष्टि कै जघन्य आराधना है। और जगत्वासी जीव आराधना रहित विरोधक ही हैं। यह मुनियों की जो अलौकिकी वृत्ति कही सो अल्पतप की विधि का फल नहीं है पूर्णतप का फल है। आगे कोई प्रश्न करे कि तप करनेसे कायक्लेश होय है सो अयुक्त है क्योंकि शरीर धर्म्म का साधन है सो यत्न से राखना उचित है, ऐसे प्रश्न का उत्तर कहे हैं:—

छन्दः—उपायकोटिदूरक्षे स्वतस्तत इतोन्यतः।
सर्वतः पतनप्राये काये कोयं तवाग्रहः॥ ६९॥
अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि।
शाश्वतं पदमायाति मुधा यान्ति स्ववेहि ते॥७०॥

अर्थ—हे प्राणि! तेरा इसशरीर विषे यह क्या हठहै कि मैं इसकी रक्षाकरूं यह तो कोटि उपायकर भी राखाहुआ न रहे है। सर्वथा प्रकार नाशकेही सन्मुख है। यह आयुकायादिक अवश्य विनश्वर हैं। और इनकी ममता तजनेसे जो अविनाशी पद तेरे हाथ आवे तो सहज आया जान।

भावार्थ—हे जीव तू ऐसा क्यों हठ करे है कि यह शरीर मेरा है मैं इस की रक्षा करूं परन्तु यह तो किसी भी उपाय कर राखा न रहे है जैसे डाभ (कुशा) की चोटी पर पड़ी हुई ओस की बून्द नहीं ठहरे है शीघ्र ही नीचे जाय पड़े है तैसे ही इस शरीर की दशा है अर्थात् आप करके या किसी और करके या किसी प्रकार भी यह राखा न रहे है सर्वथा नष्ट ही होय है। आयु भी विनश्वर है और काय भी विनश्वर है उत्कृष्ट आयु देव नारकीन की तेतीस सागर है सो भी विनश्वर है तो फिर मनुष्य तिर्यञ्चनकी अल्पआयु की क्या कथा है। जब देवों

और तीर्थङ्करादिक का नीरोग मनोहर शरीर भी विनश्वर है तो तब औरों के शरीर की क्या कथा है इसलिये यह निश्चय भया कि आयु के अन्त भये शरीर न रहे है। और आयु परिमाण से अधिक नहीं होय है इस लिये आयु का ममत्व तज कर अपने अविनाशी स्वरूप का ध्यान कर। देह को तप संयम में लगाय कर सम्पूर्ण आयु भर धर्म्म करके अविनाशीपद का पात्र हो। इस अल्पआयु और चञ्चलकाय के बदले जो शाश्वत पद मिले तो फूटी कौड़ी के बदले में चिन्तामणि रत्न आया जान। आगे आयु को विनश्वर दिखावे हैं :-

छन्द:—गन्तुमुच्छ्वासनि:श्वासैरभ्यस्यत्येष सन्ततम्।
लोक: पृथगितो वाञ्छत्यात्मानमजरामरम्॥ ७१॥
गलत्यायु: प्राय: प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं
खल: कायोप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम्।
किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह
स्थितो भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधी: ॥७२॥

अर्थ—यह आयु निरन्तर श्वास लेने कर गमन करने का अभ्यास करे है और यह आज्ञानी जीव ऐसी आयु से आप को अजर अमर होने की वांच्छा करे है अकसर कर यह आयु प्रगट ही अरहट की घड़ी के जल की न्याईं छिन छिन में नष्ट होय है और इस काय का भी आयु के साथ ही निरन्तर नाश होय है। काय है सो आयु की सहचरी कहिये सहेलीहै जब आयु काय की ही यह दशा है तो तब इस जीव के पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादिक अन्य पदार्थों की क्या कथा है यह देह और आयु दोनों ही जीवने के मूलकारण प्रगट ही चणभंगुर हैं जैसे कोई पुरुष नाव विषे बैठा हुआ भ्रांति कर आप को स्थिर माने है तैसे यह बुद्धिरहित वहिरात्मा भ्रांतिकर आप को स्थिर माने है॥

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष नाव विषे बैठा हुआ चला जाय है परन्तु भ्रान्तिकर आप को चलता न जाने तैसे इस मूढ़बुद्धि जीवकी श्वास निश्वास कर निरन्तर आयु जाय है और आयु के लार काय जीर्ण होय है। परन्तु यह मूढ़ जाने है कि मैं ऐसा ही रहूंगा जब जीवने के कारण जो आयु काय सो भी चलायमान,तो तब जीवने की क्या आशा है जैसे निवाण का नीर अरहट की घटी कर निरन्तर निकसे तैसे श्वास निश्वास कर आयु की स्थिति पूर्ण होय है और काय जीर्ण होवे है आयु के पूर्ण भये काय न रहे है। इसलिये आयु और काय इन दोनों को

विनश्वर जानकर जो विवेकी पुरुष हैं वह इन से ममत्व तजे हैं। जब आयु काय हीसे ममत्व तजा तो तब और जो पुत्र, स्त्री आदि तिन से ममत्व कैसे करें। यह तो प्रगट ही भिन्न हैं। आगे कहे हैं कि जबतक श्वास है तब तक ही जीवन है सो जब श्वास ही दुःखरूप है तो तब जीवों को कैसे सुख हो।

छन्दः—उछ्वासः खेदजन्यत्वाद्दुःखमेवात्र जीवितम्।
तद्विरामे भवेन्मृत्युर्नृणां भण कुतः सुखम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जिस कर जीवना होयहै ऐसा उश्वास जब खेद कर उपजेहै तो तब यहां जीवना दुःख ही है। फिर उस श्वास के अभाव भए मरण होय है सो बतावो कि प्राणियों कै सुख कहां॥

भावार्थ—जहां खेद नहीं सोई सुखहै सो श्वास तो खेद ही कर उपजे है और जबतक श्वास है तब तक ही जीवना है। इसलिये जीवन में भी सुख नहीं है और श्वास गये से मरण होयहै सो मरण से जीव नहीं रहेहै तब सुख किसकै होय, सो कहो कि जीवों कै सुख कहां से होय शरीर का संबंध तो दुःख ही का कारणहै । देह से नेह तजे वीतरागभाव भये सुख होयहै । सो ही अंगीकार करना। आगेकहेहैं कि जन्म मरण के मध्यवर्ती जो यह प्राणी तिनकै कितनेक काल तक जीवन रहे है॥

श्लोकः—जन्मतालद्रुमाज्जन्तुफलानि प्रच्युतान्यधः।
अप्राप्य मृत्युभूमागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—जन्म रूप ताड़ के वृक्ष से जीव रूप फल पड़ें सो जब तक मृत्यु रूपी भूमि को न पहुंचे तब तक अंतराल में कितनेक समय तक रहें ॥

भावार्थ—संसार में जीवना थोड़ा है जैसे ताड़ के वृक्ष से फल टूटा सो पृथ्वीही में पड़े है बीच में कब तक रहे तैसे जो जन्मा सो मरे आयु में कबतक रहे थोडाही रहे है इसलिये देहादिक को क्षणभंगुर जान आत्मज्ञान के प्रभाव कर अविनाशीपद का साधन योग्य है। आगे कहे हैं कि जीवों की रक्षा के अर्थ अनादि काल से विधि ने यत्न किया तो भी रक्षा न कर सका।

छन्दः—क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनैस्त्रिभिः
परिवृतमतः खे वाधस्तात् खलासुरनारकान्।
उपरि दिविजान्मध्ये कृत्वा नरान्विधिमन्त्रिणा
पतिरपिनृणां त्राता नैकोप्यलङ्घ्यतमोन्तिकः ॥७५

अर्थ–विधिरूप मन्त्री ने मनुष्यों की अनेक उपायों कर रक्षा करी जो नारकी दुष्ट परिणामी थे उनको तो अधोलोक में राखे और जर्ध्वलोक विषे देवों को थापे और लोक के मध्य में जिस के चारों तरफ़ रक्षाके लिये अनेक महान् अलङ्घ्य समुद्र और उसके वाहर तीनों वायु से कोट घिरा हुआ ऐसी जो यह वीच में पृथ्वी तिस में रक्षा से मनुष्यों को राखे तो भी मनुष्य मरण से न वचे, इस लिये यह निश्चय भया कि मनुष्यों का कोई भी रक्षक नहीं है और यह यम अत्यन्त अलङ्घ्य है ।

भावार्थ–अनेक उपाय करे तौभी काल से यह मनुष्य न वचे है मनुष्यों को निर्बल जान विधि रूप मन्त्री ने रक्षा के अनेक उपाय किये ऊपर की रक्षा तो देवन कर करी और अधो लोक विषे नारकी थापे और तीन वात वलावों का वाहरला कोट और असंख्यात द्वीप समुद्रों का मध्यवा कोट इत्यादि मनुष्यों की रक्षा के उपाय किये परन्तु रक्षा न भई काल रोका न जाय काल अलङ्घ्य है। इसलिये शरीरकी रक्षा को तज धर्म की रक्षा करनी चाहिये। आत्मा तो अविनश्वर है परन्तु देह से स्नेह तजे तो नई देह न धारे है इसलिये यह ही मुक्ति होने का उपाय है । आगे कहे हैं कि आयु की स्थिति पूर्ण होते ही काल प्राण लेने का उद्यम करे है उसके दूर करने को कौन समर्थ है ॥

छन्दः—अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः
खलो राहुर्भास्वद्दशशतकराक्रान्तभुवनम् ।
स्फुरन्तं भास्वन्तं किल गिलति हा कष्टमपरं
परिप्राप्ते काले विलसितविधेः कोहि बलवान् ॥ ७६ ॥

अर्थ—हाय२ यह बड़ा कष्ट है कि निश्चयसेती आयु कर्म्म के पूर्ण होते ही काल आय प्राप्त होय है। ऐसा कौन बलवान् है जो उस समय में रक्षा करे, कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है। जैसे नव ग्रहों मे दुष्ट जो राहु सो ग्रहण के समय सहस्रकिरण जो सूर्य्य अपनी किरणों कर उद्योत किया है भुवन विषे जिसने उस को ग्रसे है सो कोई भी उसे हटाने को समर्थ नहीं है॥

भावार्थ—जैसे ग्रहण का अवसर पाय राहु सूर्य्य को ग्रसे है। तैसे आयु के अन्त का समय पाय कालरूप राहु जीवरूप सूर्य्य को ग्रसे है। सूर्य्य तो सहस्रकिरण है और जीव अनन्त ज्योति अनन्तप्रकाश रूप है। कैसा है काल नहीं जानिये है स्थान जिस का सो काल की तो प्रकट दशा सब ही जाने हैं। और राहु का कोई बार नहीं है इसलिये लोक इस को स्थान रहित

कहे हैं। और काल तो शरीर रहित है। और राहु को भी लोक अतनु कहे हैं। और काल लोकन को ग्रसे है और राहु सूर्य्य को ग्रसे है सो जो किसी को ग्रसे सो ही पापी इसलिये काल को पापी कहे हैं सो जो पापी वह ही मलिन और राहु को पाप ग्रह कहे हैं। और श्याम है। इसलिये काल को राहु का दृष्टांत दिया है। षट्द्रव्यन में काल द्रव्य है। सो अपनी अमूर्त्त जड़सत्ता कर विराजमान है किसी का हरता नहीं है, परन्तु काल की व्यवहार पर्य्याय समय पलट घड़ी आदिक हैं। सो जिस की स्थिति जिस समय पूर्ण होय वह तिस ही समय देह मे देहांतर को गमन करे है यह छल देख लोक कहे हैं कि काल मारे है। आगे कहे हैं कि काल क्यों कर कौन स्थान विषे प्राणियों को हते हैं:—

छन्दः—उत्पाद्य मोहमदविह्वलमेव विश्वं
वेधाः स्वयं गतघृणः ठगवद्यथेष्टम्।
संसारभीकरमहागहनान्तराले
हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः ॥ ११ ॥

अर्थ—वेधा कहिये पूर्वोपार्जितकर्म सो यथेष्ट ठग की न्याईं निर्दयी हुआ २ मोह

मद उपजाय कर विश्व जो त्रैलोक्य उस को विह्वल कर संसार रूप भयानक बन विषे हते है वहां उसे कौन हटाने को समर्थ है।

भावार्थ—जैसे निर्दयी ठग सो मूढ़ लोगों को नशेवाली वस्तु खुलाकर नशा उपजाय कर बेहोशकर गम्भीर बन में मारे है इसी तरह निर्दयी कर्म्मरूप ठग मोहमद उपजाय कर समस्त अज्ञानी जीवन को संसार विषे हने है, कौन बचाय सकै। कालका कारण कर्म्म है जिन के कर्म है वह काल के वश हैं। सिद्धों के कर्म्म नहीं हैं इसलिये वह काल के वश नहीं हैं। आगे कहे हैं, कि किसी देश और किसी समय विषे भी काल से बचने का उपाय नहीं है सर्वदेश और सर्वकाल विषे काल ग्रसे है। काल के दूर करने का यत्न कर्म्मों का नाश करना ही है जो कर्म्मों का नाश करना सोई काल का नाश करना है॥

श्लोकः—कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोन्तकः।
प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं यतध्वं श्रेयसे बुधाः॥ ७९॥

अर्थ—हे पण्डित सम्यग्दृष्टि जीवो तुम आत्मकल्याण के निमित्त यत्न करो क्यों बैठ रहे हो जब काल आय प्राप्त होय तब यत्न किये भी न रहे है। किस समय किस तरह किस क्षेत्र

विषे और कहांसे यह काल आवे है ऐसा समझमें नहीं आवे सो यहदुष्ट यम बेखबरही आवे है॥

भावार्थ–आत्मध्यान कर अविनाशी होने का यत्न कर ही आत्मस्वरूप में मग्न भये काल का निराकरण होय है रागादिक के परिहार विना और किसी यत्न कर भी काल का निराकरण नहीं होय है मंत्र, यंत्र, तन्त्र औषधादिक कर काल को दुर्निवार जान मौन ग्रहण कर तिष्ठो। आगे कहे हैं कि सब ही देश काल विषे मृत्यु होय है। कोई देश काल मृत्यु से खाली नहीं है ऐसा प्रत्यक्ष देख कर निश्चिन्त हो॥

छन्दः—असामवायिकं मृत्योरेकमालोक्य कञ्चन।
देशं कालं विधिं हेतुं निश्चिन्ताः सन्तु जन्तवः॥ ७९

अर्थ–देश कहिये सब ही क्षेत्रों में काल कहिये सदा काल विषे विधि कहिये किसी तरह से हेतु कहिये किसी कारण कर कोई जीवभी कालसे न बचे है सबही कालके वश हैं ऐसा प्रत्यक्ष देख कर हे प्राणियो शरीरके राखने की चिन्ता तजकर निश्चिन्त होवो। ऐसे आयु और काय को विनश्वर कहा अब आगे स्त्री की निन्दा करते हुये उसको शरीर को अकल्याण का कारण दिखावे हैं।

छन्दः—अपिहितमहाघोरद्वारं न किं नरकापदा-
मुपकृतवतोभूयः किं तेन चेदमपाकरोत् ।
कुशलविलयज्वालाजाले कलत्रकलेवरे
कथमिव भवानत्र प्रीतः पृथग्जनदुर्लभे ॥ ९० ॥

अर्थ—तू इस स्त्री के कलेवर विषे किस कारण प्रीति करे है। यह स्त्री का कलेवर कल्याण के भस्म करने को अग्नि की ज्वाला का समूह है। और तू क्या प्रत्यक्ष नहीं देखता है यह स्त्री का शरीर नर्करूपी आपदा का खुला हुआ द्वारहै। और तू तो स्त्रीके शरीर से वारम्वार अनुराग कर उस का उपकार करे है, और वह सदा विघ्नकारी ही है इस लिये जिस स्त्री के शरीर को अज्ञानीजन दुर्लभ माने हैं तू उससे प्रीति तज, क्योंकि यह कुछ सार वस्तु नहींहै। आगे उपदेश देवें है कि स्त्रीविषे प्रीति छोड़ कर सर्वतरहसे असार जो यह मनुष्यपना है इसको तू उत्कृष्ट धर्म्म उपजावने कर सफल कर ॥

छन्दः—व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेप्यभोग्योचितं

विध्वक् क्षुत्क्षतपातकुष्टकुथिताद्युग्रामयैः छिद्रितम्।
मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नाम्नैकरम्यं पुनः
निःसारं परलोकबीजमचिरात्कृत्वेह सारीकुरु ॥ ८१ ॥

अर्थ–यह मनुष्यपना घुण कर खाये हुये काणे साठे (गन्ने) के समान है। फिर कैसा है आपदारूपी गांठोंसे तन्मय है। और अन्तविषे विरस है। और मूल विषे भी भोगने योग्य नहीं है। और सर्वाङ्गपने क्षुधा, गूमड़ा, कोढ़, कुथित आदि भयानक रोगों कर छिद्र सहित भया है केवल नाममात्र ही से रमणीक है। और सर्व प्रकार असार है सो इस को तू शीघ्र ही धर्म्म साधन से परलोक का बीज करके रसवाला मीठा फल कर।

भावार्थ–जैसे काणे गन्ने के बीच में तो गांठें पाइये हैं उन में रस नहीं है। और अन्त विषे गीला है उस में रस का स्वाद नहीं है और आदि विषे जड़ है वहां रस नहीं है। और बीच में सर्वत्र घुणोंकर छिद्रित भया, तहां भी रस नहीं रहा है ऐसा जो वह काणा सांठा सो नाममात्र ही से भला है अवशेष सर्व प्रकार असार है। भोगने योग्य नहीं है, सो जो उस सांठे को आगामि

बीज करे तो उस कर बहुतमीठे सांठे निपजें। इसलिये इस ही प्रकार कर उस सांठे को सफल करना योग्य है। तैसे मनुष्य पर्य्याय के बीच अनेक आपदा पाइये हैं वहां सुख नहीं है। अंत विषे तो वृद्ध अवस्था है तहां सुख का स्वाद नहीं। और आदि विषे बाल अवस्था है तहां सुख होता नहीं और मध्यअवस्था विषे सर्वत्र क्षुधा, पीड़ा, चिन्ता आदि रोगों कर हृदय विषे छिद्र पड़े रहे हैं वहां भी सुख नहीं है, ऐसे यह मनुष्यपर्य्याय नाममात्र ही से भला है। शेष सर्व प्रकार कर असार है। विषय सुख भोगने योग्य नहीं हैं और जो इस मनुष्य पर्य्याय को धर्म्म साधन कर परलोक का बीज करे तो उस कर बहुत स्वर्ग मोक्ष के सुख रूप मीठे फल निपजें। इसलिये इस मनुष्य पर्य्याय को ऐसे ही सफल करो यह शिक्षा माननी योग्य है। आगे ऐसे मनुष्य पर्य्याय के शरीर विषे तिष्ठता जो आत्मा क्या करे है सो कहे हैं :—

छन्दः—प्रसुप्तो मरणाशङ्कां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम्।
प्रत्यहं जनयत्येष तिष्ठेत्काये कियच्चिरम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—यह आत्मा दिन प्रतिदिन सूता हुआ तो मरण की आशंका उपजावे है। और जागता हुआ जीवने के उत्सव को उपजावे है। यदि ऐसी ही इस की दशा है तो यह जीव इस

शरीर विषे कितनेक काल पर्य्यन्त तिष्ठे अपितु न तिष्ठे॥

भावार्थ–यह जीव जब सोवे तब तो मृतक समान हो जाय है। और जब जागे है तब जीवता हो जाय है, सो ऐसी इस की प्रति दिन दशा हुआ करे है जैसे कोई नित्य छिपे तो उस के रहने का क्या भरोसा है। इसलिये शीघ्र ही यह शरीर तुम को छोड़ेगा। ऐसा निश्चय कर जो करना होय सो कार्य्य कर ले। इस प्रकार शरीर कर आत्मा के उपकार करने का अभाव कहा अब आगे कुटुम्ब कर तेरे आत्मा के उपकार करने का अभाव कहे हैं:—

छन्द:—सत्यं वदाऽत्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चा
त्संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति ॥ ८३ ॥

अर्थ–तू सच्च बताय यदि तूने इस संसार विषे बन्धुओं कर करने योग्य हितरूप प्रयोजन कुछ भी पाया है। सो तो कुछ भी कुटुम्ब से हित भया दीखता नहीं है, केवल इतना

ही उनका उपकार भासे है कि तेरे मरे पीछे इकट्ठे होय कर यह तेरा वैरी जो शरीर इस को भस्म करे हैं॥

भावार्थ–भाई बन्धु तो उनका नाम है जो अपना कुछ हित करें। सो तू जिनको भाई बन्धु माने है सो जो इन्होंने तेरा कुछ हित किया होयतो सो बताय जिस से तेरा मानना सांचा होय। हमको तो केवल इतना ही हितकरना भासे है कि जो वैरी का वैरी होय उस को अपना हित कहिये है सो तेरा वैरी शरीर था, तेरे मरे पीछे मिलकर उन्हों ने दग्ध किया, तेरे वैरी का बदला लिया। ऐसे यहां युक्तिकर कुटुम्ब से कुछ भी हित न होता जान इस से राग नहीं करना ऐसी शिक्षा देवे हैं। आगे तर्क करे हैं, कि यह निश्चय है जो विवाहादिक कार्य्य बन्धुजन कर होय हैं सो उन बन्धुजनों से हितरूप कार्य्य कैसे न होय है ऐसी आशंका का उत्तर कहे हैं :—

छन्दः—जन्मसन्तानसम्पादिविवाहादिविधायिनः।
स्वाः परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे ॥ ९४ ॥

अर्थ–संसारपरिपाटी के निपजावन हारे जो विवाहादिक कार्य्य तिन के करने हारे जो

अपने सम्बन्धी हैं वह ही इस जीव के वैरी हैं। और जो एक वार प्राण हरें ऐसे पर कहिये वैरी वह वैरी नहीं हैं॥

भावार्थ–जो एक वार प्राण हरे उस को तू वैरी माने है। और जो विवाहादिक कार्यों विषे जीव को उलझाय कर रागादिक के निमित्त बनावें हैं ऐसे जो बन्धुजन वह अनेक जन्म मरण का कारण जो कर्म्मबन्ध उस को कराय इस का बुरा करे हैं। इसलिये परमार्थ से बन्धुजन वैरी हैं, जैसे देना दिवावै सो वैरी नहीं है, जो नवीन देना करावै सो वैरी है, तैसे प्राणहरन हारा तो पूर्वकर्म की निर्ज्जरा करावे है इसलिये वैरी नहीं है और बन्धुजन तो बन्ध का कारण जो कर्म्म उस को निपजावें हैं इसलिये यह वैरी हैं, ऐसा जानकर इन को हितु न मान इन से राग न करना। आगे बन्धुजन हैं सो विवाहादिविधान कर धन धान्य स्त्री आदि इष्ट वस्तु को निपजावने कर वाञ्छित प्रयोजन की प्राप्ति करन हारे हैं। तिन कै शत्रुपना कैसे है, ऐसे प्रश्न का उत्तर कहे हैं :–

छन्दः–हे धनेन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशाहुताशने।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संधुक्षणे क्षणे॥ ५५॥

अर्थ–जो जीव भ्रमसहित है, सो आशारूपी अग्नि विषे धनरूपी इन्धन के भार को

डालकर आशारूपी अग्नि के वधावने रूप जो उस का दहकना उस काल विषे जलते हुए अपने आत्मा को शान्त भया माने है॥

भावार्थ—जैसे कोई बावला थोड़ी अग्नि कर आप जले है। फिर उस में इन्धन डाल कर अग्नि को वधाया जब वह बहुत जलने लगा तब आप को शीतल भया माने है। तैसे भ्रमभाव से आत्मा आशा कर आप दुःखी होय रहा है। जब आशा विषे धनादिक सामग्री मिलाय तिस आशा को वधाय बहुत दुःखी भया तब आप को सुखी माने है, परमार्थ से सुखी नहीं होय है। धनादिक सामग्री के मिलने से तृष्णा वधे है इसलिये धनादिक और कुटम्बादिक दुःख ही का कारण हैं। इन को अपने दुःखदाई शत्रु जानने। आगे ऐसे भ्रमरूप मानता जो तू सो तेरी क्या क्या दशा होय है सो कहे हैं :—

छन्दः—पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरसि ॥ ९६ ॥

अर्थ—श्वेतकेशों के बहाने कर तेरी बुद्धि की जो शुद्धता है सो शरीर से निकसे है। तहां वृद्ध अवस्था सहित असमर्थ भया जो तू सो परलोक के अर्थ कैसे स्मरण करे है अर्थात् कुछ भी विचार नहीं हो सकता है॥

भावार्थ—तू ऐसा विचारे है कि यौवन अवस्था विषे तो धन स्त्री आदि सामग्री मिलाय इस लोक के सुख भोगूं। और वृद्ध अवस्था विषे धर्म्म सेवन कर परलोक का यत्न करूंगा। सो वृद्ध अवस्था आये हम ऐसा खियाल करते हैं कि जो तेरे श्वेतकेश निकसे हैं उन के बहाने कर तो तेरी बुद्धि की शुद्धता निकस जाय है। फिर बुद्धि की शुद्धता गये जब वर्त्तमान इस लोक के कार्यों का भी विचार न होय सके तो तब आगामि परलोक के अर्थ विचार कैसे होय सकेगा इसलिये वृद्ध अवस्था से पहिले ही धनादिक को दुःख का कारण जान परलोक के अर्थ यत्न करना योग्य है। आगे "जो जीव बुद्धि की शुद्धता कर संयुक्त हैं। और मोह कर रहित है चित्त जिन का ऐसे पुरुष जो परलोक के अर्थ चिन्ता करे हैं सो थोड़े हैं" ऐसा कहे हैं:—

छन्दः—इष्टार्थोद्यदना(वा)प्ततद्भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुर-
न्नानामानसदुःखवाड़वशिखासंदीपिताभ्यन्तरे।
मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवे
मोहग्राहविदारितास्यविवराद्दूरेचरा दुर्ल्लभाः॥८॥

अर्थ–इस संसाररूपी भयानक समुद्र विषे मोहरूपी नाकू का फाड़ा हुआ जो मुख उस से जो दूर विचरे हैं वे पुरुष थोड़े हैं। कैसा है यह संसार समुद्र जिस कर तृप्ति न होय ऐसा जो इष्ट विषयों कर निपजा सांसारिक सुख सोई है खारा जल जिस विषे, जैसे समुद्र विषे खारा जल है उस के पीने से तृषा न मिटे है, तैसे संसार में विषयसुख है । जिस कर तृष्णा दूर न होय है। फिर नानाप्रकार का जो मानसिक दुःख सोई भया बड़वानल तिस कर तप्ताय-मान है अभ्यन्तर जिस का जैसे समुद्र विषे जो बड़वानल है सो ऐसा तप्तायमान है जो जल को सोखे है। तैसे संसार विषे जो मानसिक दुःख है सो ऐसा सन्तापरूप है जो विषयसुख को न भोगने देवे है। फिर जन्म, मरण, जरारूपी जो तरङ्ग तिन कर चपल है। जैसे समुद्र विषे तरङ्गों की पलटना होय है। तैसे संसार विषे जन्म, जरा, मरण, आदि अवस्थाओं की पलटना होय है। इस संसार समुद्र विषे ऐसा मोहरूपी नाकू जलचर जीव वसे है। जो अपना मुख फाड़ रहा है। और अपने स्वरूप को दिखा रहा है। सो इस से जो दूर विचरे हैं। अर्थात् इस के उदय विषे मोहरूप हो कर भी विकारी न होय हैं ऐसे जीव थोड़े हैं। क्योंकि जो संसार विषे ऐसे जीव घने होंय तो संसार कैसे बसे सो थोड़े हैं। इस ही लिये यह संसार पाइये है। आगे मोहरूपी नाकू के मुख से दूर विचरता और दुर्द्धर आचरण आचरता ऐसा जो तू सो तेरे इस भली

प्रकार पाले हुवे शरीर को जब निर्भय होकर हिरणीयां देखें, तब तू धन्य है ऐसा कहे हैं :—

छन्दः—अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः
श्यामाङ्गीनां नयनकमलैरर्च्चिता यौवनान्ते ।
धन्योसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधे मृगीभि-
र्दग्धारण्यस्थलकमलिनीशङ्कयालोक्यते ते ॥ ९८ ॥

अर्थ—जिन विषे विच्छेद नहीं होय ऐसे जो सुख के समाज उन से तो पाला हुआ और मनोहरअंग युक्त स्त्रियों के चञ्चल और रमणीक जो नेत्र सोई भये कमल उन कर सम्मानित ऐसा जो यह तुम्हारा शरीर सो आत्मज्ञान के उदय होने पर यदि यौवन अवस्था में ही जले हुये जंगल में स्थलकमलिनी की आशंका कर हिरणियों से देखा जावे तौ तू धन्य है।

भावार्थ—जैसा अभ्यास होय वैसाही प्रवर्त्तै है, जैसे जो दुःख सहे वह दुःख ही सहे है और जो सुख सहे सो सुख ही सहे है। परन्तु जो पूर्वपुण्य के उदय से सुखसमाज जो स्त्री आदि तिन से परम सुखी होय रहे थे, वह यदि ज्ञान पाय कर यौवन अवस्था विषे ही दीक्षा धार तप

कर ऐसे भये कि जिन को हिरणी सारिखे चञ्चल जीव भी अध जले लकड़ी के टुंड के समान अवलोके हैं सो जीव धन्य हैं वह सर्व प्रकार कर स्तुति करने के योग्य हैं। देखो आत्मज्ञान की कोई ऐसी अचिन्त्य महिमा है, कि परम सुखी जो तीर्थङ्कर चक्रवर्त्ती वह भी दीक्षा धार मेरुवत् निश्चल भये हैं। बाहुबल आदि ऐसा प्रतिमा योग्य दिया कि वहां उन के शरीर के ऊपर बेलें लिपट गईं, और सुकमाल जी के सरसों चुभे थी सो स्यालिनी खाने लगी तौ भी निश्चल रहे इत्यादिक जो पुरुष भये हैं वह धन्य हैं। आगे ऐसे ही तेरा जन्म सफल होय अन्य प्रकार नहीं ऐसे दिखावते हुये सूत्र कहे हैं॥

छन्दः—बाल्ये वेत्सि न किञ्चिदप्यपरिपूर्णं हितं वाहितं
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन्वने यौवने।
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशो क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वृद्धोवार्द्धमृतः क्व जन्मफलिते धर्म्मो भवेन्निर्म्मलः॥८९

अर्थ—बाल्यावस्था विषे तो तू सम्पूर्ण अंगों के न होने से कुछ भी हित वा अहित को

नहीं जाने है फिर यौवन अवस्था विषे स्त्रीरूपी वृक्षों का जो सघनवन उस विषे भ्रमण करता हुआ कामसे अन्धा होय है। और मध्य अवस्था विषे वधी जो तृष्णा उस कर पशु समान हुआ जो तू सो भार उठाने कर अथवा खेती आदि कर्म्म कर धन उपार्जन करने के लिये क्लेश पावे है। फिर वृद्ध अवस्था विषे आधे मृतक के समान होय है। ऐसा तेरा मनुष्य जन्म है। सो फलवान् कैसे होय।

भावार्थ–सर्व्व पर्य्यायों विषे मनुष्यपर्य्याय धर्म्मसाधन का कारण है। और धर्म्म साधन ही से मनुष्यपर्य्याय सफल होय है। सो तेरे मनुष्यपर्य्याय का काल तो ऐसे वीते है। वालकपने में तो कुछ हित अहित का ज्ञान ही नहीं होय सके है यौवन अवस्था विषे तू स्त्रियों का रसिया होय कामान्ध होय है मध्य अवस्था विषे जब कुटुम्बादिक की वृद्धि भई तब ऐसा विचारे है कि मुझे सर्व्व का निर्व्वाह करना चाहिये सो धन उपजावने के अर्थ खेद खिन्न रहे है, और वृद्ध अवस्था विषे इन्द्रिय और मन के शिथिल होने से आधे मृतक के समान होय है। ऐसे काल वीते है सो धर्म्म कैसे सधे और मनुष्यजन्म कैसे सफल होय। इसलिये वाल और वृद्ध अवस्था विषे तो कुछ वश नहीं चले है परन्तु यौवन अवस्था वा मध्य अवस्था विषे स्त्री कुटुम्बादिक से राग छोड़ धर्म्म साधन करो ऐसे ही तुम्हारा जन्म सफल होय है। आगे तीनों अवस्था विषे बुरा करनहारा जो कर्म्म उसके आधीन होना अब तुम को योग्य नहीं, ऐसी सीख देते हुये सूत्र कहे हैं:–

ा नहीं चले है परन्तु यौवन अवस्था वा मध्य अवस्था विषे तथा कुटुम्बादिक में
ं साधन करो ऐसे ही तुम्हारा जन्म सफल होय है। आगे तीनों अवस्था विषे बुरा
कर्म्म उसके आधीन होना अब तुम को योग्य नहीं, ऐसी सीख देते हुये सूत्र कहे हैं:—

बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्त्तुं च तन्नोचितम्
मध्ये चापि धनार्ज्जनव्यतिकरैस्तन्नार्पितं यत्त्वयि।
वार्द्धक्येप्यभिभूय दन्तदलनाद्यच्चेष्टितं निष्ठुरम्
पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाञ्छस्यहो दुर्म्मते ॥९०॥

र्थ—इस पर्य्याय विषे इस कर्म्म ने बाल अवस्था विषे जो कुछ तेरा बुरा किया था सो
योग्य भी नहीं है और मध्य अवस्था विषे धन उपार्जन के सम्बन्ध के बहाने कर
भी दुःख बाकी नहीं रहा जो तुझे नहीं दिया है फिर वृद्ध अवस्था विषे भी तेरा अप-
न्त तोड़ना आदि कठोर चेष्टा करी सो तू देखी ही है इसलिये हे दुर्वुद्धि ! अब
कर्म्म के वश में ही रहना वांछे है।

ावार्थ—लोक विषे कोई एक वार भी अपना बुरा करे तो उसको अपना वैरी जान कोई

अवस्था विषे तो गर्भ जन्म शरीरवृद्धि आदि दशाओं कर और मध्य अवस्था विषे धन उपार्ज्जन आदि क्रियाओं कर और वृद्ध अवस्था विषे दान्त तोड़ना आदि अपमान कार्य्य करने कर जो तेरा बुरा किया सो तो तू देखे है। जो ऐसे प्रत्यक्ष देख कर अब भी तू कर्म्म ही के आधीन रहा चाहे है। और इस के नाश का उपाय नहीं करे है। सो यह तेरी पुरुषार्थता की हीनता तुझे आगामी दुःखदायक होगी, आगे वृद्ध अवस्था विषे इन्द्रियादिक की ऐसी प्रवृत्ति देखता जो तू सो तुझे निश्चिन्त रहना योग्य नहीं ऐसे कहे हैं :—

छन्दः—श्रोत्रीव तिरस्कृता परतिरस्कारश्रुतीनां श्रुतिः
चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामिवान्ध्यं गतम् ।
भीत्येवाभिमुखान्तकाददितितरां कायोऽप्ययं कम्पते
निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यासे जराजर्ज्जरे ॥ ९१

अर्थ—वृद्ध अवस्था विषे कान है सो मानों औरों कर किया हुआ जो अपमान और निन्दादि रूप तिरस्कार उसके लिये जो वचन उनको न सुनना चाहता हुआ सुनने से रहितभया है। और

नेत्र है सो मानो तेरी निन्द्यदशा के देखने को असमर्थ हुआ हुआ अन्धपना को प्राप्त भया है। और जो यह शरीर है सो मानों सन्मुख आये हुये काल के भय कर बहुत कांपे है, ऐसे जरा कर जीर्ण भये अग्नि से जलते हुये मन्दिर के समान इस शरीर में तू निश्चल तिष्ठे है, सो वड़ा आश्चर्य्य है ॥

भावार्थ-मरण तो सर्व अवस्था विषे ही होय है। इसलिये जो चतुर है सो निश्चिन्त नहीं रहे है पहिले ही परलोक का यत्न करे है। सो अब वृद्ध अवस्था में तो अवश्य ही मरण होने का नियम है। और विषयादिक के कारण सर्व्व शिथिल भये हैं, अब भी तू यहां ही रहने की आशा कर निश्चिन्त होय रहा है। सो जैसे कोई अग्नि कर बलते मन्दिर विषे निश्चिन्त तिष्टे उसका आश्चर्य होय है तैसे तेरी दशा देख हम को आश्चर्य भया है। इसलिये निश्चिन्त रहने से तेरे उपाय का अभाव देख तुझे सावधान किया है। आगे इस शरीर में तिष्ठते हुए जीव को शिक्षा देवे हैं॥

छन्दः-अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः।
त्वं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणेष्वरतः ॥ ९२ ॥

अर्थ-लोक विषे ऐसा विख्यात है कि जिन के साथ बहुत काल से सम्बन्ध भया होय

उन विषे तो अनादर होय है और नवीन सम्बन्ध वालों से प्रीति होय है, परन्तु तू रागादि दोषन विषे आसक्त होय कर और सम्यग्दर्शनादि गुण विषे प्रीति न करता सन्ता उस लोक की कहावत को कैसे मिथ्या करे है ॥

भावार्थ-लोक विषे तो ऐसे प्रसिद्ध है कि जिसका बहुत सेवन भया होय उस विषे अनादर होय है और जो अपूर्वलाभ होय उस विषे प्रीति होय है सो तेरे रागादिक का सेवन तो अनादि से भया है उस विषे ही तू आसक्त है। और सम्यग्दर्शनादिक का अपूर्व लाभ भया है उस विषे तेरी प्रीति नहीं है सो उस पूर्वोक्त लोकप्रसिद्ध वचन को तू झूठ कैसे करे है। यह बड़ा आश्चर्य है। आगे संसार विषे मरणादिक अनेक दुःख पाये, ऐसा हितहित की भावना कर रहित ऐसा व्यसनी जो तू सो तूने इस दोपन विषे आसक्त हुआ और हिताहित की भावना कर रहित ऐसा व्यसनी जो तू सो तूने इस

छन्दः—हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि
नो संगतं दिनविकासि सरोजमिच्छन्।
नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव

प्राय: कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेक: ॥८३॥

अर्थ–जैसे कमल को हसों ने तो भोगा नहीं है और जल से भी मिला हुआ नहीं रहे है, सो अति कठोर है। और दिन ही विषे फूले है सो भ्रमर इस विचार से रहित हुआ हुआ वृथा ही गन्ध का लोभी होय मरा तैसे ही व्यसनियों को अकसर कर अपने हित का ज्ञान नहीं होय है। यहां अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥

भावार्थ–यहां दृष्टान्त कर व्यसनी जीव को अज्ञानी सावत किया है। जैसे भौंरा कमल विषे गन्ध के लोभ से तिष्टता हुआ ऐसा विचार नहीं करे है कि हंस ने इस का सेवन नहीं किया है, यह कठोर है जल से न्यारा ही रहे है। रात्रि विषे मुद्रित होय है, सो वह भौंरा आसक्त हुआ हुआ उस में ही मरण पावे है। तैसे सरागी जीव विषय सामग्री को सुख के लोभ से सेवन करता हुआ ऐसा विचार नहीं करे है। कि महा पुरुषों ने इनका सेवन नहीं किया है, यह भोगादिक कठोर दुःख दायक हैं, इस निर्म्मल आत्म स्वभाव से न्यारे ही रहे हैं। पापके उदय आये नाश को प्राप्त हो जाय हैं। और यह सरागी वृथा ही पाप बन्ध कर नरकादिक का पात्र होय है। सो जो व्यसनी होय हैं उनके अपने हित का विचार नहीं हो सकता आसक्तता

कर पहिले तो कुछ न भासे है जब फल लगे है तब आप ही दुःख भोगवे है आगे उन दोषों को न अवलोकने विषे जो सम्यग्ज्ञान का आभाव है सोई कारण है। क्योंकि संसार विषे भ्रमण करते हुए प्राणी के उस सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का होना अति दुर्लभ है, ऐसे कहे हैं :–

छन्दः–प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥९४॥

अर्थ–इस संसार विषे विचार रूप बुद्धि होनी अति दुर्लभ है। और तिस बुद्धि का होना दुर्लभ है। और परलोक के अर्थ सो बुद्धि को पाय कर जो प्रमादी रहे हैं वह जीव ज्ञानवानों कर शोक करने योग्य हैं॥

भावार्थ–एकेन्द्रियादिक असैंनी पर्य्यन्त सर्व और अपर्य्याप्त आदि कैयक सैंनी इन को तो मन का विचार ही नहीं है और इस संसार विषे इन ही पर्य्यायन विषे बहुत भ्रमण करना पड़े है इसलिये प्रथम तो बुद्धि की प्राप्ति होनी ही कठिन है। और कदाचित् किसी को बुद्धि की प्राप्ति होय है तो परलोक के अर्थ धर्म रूप विचार होना महा कठिन है। अनन्त बार मन सहित होय तो भी धर्म्म बुद्धि किसी ही जीव को होय है। और कोई भाग्य कर धर्म्म बुद्धि को

भी पाय कर जो सावधान नहीं रहे हैं, और धर्म्म साधन विषे शिथिल रहे हैं तिन का शोक बुद्धिमानों को होय है। कि यह जो ऐसे अवसर को भी पाय कर चूके हैं, इनका क्या होनहार है इसलिये धर्म्म बुद्धि पायकर प्रमादी होना योग्य नहीं है। आगे पाई है बुद्धि जिन्हों ने और जो अद्भुत पराक्रम के धारी हैं और लक्ष्मी के प्राप्त होने की अभिलाषा कर जो राजाओं की सेवा करे हैं। उनका पश्चात्ताप करते हुए सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—लोकाधिपाःक्षितिभुजो भुवि येन जाता-
स्तस्मिन् विधौ सति हि सर्व्वजनप्रसिद्धे।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीय वीर्या
स्तेषां बुधाश्च वत किङ्करतां प्रयान्ति॥९५॥

अर्थ—यह सर्व लोक विषे प्रसिद्ध है कि धर्म्म के सेवन से राजादिक लोक के स्वामी होय हैं सो स्तुति के योग्य है पराक्रम जिनका, ऐसे जो अज्ञानी जीव उन राजाओं के किंकर पने को प्राप्त होय हैं। सो ऐसे पुरुष शोक के योग्य हैं। ऐसा कार्य्य किस लिये करे हैं इस विचार

से हम को खेद होय है॥

भावार्थ–जो राजपद है सो धर्म्म का फल है ऐसे लोक विषे प्रसिद्ध है, और धर्म्म साधन की सर्व्व सामग्री मिलने से धर्म्म का साधन होय सके है, सो जो आप बहुत पराक्रमी धर्म के साधने को समर्थ और आप ज्ञानी धर्म्म के फल को पहिचानें। ऐसा होने पर भी जो धर्म को न साधें, और धनादिक के लोभ लिये ही राजाओं को सेवें हैं सो तिनका शोक हम को होय है। क्योंकि जिस धर्म्म का बनाया हुवा राजा भया है उसका सेवन छोड़ कर यह राजा का सेवन किस लिये करें हैं। यहां यह अभिप्राय है कि धर्म्म का सेवन छोड़ अन्य कार्य करना योग्य नहीं है॥ आगे धर्म्म की महिमा के प्रगट करने के लिये। लक्ष्मी की प्राप्ति के निमित्त नमैं हैं प्रजा के मस्तक जिस को ऐसा जो कोई क्षण्ण नामा राजा उसकार धरे हुये निधान का जो कोई स्थानक उस के निरूपण के मिस कर धर्म्म के स्वरूप (वा) फल और मार्ग को दिखावते सन्ते सूत्र कहें हैं:—

छन्दः—यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः
प्रज्ञापारमिताधृतोन्नति धना मूर्द्धन्यां ध्रियन्ते श्रियै।

भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो
व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्य्यमहतां सर्व्वार्थ्यसाक्षात्कृतः ॥९६॥

अर्थ–यहां श्लेष अलंकार किया है। यानि इस श्लोक के दो अर्थ करे हैं, तहां एक अर्थ विषे तो कोई सर्वार्थनामा मन्त्री राजा का भया है उस ने दुर्गमस्थान कि जहां कृष्ण राजा का निधान (दफीना) था वहां जाय कर उसको प्रगट किया है, इस का वर्णन है। सो अब प्रथम अर्थ करये है। सो देश कहिये स्थान उत्कृष्ट है। कैसा है वह स्थान जिस विषे पर्व्वत हैं कैसे हैं पर्वत धारे हैं वडे२ वांस जिन्हों ने फिर कैसे हैं वृद्धि ही कर पाइये है पार जिनका ऐसे बड़े हैं। फिर कैसे हैं, शिखर कर शोभा के अर्थ धारा है ऊंचाई रूप धन जिन्हों ने। ऐसे पर्व्वतों कर संयुक्त देश है। और उस प्रदेश का मार्ग बहुत बड़ा यानि लंबा है, और सर्प्पन के होने कर अति दुर्गम है। यानी वहां जाना अति कठिन है और ऐसा है, कि वहां पूर्वादि दिशाओं की सुध नाहीं रहे है। ऐसा जिसका मार्ग है, सो वह प्रदेश सवन कर जाना जाय ऐसा कहना अयुक्त है। सो हे आर्य्य! तिस प्रदेश का अजानन हारा जो कोई सर्वार्थनामा राजा का मन्त्री उसने साचात् किया है अर्थात् जाय कर प्रत्यक्ष देखा है, ऐसे एक अर्थ विषे तो

सर्वार्थ मन्त्री की प्रशंसा करी। अब इस ही श्लोक का दूसरा अर्थ करे हैं। प्रदेश कहिये धर्म्म और पर कहिये उत्कृष्ट अर्थात् धर्म्म सर्व से उत्कृष्ट है क्योंकि धर्म्म के होते सन्ते ही भूभृत् कहिये जे राजा हैं, सो लोकन कर लक्ष्मी के अर्थ मस्तक कर धारिये हैं। तोक लक्ष्मी के अर्थ राजाओं कों मस्तक नमावें हैं। सो राजाओं के यह धर्म्म ही का फल है। कैसे हैं राजा धारे हैं इक्ष्वाकु आदि राजाओं के महान् वंश जिन्हों ने फिर कैसे हैं, बुद्धि के पार को प्राप्त भये हैं। फिर कैसेहैं धारे है उन्नति और भण्डार जिन्हों ने ऐसे राजा जिस धर्म्म के होते प्रधान होयहैं और तिस धर्म्मरूप प्रदेश का जो मार्ग है सो दान,व्रत आदि भेदन कर अनेक प्रकारका है। और आशा जो वाञ्छा तिस कर रहितहै। और भुजङ्ग जे कामी तिन कर अतिदुर्गम कहिये अगोचरहै। इस लिये जो आर्य्य अर्थात् भोले उन विषे वडे जो है, हम सो तिस मार्ग के प्रगट कहने को अयुक्त हैं। हमारी इतनी शक्ति नहीं है। और मस्तक जे आर्य्य कहिये गणधरादिक सत्पुरुष वा सवन कर सेवने योग्य ऐसा सर्वार्थ कहिये देव तिन कर प्रकट किया है उन का प्रगट किया हुआ, धर्मका मार्ग सर्व के प्रतीति करने योग्य है॥

भावार्थ—यहां कोउ प्रसग पाय सर्वार्थमन्त्री की तो प्रशंसा करी और याही के दूसरे अर्थ विषे धर्म्म का फल वा धर्म्म का मार्ग वा धर्म्म प्रगट करन हारा तिन का स्वरूप कहा

है। आगे शरीरादिक से वैराग्य उपजाय जीव को धर्म्म और अधर्मका मार्ग दिखावता जो मुनि उस कै कुछ भी फल की इच्छा नहीं है। केवल परउपकार ही के अर्थ उनकी प्रवृत्ति है क्योंकि "परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्" ऐसा नीति का वचन है, सोई दिखावते सन्तेसूत्र कहैं हैं॥

छन्दः–शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेपि निवसन्,
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम्।
इमां दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते
यतिर्यातारव्यानैः परहितरतिं पश्य महतः॥ ९७॥

अर्थ–सर्व प्रकार कर अपवित्र शारीरक और मानसिक बहुत बहुत या विषे दुःख पाइये हैं ऐसे इस शरीर विषे तिष्ठता हुआ जो जीव है सो विरक्त नहीं होय है। और यह जीव इस शरीर को देख कर इस से अधिक प्रीति विस्तारे है। सो यह जीव तो ऐसा है। और मुनि है सो इस जीव को सार उपदेश देकर इस शरीर से विरक्त करने का यत्न करे है। सो महामुनि के ऐसे परहित करने विषे जो अनुराग है, तिस को तू देख॥

भावार्थ–जैसे पर जीव भला माने और अपना अभिलाष भी सधै तैसेतो शिक्षा देने वाले बहुत हैं। परन्तु मुनि कै ऐसा परहित विषे अनुराग है। यह जीव तो शरीर को अपवित्र और दुःखका कारण प्रत्यक्ष देखे है परन्तु तौ भी इस से विरक्त न होयहै। इस ही विषे अतिप्रीति करे है। और मुनि हैं, सो जैसे दीपक विषे पड़ते हुवे पतङ्ग को कोई दयावान् बचावे। तैसे इस को उपदेश देकर इस शरीर से विरक्त करे हैं। यद्यपि इस को उपदेश कड़वा भी लगे है। तथापि मुनि यह जाने हैं कि यह बहुत दुखी होगा इसलिये दया कर उपदेश दिया ही करे हैं। उस मुनि कै अन्य कुछ अभिलाषा नहीं है देखो महन्त पुरुष कैसे परोपकारी होय हैं। आगे जीव तो शरीर से विरक्त न होय है और मुनि हैं, सो ज्ञान का उपदेश देकर उस जीव को शरीर से विरक्त करे हैं ऐसा कहे हैं॥

छन्दः–इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम्।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य।
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम्॥ ९८॥

अर्थ–हे जीव ऐसे है वैसे है, इस प्रकार वहुता कहने कार क्या सिद्ध होय है तूने इस संसार विषे यह शरीर वारम्वार भोगा और छोडा है। अव तुझे संक्षेप कार इतना ही कहा जाता है कि जीवन कै यह जो शरीर है सो सर्व्व आपदा का स्थान है॥

भावार्थ–हे जीव यदि तुझे दार्ष्टान्त दृष्टान्त कार वहुत कहा और तेरा भला न हुआ तो वहुत कहना भी निष्फल है। तूने अनादि काल से शरीर धारा तहां अनेक दुःख भोग कार उस को छोड कार नवीन शरीर धारा सो हम संक्षेप कार अव इतना ही कहें हैं। कि यह शरीर ही जन्म, मरण क्षुधा, तृषा रोग आदि सर्व दुःखों का स्थान है इसीलिये शरीर से विरक्त होय जैसे शरीर के सवध का अभाव होय तैसे उपाय करना योग्य है। आगे तिस शरीर को ग्रहण करते सन्ते यह जीव गर्भ अवस्था विषे कैसा होय है, और क्या करे है। सो कहे हैं :–

छन्दः–अन्तर्व्वार्ति वदनविवरे क्षुत्तृषार्त्तः प्रतीच्छन्।
कर्म्मायत्तः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्धया।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरोजन्मनि क्लेशभीतो।
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि॥ ९९॥

अर्थ—हे प्राणी तू माता के उदर रूपी विष्टा स्थान विषे कर्म्म के आधीन हुआ बहुत काल ताईं बधने का लोभ कर अन्तर्वर्ति जो माता का खाया हुआ अन्न उसको अपने मुख रूप छिद्र विषे चाहता भया, कोई बून्द मेरे मुख में पड़े ऐसे मुख फाडे रहे है। हे प्राणी कैसा है तू क्षुधा, तृषा कर पीड़ित है। और उदर का स्तोक चैन है इसलिये तहां तेरा स्वरूप चलने से रहित है फिर उदर विषे निपजे, जे लट आदि जीव तिनका साथी है। ऐसी गर्भ विषे अवस्था होय है। सो हे प्राणी मैं ऐसा मानूं हूं, कि जन्म अवस्था विषे जो क्लेश होय है। तू उस से डरा हुआ फिर जन्म का कारण जो मरण उस से डरे है॥

भावार्थ—शरीर के सम्बन्ध से नरकादिक विषे जो दुःख होय है। सो तो दूर ही रहो परन्तु यह जो उत्तम पर्य्याय है। इस को ग्रहण करते हुए गर्भ विषे तुझे कैसा दुःख भया उस को तो तू चितवन कर हम तो ऐसा माने हैं कि जो तू मरण से डरे है, सो मरण भये पीछे नवीन जन्म धरणा होगा, जन्म विषे तूने दुःख पाया है। इसलिये उसके भय से तेरे मरण का भय पाइये है। इसलिये शरीर की उत्पत्ति विषे ऐसा दुःख जान कर जिस से दुःख न होय सो उपाय करना योग्य है। आगे सम्यग्दर्शन के लाभ से पहिले भये जो पर्य्याय तिन विषे तूने सर्व्व कार्य्य अपने घात ही के अर्थ आचरण किये ऐसा कहे हैं :—

छन्दः अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमुग्धेन भवादितःपुरा।
यदत्र किंचित्सुखरूपमाप्यते तदार्य्यविद्ध्यन्धकवर्त्तकीयकम्॥१००

अर्थ–हे भोले जीव तू ने इस पर्य्याय से पहिले अजाकृपाणीय कार्य्य किया। जैसे अजा जो बकरी उस के मारने के अर्थ कोई छुरी चाहता था। और उस बकरी ने अपने खुर से खोद कर छुरी काढ़ी उस से बकरी का मरण भया। तैसे जिस कारण कर तेरा घात होय अर्थात् बुरा होय सोई कार्य्य तूने किया। कैसा है तू विकल्प जो हेय उपादेय का विचार उस विषे तू मूर्ख है। और इस संसार विषे जो कुछ सुख रूप विषयादिक का सेवन पाइये है उस को तू अन्धकवर्त्तकीयक जान। जैसे कोई आंधा ताली देता हुआ बटेरे को पकड़े। उस का बड़ा आश्चर्य्य जानना॥

भावार्थ–हे जीव तैं बकरी की छुरि वत् अपने बुरा होने का कार्य्य किया। और इस पर्य्याय विषे तुझे कुछ विषय सेवन से सुखसा भया। उस कर तू जानेहैं कि मेरी ऐसी ही अवस्था रहेगी। ऐसे जान निश्चिन्त भया है सो ऐसी भी अवस्था इस संसार विषे आंधे बटेर समान होगई है।' इस लिये इस के भरोसे पर निश्चिन्त रहना योग्य नहीं है, आगे सुख उपजावन

हारे जेवस्तु तिनके अभिलाषी जीवन को यह काम जैसी अवस्था करे है सो कहे हैं ॥

छन्दः—हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोपि ।
पश्यादभुतं तदपि धीरतया सहन्ते
दग्धुं तपोग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते ॥ १०१ ॥

अर्थ—हाय हाय यह बड़ा कष्ट है, कि जो आप को पण्डित ज्ञानी माने हैं तिन को भी यह जो प्रचण्ड काम है सो विना ही अवसर इष्ट स्त्रियों के निमित्त कर खण्डित करे है। ज्ञानी पने को खण्ड२ कर महा दुःख उपजावे है। और वह पण्डित लोग तिस काम को धीरज पने से सहे हैं और तप रूपी अग्नि कर जलावने का उत्साह नहीं करें हैं, सो तू यह आश्चर्य देख।

भावार्थ—काम है सो देवताओं पर्य्यंत सर्व्व जीवन को सतावे है। और जो अपने आप को ज्ञानी माने हैं तिन को भी स्त्रियों के निमित्त से भ्रष्ट कर दुःख उपजावे है। सो देखो जैसे किसी बुद्धिमान् को कोई बाणों कर छेदे है, सो वह तहां साहस कर बाणों की तो मार

खाता रहे और वाण चलावने वाले को मित्र जान, उसके मारने का उपाय न करे उलटी उसकी पुष्टता ही करे सो यह बड़ा आश्चर्य्य है। तैसे कोई आप को ज्ञानी तो मानेहै। परन्तु उसको काम है सो स्त्रीरूपी वाणन कर पीड़े है सो उनकी तो पीड़ा सहा करे और काम को हित जान तपरूपी अग्नि कर उसके भस्म करने का उपाय नहीं करे है। अनेक सामग्रियों कर उसकी पुष्टता ही किया चाहे है, सो यह बड़ा आश्चर्य्य है। आगे काम जलावने को जे उत्साह रूप भये ऐसे कोई एक जीव सो क्या करते भये ऐसा कहे हैं :—

छन्दः--अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियन्दत्तवान्
पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात्परस्त्यक्तवान्।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोप्यन्योन पर्य्यग्रही
देते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः॥ १०२॥

अर्थ–कोई त्यागी तो विषयन को तृण समान अकार्य्यकारी जान कर पुत्रादिक वा याचक तिन को लक्ष्मी देता भया और कोई त्यागी तिस लक्ष्मी को पाप रूप और तृप्ति की

न करन हारी मान कर किसी को भी न देता भया इस प्रकार छोड़ता भया और अन्य कोई त्यागी सौभाग्य दशा को प्राप्त भया सो तिस लक्ष्मी को पहिले ही अकल्याणकारिणी जान कर ग्रहण न करता भया, ऐसे इन तीनों त्यागियों को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जानना ॥

भावार्थ–जो सर्व धनादिक सामग्री का त्याग करे सो तो सर्व्वोत्कृष्ट त्यागी है और उन विषे जो पुत्रादिक को धनादिक दे त्याग करै, सो भी उत्कृष्ट त्यागी है। और जो किसी को भी नहीं देऐसे ही धनादिक का त्याग करे सो जीव उन से भी उत्कृष्ट त्यागी है। क्योंकि उन कै तो कुछ कषाय अंश से किसी को देने का परिणाम भया है। और इन कै ऐसी विरक्तता भई है कि कोई भी ग्रहो या न ग्रहो इनको कुछ प्रयोजन नहीं है। और पहिले ही धनादिक को नहीं ग्रहे कुमार अवस्था विषे ही त्याग करे सो उन से भी उत्कृष्ट त्यागी है। क्योंकि उन्होंने तो भोग कर त्याग किया, और इन कै ऐसी वैराग्यता भई। जो पहिले भोगने के परिणाम ही नहीं भये। ऐसे यह सर्व देने वाले दातार अनुक्रम से उत्कृष्ट उत्कृष्ट जानने। आगे उत्कृष्ट सम्पदाओं को पाकर जो सत्पुरुष छोड़े हैं उन का कुछ भी आश्चर्य नहीं ऐसा दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—विरज्य सम्पदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम् ।
मावमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥१०३॥

अर्थ—जे सत्पुरुष हैं ते विरक्त होय कर सम्पदा को छोड़े हैं। सो यहां क्या आश्चर्य है, ग्लानि सहित जो पुरुष हैं सो भले प्रकार भक्षण किये हुये भोजन को क्या नहिं वमैं अपितु वमैं ही वमैं ॥

भावार्थ—रागभाव होते तो त्याग किये दुःख होय है। और दुःख सहना कठिन है, इसलिये सरागी पुरुष त्याग करे तो तहां आश्चर्य मानिये। और विरागता भये त्याग करने में कुछ खेद नहीं है बलकि सुख होय है। सो सुख को कौन नहीं चाहे है इसलिये विरागी पुरुष त्याग करे तो तहां कुछ भी आश्चर्य नहीं है। जैसे किसी ने भोजन किया था, और उसके ऐसी ग्लानि भई कि इस भोजन से मेरे प्राण जायंगे। तब वह पुरुष उस भोजन का उपाय कर भी वमन करे है। तैसे मिले हुये विषयन विषे भी इन के सेवन से मेरा बुरा होगा, ऐसी उदासीनता भये उपाय कर भी उनका त्याग करिये है यहां कुछ आश्चर्य नहीं है। आगे लक्ष्मी को छोड़ता हुआ यह प्राणी क्या करे है सो कहे हैं:—

छन्दः—श्रियं त्यजन् जड: शोकं विस्मयं सात्त्विक: सताम् ।
करोति तत्त्ववित्त्विच्चं न शोकं न च विस्मयम् ॥१०४

अर्थ—जो मूर्ख पराक्रम रहित पुरुष है सो तो लक्ष्मी को त्याग करते हुए शोक करे है और जो पराक्रमका धारी पुरुष है, सो विस्मय को प्राप्त होय है। और तत्त्व ज्ञानी पुरुष तिस लक्ष्मी को त्यागता हुवा न शोक करे है, और न विस्मय करे है। सो यह वड़ा आश्चर्य है॥

भावार्थ—संसारी जीवन के धनादिक का त्याग करते हुए दोय प्रकार का भाव होय है जो पराक्रम रहित हैं और उस के कोई कारण पाय धनादिक का त्याग होय है तहां वह तो शोक करे है कि यह कार्य्य क्यों भया ऐसे उस के अन्तरङ्ग विषे तो खेद उपजे है और जो पराक्रम का धारक है और उस के कोई कारण से वा अपने उत्साह से धनादिक का त्याग होय है। तहां उसके अन्तरङ्ग विषे गर्व होय है। और तत्वज्ञानी पुरुषों के धनादिक का त्याग होते शोक और गर्व दोनों ही नहीं होय हैं क्योंकि ज्ञानी धनादिक को परद्रव्य जाने हैं। और परद्रव्य का त्याग होते खेद और गर्व दोनों ही नहीं करिये हैं। इसलिये ज्ञानी शोक और गर्व से रहित हुवा हुवा परद्रव्य को त्यागे है। आगे विवेकी पुरुषन कर जैसे

लक्ष्मी तजिये है तैसे ही शरीर भी तजिये है ऐसे दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं:—

छन्दः—विसृश्योच्चैर्गर्भात् प्रभृतिपर्यन्तमखिलं
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराघबहुलम्।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः
सकस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥ १०५

अर्थ—यह शरीर है सो समस्त हि गर्भ से लेकर मरण पर्य्यन्त वृथा क्लेश अपवित्रता भय तिरसकार और पाप जिस विषे बहुत पाइये ऐसा है सो ऐसा इस शरीर को विचार कर ज्ञानीन को तजना योग्य है। और यदि जिस के त्याग से मुक्ति होय तो ऐसा कौन मूर्ख है जो इस के त्याग करने को समर्थ न होय। कैसा है यह शरीर दुष्ट जन के मिलाप समान है॥

भावार्थ—दुःख, अपवित्रता, भय, अपमान, और पाप जहां इन में से एक थोड़ा भी होय तो जे सत्पुरुष हैं ताका त्याग ही करे हैं सो इस संसार विषे तो यह सब ही बहुत घनें सदा काल पाइये हैं इसलिये विवेकियों कर छोड़ देनेही योग्य है। और जहां कोई भी लाभ न

होय तो ऐसा कौन मूर्ख है जो इन को न तजे। जैसे दुष्ट का मिलाप दुःखदायक है तैसे इन को सर्व्व प्रकार दुःखदायक जान छोड़ना योग्य है। जैसे लक्ष्मी और शरीर को अनेक अनर्थों के कारण हारे जान कर छोड़ना कहा है। तैसे आगे रागादिक भी छोड़ने योग्य हैं ऐसा कहे हैं:—

छन्दः—कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं
त्वयापि भूयोज नादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवर्त्तिभि
र्ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम् ॥१०६॥

अर्थ—हे भव्य तूने भी कुज्ञान रागादिक रूप विरुद्ध चेष्टाओं कर वारम्वार जन्म मरणादिक है लक्षण जिस का ऐसा फल पाया है। सो अब तू ऐसी प्रतीति कर कि इनसे विपरीत प्रवृत्तियों कर तिस फल से विपरीत लक्षण लिये जो फल है उसको तू निश्चय से पावेगा॥

भावार्थ—लोक विषे भी जिस कारण से जो कार्य्य उपजो है उस के उलटे कारण से उलटा ही फल उपजे है जैसे गरमी से जो रोग होय तिस से उलटा शीतल वस्तु से तिस रोग का

नाश होय है। इसलिये हे भव्य तूने अज्ञान असंयम कर जन्म मरणादिक दुःख रूप फल पाया है। और जिस कारण से एक ही वार कार्य्य निपजे तहां तो ऐसा भ्रम भी होय सके है कि यह कार्य्य किसी और ही कारण से भया होगा परन्तु संसारी जीवन के तो वारम्वार अज्ञान असंयम ही का सेवन दीखे है। और इन के जन्मादिक दुःख होता दीखे है। इसलिये यहां भ्रम नहीं है। जैसे जिस वस्तु को जिस समय खावे उसी काल में रोग उपजे तो जानिये कि वह वस्तु इस रोग का कारण है। और जो औरन ही के भया होय और अपने आप के न भया होय तो भी भ्रम हो सकता है। सो तू ही मन में विचार कि मैं कैसे परणमूं हूं और कैसा फल पाऊं हूं इसलिये जो तुझे यह फल बुरा लगे है तो तू जैसे अज्ञानादिक रूप परणमे है तैसे परणमनां छोड़ दे और अज्ञान असंयम से उलटा सम्यग्ज्ञान चारित्र है, इस के सेवन किये तिस जन्मादिक फल से उलटा अविनाशी सुख रूप मोक्ष फल पाइये है। सो यहां भ्रम नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञान चारित्र के सेवन हारे थोड़े हैं। और उन कै तत्काल ही अज्ञान असंयम जनित आकुलता मिटने से कुछ सुख होय है। और बहुत सेवन से बहुत सुख होता दीखे है। इसलिये जैसे किसी औषधि के सेवन से रोग घटता दीखे तो तहां जानिये कि इसके सेवन से सर्वरोग का भी नाश होवेगा। तैसे यहां भी निश्चय करना। सम्यग्ज्ञान चारित्र के

सेवन से सर्व दुःख का नाश होगा। इसलिये इन का सेवन करना युक्त है। आगे ऐसे फल को चाहता हुआ तू उस मार्ग विषे गमन कर ऐसा कहे है:—

छन्दः—दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ॥१०७॥

अर्थ—स्व और अन्य जीवों की जो करुणा तिस का नाम दया है इन्द्रिय मन का जो वश करना तिस का नाम दम है परिग्रह का छोड़ना तिस का नाम त्याग है और वीतराग दशा रूप सुखी होना तिस का नाम समाधि है सो इन की जो परिपाटी उस का जो मार्ग उस विषे तू यत्न सहित होता सन्ता सूधा कपट रहित गमन कर, यह जो मार्ग है सो तुझ को वचन से अगोचर और विकल्पों से रहित ऐसा जो कोई परमपद है उस को अवश्यमेव प्राप्त करे है॥

भावार्थ—जैसे कोई इष्ट नगर के सच्चे मार्ग विषे सीधा चला जाय तो वह उस नगर को पहुंचे ही पहुचे। तैसे जो मोक्ष का सच्चा मार्ग सम्यग्ज्ञान चारित्र विषे गर्भित दया, दम आदि विशेष इन विषे कपट रहित प्रवर्तें तो मोक्षको पावै ही पावै। मैं साधन करूं और सिद्ध न होय

ऐसा श्रम करने से शिथिल मत हो इस साधन से सिद्धि अवश्य होय है। आगे विवेक पूर्वक परिग्रह का त्याग रूप जो मार्ग है सो जीवों को मोक्षपद के प्राप्त करन वाला है ऐसे दृढ़ करने को सूत्र कहे हैं :-

छन्दः—विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥ १०९ ॥

अर्थ—जैसे पवन साधन विषे कुटीप्रवेश क्रिया है तैसे सम्यक्ज्ञान से नष्ट कर दिया है मोह जिसने और विशुद्ध है काया जिस की ऐसे जीव को जो परिग्रह का त्याग है, सो अवश्यमेव अजर अमर करे है ॥

भावार्थ—भेद विज्ञान कर मोह का नाश करना सो सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन है। और वाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना सो सम्यक्चारित्र है। तहां सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दृष्टि जीव भया और वह सम्यक् चारित्र अंगीकार करे तो साक्षात् मोक्षमार्ग हुआ मोक्ष को पावे ही पावे इस में कुछ भी संदेह नहीं है सो सर्व कारण मिले कार्य्य का न होना दुर्न्निवार (ना मुमकिन) है। इसलिये रत्नत्रय विषे इन में से कोई न होय तो मोक्ष होने

विषे संदेह होय। सर्व्व तीनों मोक्षके कारण मिले तब मोक्ष होय ही होय ऐसा निश्चय करना। आगे विवेक पूर्व्वक त्यागी पुरुषों में से सर्व्वोत्तम त्याग को करता हुआ जो पुरुष उस की प्रसंशा करते हुए सूत्र कहे हैं :-

छन्दः—अभुक्त्वापि परित्यागात्स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै कुमारब्रह्मचारिणे ॥ १०९ ॥

अर्थ—यह वड़े आश्चर्य्य की वात है कि जिस जीव ने भोग किये विना ही विषयों के त्याग से समस्त विषय अपनी उच्छिष्ट समान किये तिस कुमारब्रह्मचारी के अर्थ हमारा नमस्कार होउ ॥

भावार्थ—पूर्व्वे तीन प्रकार के त्यागी कहे हैं। तिन विषे जिस कै भोग सामग्री का निमित्त आन वना है। और विरागता से उनको विना भोगे ही छोड़े है। कुमार अवस्था विषे ही दीक्षा धारे है वह सर्व्वोत्कृष्ट त्यागी है। जो भोग कर छोड़े तो आश्चर्य्य नहीं इसने तो सामग्री के मिलने पर भी विनां भोग किये ही त्याग किया सो इस का वड़ा आश्चर्य्य है। जैसे किसी के आगे भोजन धरा और वह विना खाये ही उस भोजन को छोड़े तो उस भोजन का नाम

उच्छिष्ट है। तैसे ही इसने सर्व विषयों को बिना भोग कीये ही छोड़े इसलिये सर्व विषय इस ने उच्छिष्ट समान किये तिम को हम नमस्कार करते हैं। आगे ऐसे त्याग करते हुये जीव के परम उदासीनता है लक्षण जिस का ऐसे चारित्र को वर्णन करते हुए सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—अकिञ्चनोहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥ ११०॥

अर्थ—मैं अकिञ्चन हूं यानी मेरा कुछ भी नहीं है ऐसी भावना कर तिष्ठ क्योंकि ऐसी भावना किये तीन लोक का स्वामी होय है। यह योगीश्वरों के जानने लायक ऐसा जो परमात्मा का रहस्य सो तुझे कहा है।

भावार्थ—अज्ञानता में पर विषे ममत्व है। सो पर किसी प्रकार कर भी अपना नहीं होय है इसी कारण यह जीव ऐसी हीन दशा को प्राप्त हो रहा है। और जब ऐसी भावना होय कि कोई भी परद्रव्य मेरा नहीं है तब यह रहस्य कि जिस को योगीश्वर जाने हैं सो हमने तुझ को कहा है। तूभी ऐसी ही भावना कर ऐसी हमने शिक्षा दी है। आगे तप आराधना के स्वरूप को अनुक्रम के अर्थ दुर्लभ इत्यादि सूत्र कहे हैं :—

छन्दः–दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः।
मानुष्यमिहैवतपोमुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम् ॥१११॥

अर्थ–मनुष्य पर्य्याय है सो दुर्लभ है अपवित्र है सुख रहित है जिसका मरण समय नहीं जानिये है ऐसा है। और परम आयु भी जिस का अल्प है और तप है सो इस मनुष्य पर्याय विषे ही होय है। और मुक्ति है सो तप ही कर होय है इसलिये मनुष्य पर्य्याय पाय कर तुम्हें को तप ही करना योग्य है।

भावार्थ–आत्मा का हित मोक्ष है। तिस की प्राप्ति तप विना नहीं होय है क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पूर्वक तप को करे तो साक्षात् मोक्षमार्ग मिले है। और तप है सो मनुष्य पर्य्याय विषे ही होय है। सो अन्यत्र भी ऐसा कहा है॥

उक्तं च–देवाविसयपसत्ता णारया तिव्वदुःक्खसन्तत्ता।
तिरया विवेयवियुला मणुयाणं धम्मसम्पत्ती॥

अर्थ–देवता तो विषयों में आसक्त हैं और नारकी तीव्र दुःख कर तप्तायमान हैं और

तिर्य्यञ्च विवेक रहित हैं इसलिये मनुष्यों के ही धर्म्म की प्राप्ति है । और मनुष्यपर्य्याय वारम्बार पावना अतिदुर्लभ है, इसलिये इस पर्य्याय को पाय कर भी जो तप न करे तो फिर अनन्तानन्त काल भये भी मनुष्य पर्य्याय पावना दुर्लभ है। और जो देववत् यहां सुख होय तो तौभी सुख को छोड़ कर तप करना दुर्लभ होय। सो यहां तो केवल शारीरक और मानसिक दुःख ही की मुख्यता है। दुःख को छोड़ कर तप करने विषे क्या खेद है। और जो मनुष्य का सुन्दर शरीर होय तो उस के बिगाड़ने का भय होय सो यह तो धातु उपधातु कर उपज्या महा अपवित्र है इस को तप विषे लगावने में भय क्या है और देववत् मरण का निश्चय होय तो कितनेक काल तो निश्चिन्त रहिये पीछे ही तप करिये सो मनुष्य के मरण का निश्चय ही नहीं कि यह कब मरे। और जो उत्कृष्ट आयु भी वहुत होय तो मेरा उत्कृष्ट ही आयु होगा ऐसा भ्रम कर विलम्ब करिये सो तो उत्कृष्ट आयु भी थोड़ाही है इसलिये तुझ को प्रमादी न होना सावधान होय तप ही करना योग्य है। आगे तहां द्वादश प्रकार तप विषे मुक्ति के निकट साधन जो ध्यान रूप तप है उस का ध्येय फल आदि दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता

क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्म्मणाम्।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनःसाधनं
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किंवा समाधौ बुधाः ॥११२

अर्थ–समाधि विषे तीन जगत् का गुरु जो भगवान् सो तो आराधना है। और सन्तन कर सराहीये ऐसी प्रवृत्ति करनी। और उस भगवान् के चरणों का स्मरण करना इतना ही क्लेश है और कर्म्मों का प्रकपंपने नाश होना यह खरच है। और साधने का फल मोक्षसुख है और काल कितनायक परिमाण लीये थोड़ा और मन का साधन करना। सो तुम हे ज्ञानी पुरुषो मन विषे नीकै विचार करो कि समाधि विषे क्या कष्ट है॥

भावार्थ–कोई जानेगा तप विषे कष्ट है। कष्ट सहा जाता नहीं तिस को कहिये है। सम्पूर्ण तपों विषे उत्कृष्ट तप ध्यान है। तिसही विषे क्या कष्ट है सो तू कह प्रथम तो नीच का सेवन करने से लज्जादिक का खेद होय है। सो तो ध्यान विषे तीन लोक का नाथ अरहन्तादिक वा तीन लोक का ज्ञायक आत्मा का अराधन करना है। और जो आप को नीच कार्य्य करना पड़े तौभी खेद होय। सो जिस वृत्ति को महन्त पुरुष भी प्रशसैं ऐसी वृत्ति

अङ्गीकार करनी है। और अराधने विषे कुछ क्लेश होय तो खेद उपजै सो सेवन इतना ही है कि भगवान् या आत्मा के चरण या आचरण का स्मरण करना है। और साधन करते कुछ अपना जाता होय तौभी दुःख होय सो जिसका नाश किया चाहिये ऐसा जो कर्म्म उसही का नाश होय है, अपना कुछ भी खर्च होता नहीं। और जो साधन का तुच्छ फल होय तो कुछ कार्यकारी नहीं सो ध्यान का फल सर्वोत्कृष्ट मोक्ष है। और बहुत काल पर्य्यन्त साधन करना होय तहां भी खेद उपजै सो थोड़े ही काल ध्यान किये फल पाइये है। और जो साधन पराधीन होय तौभी खेद होय सो अपने मन ही का साधन करना। अन्य विचार से छुड़ाय भगवन्त विषे लगावना है। सो ऐसा जो ध्यानरूप तप तिस विषे खेद कहां, सो तू ही विचार तप करने विषे अनादर मत करे। कोऊ कहेगा ध्यान विषे तो कष्ट नहीं परन्तु अनशनादि तप विषे कष्ट है। —:(तिस का उत्तर):— अनशनादि तप विषे कष्ट तब होय जब उस को अपने मन से करना न चाहे सो यहां तो जैसे अपना परिणाम प्रमादी न होय और क्लेश रूपभी न होय तैसे ध्यान की सिद्धि के अर्थं अभिलाषा कर अनशनादि करिये है। इसलिये तहां भी कष्ट न होय है। आगे धनादिक की निन्दा करते हुए तप की महिमा दिखावें हैं :—

छन्दः—द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं किमिहेक्षते
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः ।
चरणमपि किं स्प्रष्टुं शक्ताः पराभवपांशवो
वदत तपसोप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम् ॥ ११३ ॥

अर्थ—धन सम्बन्धी विचार सोई भया पवन उस कर धमाये हुये तप्तायमान भये जो जीव उन को यहां सुख कहा देखिये है। यह दुष्ट काम रूप अहेड़ी आत्मा को कुछक दुष्ट करे है। और कष्ट रूपी जो धूलियां हैं सो वह कहा चारित्र के स्पर्शने को समर्थ हैं अपितु नहीं हैं सो तुम बतावो कि मन वाञ्छित अर्थ के सिद्ध करने वाला तप के सिवाय और कौन पदार्थ मानने योग्य है ॥

भावार्थ—जो जीव धन कर युक्त हैं और काम कर पीड़ित हैं और तप के करने को कष्ट मानें हैं उन को संसार में कदापि सुख नहीं हो सकता सुख तो केवल तप करने में ही है। क्योंकि तप करने से ससारिक विषयों की वासना के दूर होने से यहां इस लोक में सुख

प्राप्त होय है, और आगामिकाल में निर्वाणपद पाने कर अनन्त सुख प्राप्त होवे है। इसलिये तप के समान इस लोक और परलोक में कोई भी वस्तु सुख दायक नहीं है, आगे इस ही अर्थ को पुष्ट करे हैं :-

छन्दः—इहैव सहजान् रिपून्विजयते प्रकोपादिकान्
गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति।
पुरुषश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात् स्वयं पायिनी,
नरोन रमते कथं तपसि तापसंहारिणि॥ ११४॥

अर्थ—तप के होते संते यहां ही अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए जे क्रोधादिक वैरी तिन को तत्काल जीतियेहैं। और जिन को यह पुरुष अपना प्राण देकर भी चाहे है असे जो गुण ते परिणमें हैं अर्थात् प्रगटे हैं। और आगामि काल विषे शीघ्र ही पुरुषार्थ जो मोक्ष उस की सिद्धि स्वयमेव प्राप्त होय है। इसलिये आताप का संहार करनहारा जो तप तिस विषे कौन विवेकी पुरुष नहीं रमें अपितु रमे ही रमे॥

भावार्थ–यह जीव तो जिस कार्य्य में आगामि अवगुण होय तत्काल गुण होय, अथवा तत्काल अवगुण होय आगामि गुण होय। उस कार्य्य विषे भी अनुरागी होता देखिये है। और यह तप है सो तत्काल भी गुण करे और आगामि भी गुण करे। सो ऐसे तप को कौन विवेकी न करे। अपितु करे ही करे। तहां इस तप का तत्काल गुण तो इतना है। जो प्रत्यक्ष दुःख दायक अनादिसे लगे जो क्रोधादिक तिनका तो अभाव होयहै, और अपना प्राण खोए भी प्राप्ति होय तौभी जिनको चाहे, ऐसे जे प्रत्यक्ष ज्ञानादिक गुण वा ऋद्धि सन्मानादिक सो अतिशय से स्वयमेव प्रगट होय हैं। और आगामि गुण ऐसा है कि तप के फल से पुरुष जो आत्मा ताका अर्थ जो प्रयोजन मोक्ष उसकी शीघ्र ही सिद्धि होय है। ऐसे इस लोक विषे तप को गुण कर्त्ता जान कर इस विषे रति करनी योग्यहै। आगे तप विषे रत जो जीव सो आयु और शरीर को कैसे सफल करे है। उसको सराहतेसंते सूत्र कहे हैं॥

छन्दः–तपोवल्ल्यां देहः समुपचितपुण्याज्जितफलः
शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः।
व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपयः,

स धन्यः सन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ॥११५॥

अर्थ-जैसे फूल कच्चा फल उपजाय कर आप समय पाय गिर पडे है तैसे जिस का शरीर तप रूपी वेल विषे पुण्य रूपी फल उपजाय कर आप काल पाय नष्ट होय है और जैसे अग्नि विषे जल दूध को वचा कर आप जले है तैसे जिसकी आयु "समाधिहै अन्तिम दशा जिसकी" सो धर्म्म को बचाय कर आप सन्यास रूप अग्नि में जले है सो पुरुष धन्य है ॥

भावार्थ-जैसे बेल विषे फूल लगे सो कच्चा फल उपजाय कर आप झड़ पडे है तैसे जिनका शरीर तप विषे प्रवर्त्या है सो पुण्य को निपजाय कर काल पाय आप नष्ट होय है। और जैसे अग्नि के संयोग से जल है, सो दूध को राख आप जले है। तैसे संन्यास के होते जिन का आयु है सो धर्म्म को राख आप शोषित होय है। ऐसे शरीर और आयु जिनका सफल है, वे पुरुष धन्य हैं। आगे परम वैराग्य कर संयुक्त जीव अपवित्र और दुःखदायक जो शरीर उस विषे रह कर उसका पालना करते हुए तप करें हैं तिसका कारण दोय छन्दों कर कहे हैं :-

छन्दः-अमी प्रकृढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत् ।

तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ॥ ११६ ॥

अर्थ–यह उत्कृष्ट वैराग्य जिनके पाइये ऐसे जीव जो शरीर को भी पाल चिरकाल पर्यन्त तप करे हैं, सो यह ज्ञान की ही महिमा है ॥

भावार्थ–जिससे उदास होइ उसका पालना विरुद्ध है। परंतु जो बुद्धिमान् उसके पालने से ही अपना प्रयोजन सधता जाने तो अपना प्रयोजन जैसे सधै तैसे ही उसको पाले है परंतु अनुराग कर उस को अधिक नहीं पोषे है। सो महामुनि शरीर से उदास भये हैं और इन के ऐसा ज्ञान है, कि मनुष्य शरीर रहे ही तप होय है। इसलिये इसको आहारादिक देकर अपने प्रयोजन के अर्थ राखे हैं। अनुराग कर इसको बहुत नहीं पोषे हैं। ऐसे शरीर को राख बहुत काल पर्यंत तप करना सो यह ज्ञानही का माहात्म्य है। ज्ञान न होय तो अति उग्रता कर शरीर का नाश करे। पीछे देवादिक पर्याय पावै तहां संयम का अभाव होय, सो ज्ञानी ऐसे नहीं करे है:–

छन्दः–क्षणार्द्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः।
यदि प्रकोष्टमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः॥ ११७ ॥

अर्थ–यदि ज्ञान हाथ का पहौंचा पकड़ कर रोकने वाला न होय तो कौन मुनि आधा क्षण मात्र भी शरीर के साथ रहना चाहे अपितु कोई भी रहना न चाहे ॥

भावार्थ–जैसे किसी के साथ पहले तो मित्रता थी, पीछे जब उसका दुष्टपना जाना तब उस से लड़कर उस के साथ को तत्काल छोड़ना चाहा तहां कोई बुद्धिमान् पुरुष उस के हाथ का पहौंचा पकड़ कर उसको समझावै कि ऐसे तो लड़े यह आगामि दुःखदायक होगा। इसलिये कोई दिन इसको साथ में राख निर्बल कर जैसे इसका सत्ता नाश होय, तैसे कार्य्य करना योग्य है। तैसे आत्मा का शरीर के साथ अनुराग था, जब इस को दुख का कारण जाना, तब इस को उग्र आचरण से नाश किया चाहे। तहां जिन वाणी जनित ज्ञान से यह विचार आया कि ऐसे करने से तो फिर देवादि पर्य्याय पावना होगा तहां दुःख उपजेगा। इसलिये कितनेक काल इसको साथ में रख निर्बल कर जैसे फिर शरीर धरना न होय तैसे कार्य्य करना योग्य है ऐसे ज्ञान रोकन हारा न होय तो कौन मुनि शरीर का साथ करे। जो बुरा जान कर भी प्रयोजन के अर्थ शरीर को साथ रखिये है। सो यह ज्ञान ही की महिमा है। आगे इसही अर्थ को दृष्टान्त कर दृढ़ करते सन्ते समस्त इत्यादि दोय श्लोक कहे हैं :–

छन्दः–समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्
तपस्यन्निर्म्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान्।

किलाटष्ट्रिचार्थी स्वयमलभमानोपि सुचिरं
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्य्यवशतः ॥ ११९ ॥

अर्थ–जब श्री वृषभनाथ स्वामी भी समस्त बडे राज्य को तृण की न्याईं छोड़ कर तप करते हुए मान रहित भूखे दीनवत् भोजन के अर्थी होकर बहुतकाल पर्य्यन्त भोजन को न पावते सन्ते भी पर घर नित्य प्रति भ्रमते भये। तब यहां केवल अपने कार्य्य के वश से अन्य पुरुषों को क्यों परीषह न सहना अपितु कार्य्य के अर्थ सहना ही योग्य है॥

भावार्थ–जो कार्य का अर्थी होय सो थोड़ा बहुत कष्ट सहना होय तो कष्ट भी सहे। परन्तु अपने कार्य्य की सिद्धि करे। ताका उदाहरण देखो स्वामी वृषभनाथ जी सर्व्व राज्य को छोड कर अन्तराय के होते हुए भी भोजन के अर्थ जैसे भूखा दीन पर घर जाय तैसे पर घर फिरते भये। जब ऐसे २ महान् पुरुषों ने भी ऐसा किया तो अन्य पुरुषों को क्या लज्जा है। और अन्य को कैसे सुगम सिद्धि होवे इसलिये मोक्ष रूपी कार्य्य के अर्थ थोड़ा बहुत कष्ट सह कर भी मोक्ष का साधन करना योग्य है :–

छन्दः–पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव

स्वयं सृष्टा सृष्टेः पतिरथनिधीनां निजसुतः ।
क्षुधित्वा षरामासान् सकिल पुरुरप्याट जगती
मही केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघ्यं हतविधेः ॥ ११९ ॥

अर्थ—गर्भ से पहिले ही इन्द्र है सो किंकरवत् जोड़े हैं हाथ जिसने ऐसा होता भया और आप स्टष्टि जो कर्म्म भूमि उसका करन हारा भया । और अपना पुत्र है, सो निधि का स्वामी चक्रवर्त्ती भया ऐसा पुरुष जो श्री आदिनाथ स्वामी सो भी छह मास पर्य्यन्त क्षुधावन्त होय पृथिवी प्रति भ्रमता भया, सो बड़ा आश्चर्य्य है कि इस संसार विषे निकृष्ट जो विधाता कर्म्म उस का विलास जो चरित्र है सो अतिशय कर अलंघ्य है अर्थात् कोई भी इस के मेटने को समर्थ नहीं है ॥

भावार्थ—कोई जानेगा कि मैं सुख सामग्री को मिलाय कर दुःख का कारण दूर कर सुखी होजाऊंगा सो संसार विषे ऐसा किसी का भी पुरुषार्थ नहीं है जो कर्म्म का उदय आवे। और उसको दूर करे, जब श्रीवृषभनाथ देव कि जिन के इन्द्र समान तो किंकर और आप सर्व रचना का कर्त्ता ऐसा पुरुषार्थ कर संयुक्त और पुत्र चक्रवर्त्ती ऐसी सामग्री होते भी अन्तराय

के उदय से छह मास पर्य्यन्त भोजन के अर्थ भ्रमण करता भया तब औरन की क्या वार्त्ता इस लिये जो कर्म्म के उदय से थोड़ा वा बहुत कष्ट उपजै तो उसको सह क्योंकि संसार विषे तो कर्म्म ही बलवान् है। और जैसे संसार अवस्था का अभाव होय और अपना हित सधै तैसे निश्चय कर उसका साधन करना। आगे सम्यग्दर्शनादिक जो तीन आराधना हैं सो शास्त्र ज्ञानादिक की प्रधानता कर प्रवर्तने से उनके प्रयोजन की सिद्धि होय है, अन्यथा नहीं। इस लिये अब ज्ञान आराधना के दिखावने को अनुक्रम करते हुए (सिलसिलेवार) प्राक् इत्यादि सूत्र कहे हैं :–

छन्द:–प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम्।१२०

अर्थ–जो संयमी है सो पहिले तो दीपकवत् प्रकाश है प्रधान जिस में ऐसा होवे पीछे तेज और प्रकाश इन कर सूर्य्य समान देदीप्यमान होवे॥

भावार्थ–मोक्ष का साधक है सो प्रथम अवस्था विषे तो दीपक समान होय है। जैसे दीपक तैलादि सामग्री के बल से घट पटादिक का प्रकाशन हारा है। तैसे शास्त्रादिक के बल से जीवादिक पदार्थों का जानने वाला होय है। फिर पीछे उस को सूर्य्य समान होना योग्य है,

जैसे सूर्य्य स्वभाव ही से घने पदार्थों का प्रकाश ने वाला है। और प्रताप का धारण हाराहै। तैसे वह पुरुष स्वभाव ही से पदार्थों का विशेष जानने वाला होय है और तपश्चरणादिक का धारण हारा होय है ऐसा अनुक्रम जानना। आगे ज्ञान आराधना का आराधक जो जीव है, सो दीपक समान होता हुआ इस कार्य्य को करे है ऐसा कहे हैं:—

छन्दः—भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमन्कर्म्मकज्जलम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—जो यह ज्ञानवान् जीव है सो दीपक समान होय कर ज्ञान चारित्र से देदीप्यमान होता हुवा कर्म्म रूपी काजल को वमता सन्ता आपा पर को प्रकाशे है॥

भावार्थ—जो ज्ञान आराधना का अराधक है, सो दीपक समान है। जैसे दीपक दीप्ति सहित प्रकाशता हुवा काजल को वमे है। और आपको और पर जो घट पटादिक पदार्थ उनको प्रकाशे है। तैसे ज्ञानी ज्ञानचारित्र सहित देदीप्यमान होय है। और कर्म्म की निर्ज्जरा करे है। ऐसा होता हुवा आप आत्मा को और पर शरीरादिक को यथावत् जाने है। आगे उस पूर्व्वोक्त प्रकार ज्ञान आराधना का अराधक जो जीव है सो शास्त्र ज्ञान से भया जो विवेक

(तल्लीन) उस कर पूर्व्व क्रम से अशुभ परिणाम को छोड़ शुद्ध परिणाम को आश्रय कर मुक्त होय है ऐसे दिखावते संते सूत्र कहे हैं :–

छन्दः–अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥ १२२ ॥

अर्थ–जैसे सन्ध्या अवस्थाको नहीं प्राप्त हुआ ऐसा जो सूर्य्य उस कै अन्धकारपना प्रगट नहीं होय है। तैसे यह जीव शास्त्र ज्ञान कर अशुभसे छूट शुभ को प्राप्त होताहुआ शुद्धहोय है॥

भावार्थ–जैसे सन्ध्या सम्बन्धी लाली अवस्था को न प्राप्त होता सन्ता जो शुद्ध सूर्य्य है, उस कै अन्धकार प्रगट नहीं होय है। तैसे जो अशुभ राग रहित आत्मा है। सो क्रम से शुभ राग रूप होय शुद्ध केवल दशा को प्राप्त होय है उसके अज्ञानादिक का उपजना न होयहै। यदि यहां कोई यह प्रश्न करे कि ज्ञान आराधना रूप परिणमे हुये जीव के तो तप शास्त्रादिक विषे शुभ-रूप अनुराग से सरागीपना होय है इसलिये उसके मुक्तपना कैसे होय ऐसे प्रश्नका उत्तर कहे हैं :–

छन्दः–विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥

अर्थ-जैसे सूर्य्य के प्रभात सम्बन्धी रक्तता है सो उदय के अर्थ है, तैसे दूर किया है अज्ञानरूपी अन्धकार जिस ने ऐसा जो जीव उसके तप शास्त्रादिक सम्बन्धी जो राग भाव है सो कल्याण के उदय ही के अर्थ है ॥

भावार्थ-जैसे सूर्य्य के अस्तसमय जैसी लाली होय है तैसी ही प्रभात समय होय है। परन्तु प्रभात समय विषे रात्रि सम्बन्धी अन्धकार का नाशकर जो लाली भई है सो आगामि सूर्य्य के शुद्ध उदय का कारण है। तैसे जीव के जैसा विषयादिक विषे राग होय है तैसा ही तप, शास्त्रादिक विषे राग होय है। परन्तु तप शास्त्रादि विषे मिथ्यात्व संबन्धी अज्ञान का नाश कर जो राग भया है सो जीव के आगामि शुद्ध केवल दशा रूप उदय का कारण है। आगे इस से विपरीत राग विषे दोष कों दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं ॥

छन्दः-विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥ १२४ ॥

अर्थ-जैसे सूर्य्य अपने व्याप्त हुए हुए प्रकाश को छोड़ कर और अन्धकार को अग्र-गामी कर लाली को प्राप्त होता हुआ पाताल को चला जाय है, अर्थात् अस्त हो जाय है तैसे

हो यह आत्मा अपने व्याप्त ज्ञान भाव को छोड कर अज्ञानभाव को अग्रगामी कर राग को प्राप्त होता सन्ता नरक में चला जाए है॥

भावार्थ–जैसे अस्त होता हुआ सूर्य्य है सो अपने फैले हुए प्रकाश को तो छोड़े है और अन्धकार को आगामी होनहार करे है। और सन्ध्या समय विषे जो उसका लाल रङ्ग होय है, उसको प्राप्त हुआ हुआ ज्योतिष मत की अपेक्षा या दृष्टि आवने की अपेक्षा पाताललोक को प्राप्त होय है। तैसे भ्रष्ट अवस्था को प्राप्त होता आत्मा है, सो अपने फैले हुए ज्ञानभाव को तो छोडे है। और अज्ञान आगामी होनहार भया है। तिस समय विषे जो हिंसादिक पापरूप होय है। उसको प्राप्त भया जो आत्मा सो पाताल विषे जो पाइये है, नरकादिक वा नीच दशा रूप निगोदादिक पर्य्याय उन को प्राप्त होय है। ऐसे यद्यपि अशुभ शुभ दोउ रागभाव होय हैं। परन्तु नीचे की दशा विषे शुभ राग तो कथञ्चित् आगामि शुद्धता का कारण है इसलिये थोड़ा होय है। परन्तु जो अशुभ राग है सो तो केवल आगामि कुगति ही का कारण है, सो अधिक होय है। इसलिये इसका तो अवश्य त्याग करना। आगे ऐसे चार प्रकार अराधना विषे निष्कपट मन कर प्रवर्त्तै है जो मोक्षाभिलाषी जीव उसको मोक्ष की प्राप्ति निर्विघ्न होय है। ऐसे दिखावते संते सूत्र कहे हैं॥

छन्दः—ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलं
चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गः गुणा रक्षकाः।
पन्थाश्च प्रगुणं शमाम्बु बहुतः छायादयोभावना
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ॥१२५॥

अर्थ—ज्ञान तो जहां आगे चलने वाला और लज्जा साथ चलने वाली और तप रसते का खरच (तोशा) और चारित्र पालकी और बीच में रहने के लिये स्थान स्वर्ग और गुण रखवाले (निघेवान) और सूधा रसता जिस विषे उपशम रूपी बहुत जल पाईये है। और दयारूप छाया और भावना रूपी गमन, ऐसा जहां समाज मिले सो ऐसा समाज तिस मुनि कों उपद्रव बिना भी इष्ट स्थानक को प्राप्त करे है॥

भावार्थ—कोई पुरुष किसी नगर को चले, तहां आगवाणी आदि सामग्री मिलै तो निरुपद्रव नगर को पहुंचे। यहां कोई भव्य मोक्ष को चाहे। तहां ज्ञानादिक सामग्री मिले तो निरुपद्रव मोक्ष को प्राप्त होय। तहां जैसे अगवाणी मार्ग बतावे तैसे ज्ञान तो मोक्षमार्ग विषे

हेयोपादेय तत्वन का निश्चय करावे है और जैसे साथ स्त्री होय तो मार्ग विषे सुखसों चले तैसे साथ धर्म्म सम्बन्धी लज्जा है उस कर मोक्षमार्ग विषे सुख सो प्रवर्तें है और जैसे मार्ग का खरच (तोशा) साथ होय शिथिलता न होय। तैसे तप का साधन कर शिथलता न होय। और जैसे चढ़ने को पालकी होय तो चलने में खेद न होय। तैसे निष्कषाय रूप चारित्र भाव कर मोक्षमार्ग विषे प्रवर्तें तो खेद न होय है। और जैसे मार्ग विषे वसने को स्थान चोखे होयें तो तहां विश्राम होय। तैसे मोक्षमार्ग विषे वसनें को स्थान स्वर्ग हैं, तहां विश्राम होय है। और जैसे रखवाले साथ होयें तो कोई न लूटै तैसे क्षमादिक गुण रखवाले हैं। इसलिये क्रोधादिक नहीं लूटें हैं। और जैसे मार्ग सीधा होय तो सुख सें गमन होय तैसे मोक्षमार्ग सरल कपट रहित है। इसलिये सुख से तहां प्रवृत्ति होय है। और मार्ग विषे जल घना होय तो तृषा दुःख न होय। तैसे मोक्षमार्ग विषे उपशम भाव है। उस कर तृषा का दुःख न होय है। और जैसे मार्ग विषे छाया होय तो आताप न होय। तैसे मोक्षमार्ग विषे स्वदया परदया है। इसलिये सन्ताप न होय है। और जैसे गमन करै तो नगर को पहुंचे। तैसे यहां शुद्ध भावना भावै है। उस कर मोक्ष को पावै है। ऐसे ऐसी सामग्री मिलने से पथिक

इष्ट नगर को पावे है। तैसे मोक्षमार्गी इष्ट मोक्ष पद को पावे है। आगे तिस चलने विषे जो उपद्रव हैं। उनको पांच श्लोकों में कहे हैं ॥

छन्दः—मिथ्यादृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो दृष्टंतदासुस्फुटं
यासामर्द्धविलोकनैरपि जगद्दन्दह्यते सर्व्वतः।
तास्त्वय्येव विलोमवर्त्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमतस्तद्गोचरं मास्मगाः॥१२६॥

अर्थ—सर्प्पों को जो दृष्टिविष जातिके बतावे है,सो झूठ है। क्योंकि हमने तो इन स्त्रियों विषे सो दृष्टिविष मना देखा है, कैसी हैं स्त्रियें जिन के कटाक्षरूप आधे अवलोकन कर भी लोक सर्व्वाङ्गपनै दाह रूप होय हैं। और तिन के त्याग से प्रतिकूली भया जो तू सो तुझ विषे क्रोधवन्त हुई, वह स्त्रियां तुझे भ्रष्ट करने के अर्थ अतिशय कर भ्रमे हैं। सो स्त्री रूप यह केवल विष हैं, इसलिये तू उनके सन्मुख मत प्राप्ति हो ॥

भावार्थ—लोकविषे कोई सर्प्प ऐसे सुनिये हैं कि जिनको देखते ही विष चढ़े है सो यह तो अलंकार करके झूठ बताया और स्त्रियों के कटाक्ष कर तत्काल विष समान आतापकारी

काम विकार उत्पन्न होय है इसलिये स्त्रियों कै दृष्टि विषपना कहा है। और यहां मुनि को यह शिक्षा दी है कि और तो सर्व स्त्रियों के किंकर हैं। और तू तिनका त्यागी भया है। सो इसलिये वह स्त्रियां तेरे भ्रष्ट करने को कारण हो रही हैं। सो तू उन के विषयगोचर मत हो। मोक्षमार्ग विषे स्त्रियों के वशीभूत होना सोई बड़ा उपद्रव है॥

छन्दः—क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगा दृष्ट्वैव काले क्वचित्
तेषामौषधयश्च सन्ति वहवः सद्यो विषव्युच्छिदः।
हन्युः स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा
योगीन्द्रानपि तान्निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च ।१२७

अर्थ—जो सर्प्प हैं वह तो क्रोधवन्त हो कर किसी काल विषे डस कर ही प्राणी को हरें है, सो ऐसी औषधियां बहुत पाइयें हैं। कि उनके विष को फौरन दूर करें परन्तु स्त्रीरूपी जो सर्प्प हैं वह क्रोधवन्त भये भी और प्रसन्न भये भी परलोक विषे और इस लोक विषे वारम्बार उन योगीश्वरों कों उनके देखने से या आप देख कर हनें हैं अर्थात् घाते हैं। कैसे हैं वह स्त्री रूपी सर्प्प कि जिन के विष की कोई भी औषध नहीं है॥

भावार्थ—लोक विषे सर्पों को अतिअनिष्ट जान कर उन से डरिये है और स्त्रियों को बहुत दुष्ट जान इनका विश्वास करिये है, सो यहां स्त्रियों से राग छुडावने के अर्थ सर्पों से भी स्त्रियों के अधिकता दिखाई है। क्योंकि सर्प्प तो क्रोधवान् हुवा ही मारे है और स्त्री क्रोधवन्त हुई तो किसी उपाय कर और अप्रसन्न हुई तो आकुलता वधाय कर जीव को हने है। और सर्प तो डस कर ही प्राणों को हरें हैं। और स्त्रिये देखी हुई वा आप देखकर भी जीव का घात करे हैं। और सर्प्प के विष दूर करने के लिये तो अनेक औषधियां हैं। परन्तु स्त्रियों से भया जो काम का सन्ताप उसकी कोई भी औषधि नहींहै। ऐसे स्त्रीरूप सर्प्प मोक्ष मार्गियों को भी भ्रष्ट करें हैं। इसलिये इन का विश्वास नहीं करना॥

छन्दः—एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि।
तां त्वं संस्कुरु वर्ज्जयान्यवनितावार्त्तामपि प्रस्फुटम्
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः॥१२९

अर्थ–यह मुक्तिरूपी लक्ष्मी मनोहर स्त्री उत्तम नायिका है,सो सामान्य जनों कर वर्जित है। हर एक के इस की प्राप्ति न होय सके है। और जगत् की प्यारी है,अर्थात् यह ऐसी है कि जो इसका स्वरूप जानें वह सर्व इसको चाहें। औरगुणों विषे स्नेहवती है। यह ऐसी है कि जिस विषे गुण होंय उस ही को इस की प्राप्ति होय है। और इस के प्राप्त होने के अर्थ जो तेरी इच्छा है तो तू इस मोक्ष लक्ष्मी ही को रत्नत्रयादिक से आभूषित कर। और प्रगटपने अन्य लौकिक स्त्रियों की वार्त्ता को छोड़। और उस मोक्षलक्ष्मी विषे ही अनुराग को वधाय, ऐसे तुझे उस मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होगी क्योंकि स्त्रियें अकसर करके ईर्षा सहित होय हैं॥

भावार्थ–यहां अलंकार करके मोक्षलक्ष्मी को स्त्री कहा। सो जैसे कोई पुरुष किसी स्त्री को अपने वश किया चाहे तो वह दूसरी स्त्रियों की वार्त्ता भी न करे उसी विषे अनुराग वधावे। और आभूषणादिक से उस को प्रसन्न करे। तो तिस स्त्री को पावे तैसे ही तू मोक्ष लक्ष्मी को चाहे है, तो लौकिक स्त्रियों की वार्त्ता मत कर। उसी ही विषे प्रीति वधाय और रत्नत्रयादिक से उस का साधन कर यह ही सच्चा उपाय है। चूंकि स्त्रियों में परस्पर ईर्षा पाईये है इसलिये विरुद्ध हुई हुई जो होय स्त्रियें उन विषे एक ही का साधन होगा,इसी प्रकार लौकिक स्त्रियों को छोड़ कर मुक्तिलक्ष्मीका साधन कर॥

छन्दः—वचनसलिलैर्हासस्वच्छैस्तरङ्गसुखोदरै
र्वदनकमलैर्बाह्यरम्याः स्त्रियः सरसीसमाः ।
इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेपि पिपासवो
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न्न समुद्गताः ॥१३०॥

अर्थ—स्त्रियें सरोवरी समान हैं। क्योंकि हास्य रूपी निर्मलता और वक्रोक्ति (ठठा) आदि सुखकारी तरङ्ग जिन के पाईये ऐसे वचनरूपी जल और मुखरूपी कमल तिन कर बाह्य विषे रमणीय हैं। सो इन स्त्री रूपी सरोवरियों विषे बहुत से मूर्ख जीव तटही तट विषे तृष्णा वन्त हुए हुए विषय रूपी भयानक नाकू कर ग्रसे हुए फिर नहीं निकसे हैं॥

भावार्थ—जैसे किसी सरोवरी विषे निर्म्मल तरङ्ग लिये जल और कमल पाईये हैं। उन कर वह रमणे योग्य भासे है। और तिस के मध्य विषे नाकू जलचर जीव बसे हैं सो कोई मूर्ख पुरुष तृष्णावन्त भया हुआ तहां जाय कर तट ही विषे खड़ा रहा, सो यह तो तृषा दूर करने को गया था। परन्तु वहां उसको तन्दवा नामा जलचर अपनी तन्तुनियों से खैंच कर

निगल गया और वह निकसा नहीं मरण ही को प्राप्त भया। तैसे यह स्त्रियें हैं, इन विषे हास्य वा युक्ति लिये वचन और मुख की शोभा पाइये है, तिन कर यह वाह्य रमने योग्य भासे हैं। और इन विषे काम सेवन रूप विषय का कारण पना पाइये है। तहां कोई अज्ञानी महोन्मत्ततृष्णावन्त हुआ२ तहां जाय कर दूरही से अवलोकन करने लगा, सो यह तो अपनी चाह मिटावने को गया था, परन्तु वहां काम है, सो उसने अपनी विषय रूप सामग्री से विह्वल कर भ्रष्ट किया फिर यह चेता नहीं। स्थावरादि पर्य्याय ही को प्राप्त भया। इसलिये इन स्त्रियों का विश्वास न करना॥

छन्दः—पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्ज्वाल्य रागानलं
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संवा(संत्रा) सिताः सर्व्वतः।
हन्तैते शरणैषिणोजनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्म्मितम्
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधाधिपस्याकुलाः॥१३१॥

अर्थ—हाय हाय यह बड़ा दुःख है कि पापी और क्रोधी जो इन्द्रिय रूप अहेड़ी तिन कर

शिकार के स्थानक के चौगिरद राग रूपी अग्नि को जलायकर सभ तरफ से डराये हुए ऐसे जो मनुष्य रूपी हिरण वह आकुलतावन्त भये शरण को चाहते हुए काम रूपी अहेड़ियों के स्वामी का जो स्त्री रूपी कपट कर निपजाया मारनेका स्थान उस में जाय हैं।

भावार्थ–जैसे कोई प्रधान अहेड़ी के किंकर शिकार करावने के अर्थ जहां हिरण होंय वहां चौगिरद अग्नि जलावें और एक शिकार करने का स्थानक वनावें। तहां हिरण हैं सो अग्निके भयसे भाग कर उस स्थानको पहुचे कि यहां हम वचेंगे और वहांप्रधान अहेड़ी तिष्टै वह उन को शस्त्रादि से मारे। तैसे प्रधान जो विकार रूपी काम उसके इन्द्रियरूपी जो किंकर वह इस जीव को भ्रष्ट करने के लिये वर्णादिक विषयों विषे रागादि उपजावेहैं। और एक स्त्री रूपी पदार्थ लोक विषे पाईये है। तहां यह जीव राग भाव जनित आकुलता से पीड़ित होय प्राप्त होयहै कि यहां हम निराकुल होवेंगे। सो यहां तो प्रधान काम विकार वसेहै सो उन जीवन को अपने कुचेष्टा रूप बाणों कर भ्रष्ट करे है। तहां वह जीव परम आकुलता को पावें हैं। इसलिये स्त्रियों का विश्वास न करना। आगे ऐसे वाह्य उपद्रव के कारणों विषे प्रवृत्ति को निषेध कर अब अन्तरंग उपद्रव के कारणों विषे प्रवृत्ति को निषेधते सन्ते सूत्र कहे हैं।

छन्दः—अपत्रपतपोग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं
शरीरमिदमर्द्धदग्धशववन्न किं पश्यसि।
वृथा व्रजसि किं रतिं ननु भीषयस्यातुरो
निसर्गतरलाः स्त्रियस्तदिह ताः स्फुटं बिभ्यति ॥१३२॥

अर्थ—हे निर्लज्ज तेरा यह शरीर तप रूपी अग्नि कर अधजले मुरदे के समान भयका और जुगुप्सा (नफरत) का स्थानक होय रहा है। इस को क्या तू न देखे है। वृथा आसक्तताको क्यों प्राप्त होय है। हे भ्रष्ट तू तो आतुर (रोगी) हुआ हुआ स्त्रियों को नहीं डरावे है। संग किया चाहे है। परतु इस लोक विषे वह स्त्रियें सहज ही चंचल और कायर हैं वह तुझ से प्रगट पनें डरे हैं तेरी भयानक मूर्ति देख भागें हैं।

भावार्थ—कोई दीचा धार कर काम विकार से स्त्रियों विषे अनुरागी होय है। उसको यहां शिचा दी है कि यह तेरा शरीर तो तप कर भयकारी और घिनावना ऐसा भया जैसे अधजला मुरदा होय। और तू स्त्रियों का संग चाहे। सो उनका यह स्वभाव है कि जिस का शरीर

सुहावना देखें उस से हास्य करें और जिसका शरीर असुहावना देखें उससे दूर भागें। सो हे निर्लज्ज तेरे उनका संग नहीं होना तूं वृथा ही आपा किस लिये विसारे है। इस पदवीको पाकर तुझ को अपना भला ही करना योग्य है। आगे जिस स्थान विषे तू रति करे है सो कैसा है यह दिखावते संते उत्तुङ्ग इत्यादि तीन छन्द कहैं हैं॥

छन्दः—उत्तुङ्गसंगतकुलाचलदुर्गदूर
मारावलिचयसरिद्विषमावतारम्।
रोमावलीकुसृतिमार्गमनङ्गमूढाः
कान्ताकटीविवरमेत्य न केऽत्र खिन्नाः॥१३३॥

अर्थ—काम विकार से मूर्ख भए ऐसे कौन से जीवहैं जो स्त्री का कटि छिद्र जो योनिस्थान उसको प्राप्त हो कर खेदखिन्न न होय हैं। अपितु सर्व ही तत्काल वा आगामि महाखेद को पावें हैं। कैसा है वह स्थान। ऊंचे और परस्पर भिड गए ऐसे जो दो कुच वही भए पर्व्वत रूप गढ़ उन कर दुःप्राप्य है अर्थात् बहुत दुःख से पाइए है और ऐसा है अतिशय कर त्रिवली रूप

नदी उन कर विषम है पार उतरना जहां। और रोमन की जो पंक्ति वही ठहरे वृक्ष उन कर गमन करने का मार्ग खोटा होरहा है॥

भावार्थ–जैसे जिस स्थानक के मार्ग विषे ऊंचे मिले हुए पर्व्वत होंय और जिस से कठिनता से पार उतरिए ऐसी नदी होय और वृक्षन की सघनता से दुर्गमता होय ऐसे स्थानक को पहोंचने विषे खेद होय ही होय। तैसे योनिस्थानक रमने के पहिले ऊंचे मिले हुए तो कुच हैं। और उस से खेद कर छूटना होय ऐसी त्रिवली है और रोमनि करि दुर्गमता पाइए है ऐसे स्थानक को प्राप्त होने विषे खेद होय ही होय। यह जो प्रत्यक्ष खेद को सुख माने हैं। सो जैसे दुःखिया अपना सिर फोडने विषे सुख माने तैसे काम कर पीडित हुआ यह जीव खेद होने विषे सुख कल्पे है। इस लिये काम विकार मिटावना योग्य है॥

छन्दः–वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य
नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्व्वतस्य।
प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्र

माहुर्बुधा जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः ॥ १३४ ॥

अर्थ–जो ज्ञानी हैं वह सुदती जो अच्छे दांतों वाली स्त्री उस का जघन रन्ध्र जो योनि रूप छिद्र उसको ऐसा कहे हैं कि यह विषयी पुरुषों के विष्टाका घर है अथवा काम का जो शस्त्र उस का घाव है वा विषम रूप पर्व्वत ताका आच्छादित खाडा है वा कामरूप बडे सर्प्प का बिल है॥

भावार्थ–यह जो योनि छिद्र है सो जैसे विष्टा फैंकने का स्थानक होय तैसे कामी पुरुषों के वीर्य्य क्षेपने का स्थानक है । अथवा जैसे शस्त्र का घाव होय तैसे यह काम का शस्त्र जो लिङ्ग उसका घाव है अथवा जैसे पर्व्वत के आडा छिपा हुआ खाडा होवे जो तहां न जानेका कारण होय तैसे यह मोक्ष के आडा ज्ञानी जिस को बुरा जानैं ऐसा तहां न जाने का कारण है। अथवा जैसे जिस बिल विषे सर्प्प रहता होय तहां जो जाय उसको वह सर्प्प डसे तैसे इसविषे काम वसे है। जो यहां रति माने उस को काम मोहित करे है। ऐसे अनेक उपमा कर यह योनिछिद्र अनिष्ट है इसलिये यहां राग न करना॥

छन्दः–अध्यास्यापि तपोवनं वत परे नारीकटीकोटरे
व्याकृष्टा विषयैः पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा ।

प्रोच्चै प्रीतिकरीं जनस्य जननीं प्राग्जन्मभूमिं च यो
व्यतान्तस्य दुरात्मनो दुरदितैर्मन्ये जगद्वञ्चितम् ॥१३५॥

अर्थ–हाय हाय धर्म्म से अलग होकर कोई जीव तप करने का स्थानक जो वन उस को प्राप्त होकर भी विषयों कर प्रेरे हुए जैसे हाथी कपट कर बनाये हुए खाडे विषे पड़े है तैसे विषयी पुरुष स्त्री के कटिछिद्र विषे पडे हैं सो मैं ऐसे मानू हूं कि यह योनि पहिले तो मनुष्य की जन्मभूमि है इस लिये इस की माता है। और इसको जो कुकवि प्रीति करन हारि बतावें हैं सो ऐसे दुष्ट जीवों के दुष्ट वचन कर यह जगत् ठगा गया है ॥

भावार्थ–जैसे हाथी वन विषे स्वाधीन रहे है उसको पकड़ने को कोई कपट की खाडी बनावे तहां विषय सेवन का लोभी हुआ वह हाथी तिस खाडे विषे पड़कर नाना कष्ट सहे तैसे मुनि वन विषे स्वाधीन हैं इन को भ्रष्ट करने को कारण स्त्री की योनिस्थान है तहां विषय सेवन के लोभ से उस योनि विषे रमते हुए पुरुष घनें कष्ट सहे हैं, यहां आचार्य्य कहे हैं कि इस जीव कै काम विकार तो था ही परन्तु कोई शिक्षा देने वाला मिले तो काम विकार घटे सो खोटे कवीश्वर अनेक युक्तियों करि स्त्री के अंगन को रमणीक दिखाय विकार बधावें हैं सो

उन के वचनों कर ठिगाए हुए जीव वचते नहीं और देखो कुकवियों की ढीठता कि जिस योनिस्थान विषे अपना जन्म भया उसही को रमणे का स्थान बतावे हैं यहां यह शिक्षा दी है कि कुकवियों के वहकाने से स्त्री की योनि विषे रागी मत होउ क्योंकि रागी होने से महा कष्ट पावोगे, आगे विष विषे जो अमृत बुद्धि कराय कर प्रवृत्ति करावे सो ठग कहिये है सो स्त्री तो महन्त पुरुषों के भी सन्तापादिक दुःख का कारण होय है इस लिये यह वड़ा विष है ऐसा कहे हैं॥

छन्दः—कण्ठस्थः कालकूटोपि शम्भोः किमपि नाकरोत्।
सोऽपि दन्दह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विषमं विषम्॥१३६॥

अर्थ—रुद्र के कण्ठ विषे तिष्ठता हुआ जो कालकूट विष है सो कुछ भी न करता भया। परन्तु ऐसा भी रुद्र है तौभी स्त्रियों कर संतापित कीजिए है। इसलिये स्त्री अन्य विषों से भी विषम विष है॥

भावार्थ—लोक विषे ऐसा कहे हैं कि कालकूट विष समान और निरुपाय अनिष्ट नाहीं। सो यह स्त्रियें हैं ते उस से भी विषम हैं अर्थात् अत्यन्त निरुपाय अनिष्ट हैं। देखो महादेव कालकूट विष को कण्ठ विषे राखता भया उसको वह कुछभी अनिष्ट न करता भया परन्तु स्त्रियों

ने उस को भी कामपीड़ित कर आताप उपजाया। इसलिये कालकूट से भी स्त्री का विषम पना जान कर जो विष को अमृत बतावें हैं ऐसे ठगों से भी जे स्त्री विषे अनुराग करावे हैं (वह) महा ठग जानने उनके बचनों से स्त्रियों विषे अनुराग न करना॥

नोट—यहा महादेव के काल कूट विष का जो दृष्टात दिया है यह वैष्णवमत की अपेक्षा से दिया है वैष्णवमत मे महादेव के कठ में कालकूट विष बतावे हैं सो यहा केवल दृष्टात मात्र जानना इसके सच्च या झूठ से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि दृष्टांत में हमेशा दृष्टांत के जिस गुण से अपना प्रयोजन सिद्ध होय है उसका वह ही गुण ग्रहण किया जाया करता है शेष गुणो से कुछ प्रयोजन नहीं होता चूंके यह ग्रथ श्री गुणभद्र स्वामी ने अनुमान सवत ६०५ विक्रम में रचा है और वैष्णवमत की कहावतें इनसे पहले की हैं इसलिये इन्हों ने जो यहां यह कालकूट विष का दृष्टांत दिया है इस का कुछ डर नहीं है यह केवल समझाने के वास्ते है इस के झूठ सच्च से कुछ प्रयोजन नहीं है। (बाबू ज्ञानचन्द्र जैनी)

आगे स्त्री के शरीर विषे चन्द्रमादिक के गुण स्थापने से जो प्राणियों के आसक्तता होए है सो अयुक्त है ऐसा कहे हैं॥

छन्दः—तव युवतिशरीरे सर्व्वदोषैकपात्रे
रतिरमृतमयूषाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत्।

ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी
मदनमधुमदान्धे प्रायशः कोविवेकः ॥१३७॥

अर्थ–हे प्राणी सर्व्व दोषन का पात्र ऐसा जो स्त्री का शरीर तिस विषे चन्द्रमा आदि पदार्थन के समान गुण मानने से जो तेरे प्रीति पाईये है । सो यह चन्द्रमा आदि पदार्थ शुचि हैं और शुभ हैं। इन ही विषे प्रीति करनी भली है परन्तु कामरूपी मदिरा का मद कर जो तू अंध भया है सो उस विषे क्या विवेक है ॥

भावार्थ–हे प्राणी खोटे कवि स्त्री के मुखादि अंग विषे चन्द्रमा कमल आदि पदार्थों की उपमा देकर अनुराग करावें हैं सो तू काममदिरा कर अंध भया है और तुझे कुछ भी सूझे नहीं क्योंकि इन हाड़ मास के बने हुए अंगों के चन्द्रमादिक के समान पना कैसे बने और यदि तेरी बुद्धि विषे अनुराग है तो चन्द्रमादिक विषे क्यों न करे परन्तु जैसे कीड़ा विष्टा विषे रतिमानें हैं तैसे तू काम से अंध हुआ हुआ स्त्रियों के अंगों विषे ही रतिमाने है क्यों कि कामांध को भले बुरे का विवेक नहीं होता इसलिये कामांध पने को छोड़ कर विवेकी होना योग्य है । आगे स्त्री के शरीर विषे जो प्रीति है सो मन पूर्व्वक है और मन नपुंसक है सो जो

ज्ञानी पुरुष हैं उनको यह नपुंसक मन जीत नहीं सके है ऐसा दिखावे हैं ॥

छन्दः—प्रियामनुभवत्स्वयं भवति कातरं केवलं
परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ह्लादते ।
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥१३९॥

अर्थ—मन है सो स्त्री को भोगता हुआ आप तो केवल कायर होय है किसी प्रकार भी उस को भोग नहीं सकता और दूसरे जो विषयी इन्द्रिय अर्थात् स्पर्शादिक इन्द्रिय उनके तिस स्त्री को भोगते सते यह हर्ष प्रगट करे है इसलिये यह जो मन है सो केवल शब्द ही से नपुंसक नहीं है। बलकि अर्थ से भी नपुंसक ही है और जो पुरुष भली बुद्धि का धनी ज्ञानी है सो दोनों प्रकार शब्द से भी और अर्थ से भी पुरुषलिंगी है सो इस मनकर कैसे जीता जाय अपितु न जीता जाय ॥

भावार्थ—कोई कहे कि यदि मन विकारी होजाय तो तब विवेकी क्या करे उसको युक्ति कर समझाइये है, मनस् ऐसा शब्द व्याकरण विषे नपुंसक लिंगी कहा है सो यह मनः शब्द केवल शब्द

ही से नपुंसक लिंगी नहीं है बलकि अर्थ से भी नपुंसक ही है जैसे नपुंसक स्त्री के भोगने को तो चाहे परन्तु आप भोग सके नहीं अन्य पुरुष भोगे तिनकी क्रीडा देख आप हर्ष करे तैसे यह मन स्त्री के भोगने को चाहे परन्तु आप भोग कर सके नहीं। स्पर्शादि इन्द्रिय भोग करें तिन की क्रीड़ा देख आप हर्ष करे है। ऐसे यह मन शब्द से और अर्थ से दोनों प्रकार नपुंसक है और जो पुरुष सुबुधी है सो सुबुधीः ऐसा शब्द व्याकरण विषे पुरुष लिंगी है इसलिये शब्द से भी पुरुष है। और सुष्टु बुद्धि जिसके पाइये ऐसा इसका अर्थ है सो स्त्रीका धनी पुरुष ही होय है, स्त्री का धनी स्त्रीं बने नहीं। इसलिये वह सुबुधि अर्थ से भी पुरुष है सो सुधी पुरुष पुरुषार्थ को न सम्भारे तो मन नपुंसक से भी हारे। वरना मन नपुंसक इस सुधी पुरुष को कैसे जीते, इसलिये मन को बलवान् मान अपना पुरुषार्थ न छोड़ना। पुरुषार्थ कर मन विकार का अभावही करना योग्य है। आगे तिस पूर्वोक्त कारण से मनके जीतने के लिये पुरुषों को भला तप करना योग्य है तिस तप को करते हुए जीव कै परम पूज्यपने की सिद्धि होय है ऐसा कहे हैं॥

छन्दः—राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरु तपः पूज्यमत्रापि यस्मात्
त्यक्त्वा राज्यं तपस्यन्नलघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यम्।

राज्यात्तस्यात्प्रपूज्यं तपइति मनसालोच्य धीमानुदग्रं
कुर्य्यादार्य्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ॥ १३९ ॥

अर्थ–सुजनता कहिये नीति तिस सहित तो राज्य और शास्त्र ज्ञान सहित तप यह दोनों पूज्य हैं और इन विषे भी जो राज्य को छोड़ तप करे है सो लघु नहीं होय हैं अर्थात् उच्चपना पावे है परन्तु जो तप को छोड़ कर राज्य करे है सो अत्यन्त लघु होय है अर्थात् नीचपना पावे है इसलिये तप राज्य से भी अधिक पूज्य है सो जो बुद्धिमान् आर्य्य पुरुष हैं वह ऐसे मन से विचार कर पाप से भयभीत होय सर्व प्रकार संसार भय के दूर करने वाले उत्तम तप को करे हैं ॥

भावार्थ–लोक विषे दोनों प्रधान हैं। एक तो नीति सहित राज्य और दूसरा ज्ञान सहित तप, सो जो पुरुष राज्य को छोड़ कर तप करे है सो तो वंदनीय होय है और जो तपको छोड़ कर राज्य करे है सो अतिनिंद्य होय है इसलिये यह निश्चय है कि राज्य से भी तप अधिक प्रधान है सोई प्रत्यक्ष देखिये है कि राजा तपस्वी को वंदे है और तपस्वी राजा को वंदे नहीं सो ऐसे विचार कर संसार से डरा हुआ ज्ञानी जन राज्य को पाप रूप सं-

सार का कारण जान कर और तप को संसार के दुःखका हरण हारा जान कर तप ही को अंगीकार करे है। आगे तपरूपी गुण के नाश से लघुपना होय है इसको दृष्टांत द्वारा दिखावें हैं॥

छन्दः–पुरा शिरसि धार्य्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि।
पश्चात् पादोपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्य्याद्गुणाच्युतिः॥१४०॥

अर्थ–पहिले सुगंधादिक गुणों के होते हुए फूल देवताओं कर भी मस्तक पर धारिए हैं पीछे सुगंधादिक गुणों के जाते रहने से उन फूलों को चरण से भी नाहीं छूवे हैं सो यह न्याय ही है कि गुणों का नाश लघुता को ही करे है॥

भावार्थ–लोक विषे गुण ही कर महिमा है सो देखो जिस फूल को सुगंधादिक गुण होतें महन्त पुरुष भी अपने मस्तक पर रखते थे तिस ही फूल को गुण गए पीछे कोई पगन की ठोकर भी देता नहीं सो यहां भी यही अर्थ समझना कि ज्ञान सहित तप के होते जिसको देव भी पूजते थे उस ही को तप से भ्रष्ट भए पीछे कोई छूवे भी नहीं है सो गुण का नाश लघुपना करे ही करे। इसलिये गुण की रक्षा ही करनी योग्य है और भी यहां इतना और जानना कि कुल के वा पद के और भेषादिक के संबंध से जो बड़ापना मानिये है सो भ्रम है।

क्योंकि एक ही जीव जो पहले गुण होने से वंदनीय था सोई गुणों के गए पीछे निंद्य भया सो पूर्वले अन्य पुरुष तो गुणवान् भए थे और यह आप भ्रष्ट भया तब उनके गुणों से यह कैसे वंदनीय होवे इसलिये ऐसा निश्चय करना कि अपने वर्तमान गुणों से ही पूज्यपना होय है। आगे बहुत गुण होते हुए दोष का अंश भी न रहे और दोष के अंश के रहने से तो दोषमय होना ही भला है ऐसा अन्योक्ति अलंकार कर दिखावते संते सूत्र कहे हैं॥

छन्दः—हेचन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं
तद्वान् भवेः किमिति तन्मयएव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नाऽसि लक्ष्यः ॥१४१॥

अर्थ–हे चन्द्रमा तू कालिमारूप कलंक सहित क्यों भया यदि कलंक सहित ही होना था तो सर्व कलंक मय ही क्यों न भया रे चन्द्रमा अतिशय कर तेरे मल को बतावती हुई ऐसी जो अब शेष रही ज्योति अर्थात् चांदनी उस कर क्या सिद्धि है यहां यह विचार कि यदि तू राहु

वत् ही सर्व काला होता तो किसी के भी टोकने योग्य न होता। यहां अन्योक्ति अलंकार कर चंद्रमा को उलाहना दिया है सो जो मुनि ऊंची पदवी धार तिस विषे दोष लगावे हैं उसको यह उलाहनां जानना जैसे चन्द्रमा उज्ज्वल पदवी का धारक है और उसके किंचित् कालिमा दीखे है उस कर उसको कलंकी कह कर सर्व टोके हैं और जो राहु सारा ही काला है तो उस को वैसा ही जान कर कोई भी टोके नहीं तैसे तू निर्मल ऊंची मुनिपदवी का धारक भया है और तेरे में कोई कुछ दोष भासे है उस से तुझे कलंकी मान सब ही टोके हैं और जो नीचे की गृहस्थ पदवी का धारक सर्व मल युक्त है उसको ऐसा ही जान कर कोई भी टोके नहीं इस लिये चन्द्रमा के मिस कर इस को शिक्षा दी है कि तू दोष सहित क्यों भया क्योंकि यदि दोष सहित ही होना था तो सर्व दोष युक्त ही क्यों न भया ऊंची मुनिपदवी धारे विना नीचली गृहस्थ पदवी ही अंगीकार रखनी थी रे तू कई एक ऊंची मुनिपदवी की क्रियाओं को जो दोष सहित साधे है सो इन कर क्या सिद्ध होय है यह ही तेरे दोष को प्रगट करे है जो तू भी गृहस्थी होता तो अन्य गृहस्थीवत् किसी कर भी तू टोकने योग्य न होता इसलिये हमारी यह शिक्षा है कि यदि ऊचे मुनिपद को धारे है तो दोष को मत धारे और जो दोष को धारे है तो मुनिपद को मत धारे आदि पुराण विषे भी ऐसा कथन है कि ४ हजार मुनि आदिनाथ स्वामी

के साथ दीचाली। पीछे जब भ्रष्ट भए तब तिनको देवता कहते भए कि इस पदवी विषे ऐसा भ्रष्ट आचरण करोगे तो हम दण्ड देवेंगे हां इस पदवी को छोड कर जैसी इच्छा हो वैसे प्रवर्त्तो यहां कोई कहे कि लोक तो जैसे कहै तैसे कहै परन्तु फल तो जितना गुण दोष होता है उतनाही लगे है

—(ताका समाधान)— षट्पाहुड विषे ऐसा कहा है:—

गाथा—जह जायरूव सरिसो तिलतुसमित्तं ण गहदि अच्छेसु।
जइ लेइ अप्प बहुयं तत्तो पुणजाइ णिग्गोय॥

अर्थ—जो यथा जात रूप सदृश नग्न मुनि है सो पदार्थों विषे तिल के तुषमात्र भी ग्रहण न करै है यदि थोड़ा बहुत भी ग्रहण करै तो तिस से निगोद जाय सो यहां देखो गृहस्थ तो बहुत परिग्रह का धारी थोड़ा सा भी धर्म्म साधै तो भी शुभगति पावै और मुनि थोड़ा सा भी व्रतभंग करै तो निगोद जाय इसलिये जो दोष को छिपावै वह गुरु नहीं हैं और जब दुर्जन थोड़े से दोषों को भी देखकर उनको बहुत कहकर प्रगट करै तब धर्म्मात्मा पुरुष अपना दोष जानकर उस के नाश करने को उद्यम करैं हैं ऐसे दोष का प्रगट करना उपदेश के समान गुणकारी होय है इस लिये जो दोषों के कहने वाला दुर्ज्जन है सो इस की अपेक्षा गुरु समान कार्य्यकारी है इसलिये जो धर्म्मात्मा हैं सो दोष छिपावने वाले गुरु से भी अपने दोष कहने

वाले दुर्ज्जन को भला जाने हैं —:(यहां प्रश्न):— दोष प्रगट किये धर्म्म का छेद करने से पाप भी तो होय है तिसका —:(समाधान):— जो ईर्षा कर बुरा करने के अर्थ दोष प्रगट करे उस को तो पाप ही होय है परन्तु जो दयावान् होय कर दोष छुड़ावने के अर्थ दोष प्रगट करे उस को पुण्य ही होय है —:(यहां प्रश्न):— जो दुर्ज्जन तो पापी होय है उसको गुरु कैसे कहा —:(तिस का उत्तर):— दुर्ज्जन तो पापी ही है परन्तु यहां दोष छिपावने वाला गुरु दुर्ज्जन से भी बुरा है। इसलिये यहां प्रयोजन के वश से अलंकार कर गुरु कहा है परमार्थ से गुरु नहीं है इस प्रकार धर्म्मात्मा जन दोष कहने वाले को इष्ट ही माने हैं ॥

छन्दः—विकाशयन्ति भव्यस्य मनो मुकुलमंशवः ।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः ॥ १४२ ॥

अर्थ—जैसे कठोर जो सूर्य्य की किरणें वह कमल की कलियों को प्रफुल्लित करे हैं तैसे कठोर भी गुरु के वचन भव्य जीव के मन को प्रफुल्लित करें हैं ॥

भावार्थ—श्री गुरु दोष छुड़ावने को और गुण ग्रहण करावने के लिये कदाचित्

असुहावने कठोर वचन भी कहैं तो भव्य जीव का मन तिन वचनों से आनन्दित ही होय है अर्थात् उसके चिन्ता और खेद न होय है । जैसे सूर्य्य की किरणें औरों को तो आताप उपजावें हैं परन्तु कमल उन से प्रफुल्लित ही होय है तैसे ही श्रीगुरों का कठोर वाक्य धर्म्मात्माओं के मन को आनन्द ही उपजावे है जब श्रीगुरु धर्म्मात्माओं को दवा २ कर उपदेश देवें तब वह आपको धन्य माने हैं और न्याय भी ऐसेही है कि देखो अनशन तप धारि अन्न का एक दाणा भी ग्रहे तो पापी होय और अनशन व्रत न धरे और अब मौदर्य्यविषे तिस से घना भी भोजन करे तो धर्म्मात्मा ही है इस से यह बात सिद्ध भई कि दोष सहित ऊंची पदवी से नीचली पदवी ही भली है। इसलिये दोषलगाय ऊंची पदवीको विगाड़ना योग्य नहीं। आगे दोष के विद्यमान् होतैं उस को प्रकाश करने वाला और आच्छादित करनेवाला ऐसे दुर्जन और आचार्य्य उनके हितकारी और अहितकारीपना से अराधने और न अराधने के योग्यपना को दिखावते संते सूत्र कहे हैं ॥

छन्दः—दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्त्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं
सार्द्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्।

तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोयं खलः सद्गुरुः १४३

अर्थ–यदि कोई गुरु प्रवृत्ति राखने के अर्थ शिष्य के दोषों को छिपायकर राखे और वह शिष्य उन दोषों सहित शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो जाय तो पीछे वह गुरु क्या करे इस लिये ऐसा गुरु मेरा गुरु नहीं है बलकि जो दोष देखने विषे जैसे प्रवीण होय तैसे निरन्तर अच्छी तरह देख कर मेरे थोड़े से दोषों को भी बहुत से वर्णं बधाय कर प्रगट कहे है। ऐसा यदि दुर्ज्जन भी है तो भी मेरा भला गुरु है॥

भावार्थ–पूर्वं सूत्र विषे दोषवान् की निन्दा करी थी तहां कोई कहे कि अवगुण ग्राही होना युक्त नहीं आपको तो गुण ही का ग्रहण करना योग्य है उस को कहिये है कि जो आप दोष को तो धरे है और अपना ऊंचापना राखा चाहे है सो उसको तो दोष प्रगट करनेवाला बुरा मालूम होय है परन्तु जो धर्म्मात्मा अपनी अवस्था से ऊंचापना नहीं प्रगट किया चाहते हैं और यदि जो कोई उन विषे दोष होय तो उस को दूर किया चाहे हैं इनको दोष प्रगट करनेवाला बुरा नहीं भासे है सो यहां धर्म्मात्मा ऐसे विचारे हैं कि गुण दोष का ज्ञान तो गुरु के उपदेश

से होय है और जो गुरु प्रवृत्ति करावने के लोभ से जैसे अपना संप्रदाय बधै तैसे कीया चाहे और दोषों को न कहे तो तब शिष्य को अपने दोषों का ठीक न होने से वह अपने दोषों को छोड़े नहीं। और जो गुरु तो ऐसे विचारे कि पीछे इस के दोष छुड़ावेंगे। और वह शिष्य शीघ्र ही दोष सहित मर कर कुगति को प्राप्त होय तब गुरु क्या करे। यहां कोई कहे कि कठोर उपदेश से पापी तो दुःख पावे -:(तिसका उत्तर):- जिसको तीव्र कषायी (पापी) जानें उसको कठोर उपदेश नहीं देवैं। तहां मध्यस्थ भावना भावे है, यहां तो शिष्य को यह शिक्षा है कि श्रीगुरु भला होने के अर्थ कठोर वचन कहे हैं कुछ उनके ईर्षा प्रयोजन नहीं हैं इसलिये उन को इष्ट जान कर उन का आदर ही करना योग्य है आगे तैसी वाणी कर धर्म्म के कहने वाले और अंगीकार करनेवाले ऐसे इस काल विषे थोड़े हैं ऐसा कहे हैं :-

छन्द:—लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुञ्च सुलभाः पुरा।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुञ्च दुर्लभाः॥ १४४

अर्थ—पहले काल में तो दोनों लोकों विषे हितकारी ऐसा जो धर्म्म उस के कहने वाले

और सुनने वाले बहुत थे परन्तु करने वाले दुर्ल्लभ थे। लेकिन अब इस काल विषे कहने वाले और सुनने वाले भी दुर्ल्लभ हैं॥

भावार्थ–जो धर्म्म इस लोक और परलोक विषे जीव का भला करे ऐसे धर्म के कहने वाले और सुनने वाले पूर्व अर्थात् चौथे काल विषे घने थे परन्तु अङ्गीकार करने वाले तब भी थोड़े ही थे। क्योंकि संसार विषे धर्म्मात्मा थोड़े ही होय हैं लेकिन अब यह पञ्चम काल ऐसा निकृष्ट है कि जिस विषे सच्चे धर्म्म के कहनेवाले और सुननेवाले भी थोड़े ही जीव पाइये हैं। कहनेवाले तो अपने लोभ और मानादिक के अर्थी भये इसलिये यथार्थ कहें नहीं। और सुननेवाले जड वक्र भए इसलिये परीक्षा रहित हठग्राही हुवे हुवे यथार्थ को सुने नहीं। सो जब कहना और सुनना ही दुर्ल्लभ भया तो तब अंगीकार करने की क्या बात। इस प्रकार इस काल विषे धर्म्म दुर्ल्लभ भया है सो यह न्याय ही है कि यह पञ्चम काल ऐसा निकृष्ट है कि जिस विषे सर्व ही उत्तम वस्तुओं की हीनता होती हुई चली जाय है सो धर्म्म भी तो उत्तम है इस की वृद्धि कैसे होय इसलिये ऐसे निकृष्टकाल विषे जिस को धर्म्म की प्राप्ति होय है वह धन्य है। आगे कोई यह सन्देह करे कि दोनों लोक विषे हितकारी ऐसा जो धर्म्म उस के कहनेवाले जो श्रीगुरु सो वह शिष्य के दोष प्रगट करके उन से उसको निवृत्त करें सो ऐसा करने से तो शिष्य

को अपने दोष प्रगट होने से अनिष्ट संयोग भया इस कारण से वह आर्त्तध्यानी होय कर कुछ भी भले मार्ग विषे न प्रवर्त्तै सो ऐसे संदेह के दूर करने को सूत्र कहे हैं :–

छन्दः–गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीतये ।
कृतं किमपि धार्ष्ट्यतः स्तवनमप्यतीर्थैर्प्रुवतै
र्न तोषयति तन्मनांसि खलुकष्टमज्ञानता ॥ १४५

अर्थ–गुण और दोष के विवेक सहित जो सत्पुरुष हैं उन कर अपने दूषण अत्यन्त प्रगट किये हुए भी बुद्धिमान् जीवों को जैसे भला उपदेश प्रीति उपजावे तैसे अत्यन्त प्रीति के अर्थ होय हैं और धर्म्म तीर्थ के न सेवनेवाले ऐसे जीवों कर ढीठपने से कुछ किया हुआ गुणानुवाद भी उन बुद्धिमानों के मनों को संतोष नहीं उपजावे है उन को अन्यथा ही भासे है इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानता खेदकारणी ही है ॥

भावार्थ–जो जिस का हित चाहे सो जैसे उस का भला होय तैसे ही करे । इस लिये

सत्पुरुष जीव के बुरा होने का कारण जो दोष उसके छुड़ावने के अर्थ दोष भी प्रगट करे हैं। यदि यह दोषों को प्रगट न करें तो अज्ञानी जीव अपने दोषों को कैसे जानें। और विना जाने दोषों को कैसे छोड़ें। और जो जिस से अपना लोभादिक प्रयोजन साध्या चाहैं सो जैसे उस को प्रसन्न होता जानें तैसे ही करें। इसलिये उस जीव के दोषों को भी ढीठपने से गुण ठहराय कर बड़ाई ही करें हैं, यदि यह बड़ाई न करें तो अज्ञानी जीवों का मान कैसे वधे क्योंकि विना मान वधाये वह उनका प्रयोजन किस लिये साधें इसलिये अधर्म्मी बड़ाई भी करे हैं और सत्पुरुष दोष भी प्रगट करे हैं, तहां मूर्ख को तो दोष कहना अनिष्ट भासे है और गुण कहना इष्ट भासे है परन्तु जो विवेकी है वह ऐसे जानेंहै कि जो मेरा भला होने के अर्थ मेरे दोष प्रगट करे है सो यह दोष का प्रगट करना मुझ को भली शिक्षा है ऐसे विचार कर तहां इष्टपना माने है और जो अपने प्रयोजन साधने के लिये मेरे दोषों को गुण ठहरावे हैं वह ठग हैं इन की यह बड़ाई मेरा बुरा होने का कारण है ऐसे विचार तहां अनिष्टपना माने है। इसलिये दोष कहे विवेकियों के आर्त्तध्यान होने का भ्रम न करना। आगे ऐसा कहे हैं कि दोष प्रगट किये दोष देखने से दोष का त्याग करना और गुण के देखने से गुणका ग्रहण करना यह बुद्धिमानों के करने योग्य कार्य्य है :—

छन्दः—त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषांवरः॥ १४६॥

अर्थ—दूर भई है अन्य प्रयोजन की आवश्यकता जिन विषे और गुण दोष ही कारण हैं जहां ऐसे जो ग्रहण और त्याग जिस जीव कै पाइये सोई अज्ञानियों विषे प्रधान जानना।

भावार्थ—किसी को ग्रहण करना किसी को त्याग करना ऐसी जीवों के प्रवृत्ति पाइये है सो जहां सम्यग्दर्शनादिक गुण जिन कर निपजैं तिनका तो ग्रहण करना और मिथ्यात्वादिक दोष जिन कर निपजैं तिन का त्याग करना ऐसे गुण और दोषकी अपेक्षा लिये जिन कै ग्रहण और त्याग पाइये हैं अन्य कुछभी विषय कषायादिकका प्रयोजन न पाइये वह ही जीव उत्कृष्ट ज्ञानी जानने क्योंकि यह अपना हित साधे हैं और जो अपना हित साधना सोई बुद्धिमानों के करने योग्य कार्य्य है। आगे अन्यथा ग्रहण त्याग विषे दूषण कहे हैं॥

छन्दः—हितं हित्वा हिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम्।
विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः॥ १४७॥

अर्थ—हे जीव तू हित को छोड़ अहित विषे तिष्टकर दुर्बुद्धि होता हुआ आप को दुःखी करे है इसलिये तू सुबुद्धि होकर उस से उलटा भाव जो अहित को छोड़ हित विषे तिष्टना तिस विषे वृद्धि को प्राप्त हो ऐसे तू आप को सुखी करेगा ॥

भावार्थ—हे जीव तैं सम्यग्दर्शनादिक हितकारी गुण रूप जो कार्य्य उस का तो त्याग किया और मिथ्यादर्शनादिक अहितकारी जो दोष रूप कार्य्य उस को ग्रहण किया सो ऐसे त्याग ग्रहण से तो तू अनादि ही से दुःखी भया है। सो तूही अपनी अवस्था को विचार कि मैं कैसे परणमा और उस का फल मुझे क्या भया और यदि तू उस से उलटा परणमें अर्थात् गुण को ग्रहण करे दोष को तजे तो तू अवश्य सुखी होय क्योंकि कारण उलटा भये कार्य्य भी उलटा होय है जैसे जल को छोड़ अग्नि का सेवन किये आताप होय है और अग्नि को छोड़ जलका सेवन करे तो शीतलता होय है तैसे यहां भी जिन अनादि परिणामों से दुःखी भया है उन से उलटा परिणमै तो सुखी होय सो अनादि से तो गुण को छोड़ दोष को सेवन कीया इस लिये अब तुझे दोष को छोड़ कर गुण को ही ग्रहण करना योग्य है। आगे कहे हैं कि कारण सहित गुण और दोष जानने से बुद्धिमान् पुरुष क्या करे हैं ॥

छन्दः—इमे दोषास्तेषाम्प्रभवनममीभ्यो नियमितो
गुणाश्चैतास्तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः।
त्यजंस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजन्
स विद्वान् सद्वृत्तः सहि सहि निधिः सौख्ययशसोः॥१४९

अर्थ—यह जो दोष हैं सो निश्चय कर इन कारणों से उपजे हैं और यह जो गुण हैं सो इनका उपजना इन कारणों से होय है ऐसे जान कर जो पुरुष त्यागने योग्य कारणों को तो शीघ्र ही छोड़े है और हित के कारणों को ग्रहण करे है सोई जीव ज्ञानी है और सोई सम्यक्चारित्री है और सोई सुख और यश का निधान है॥

भावार्थ—जो विवेकी पुरुष है सो पहिले तो दोषोंको और गुणोंको पहचाने है फिर विचार करने से मिथ्यात्वादिक तो दोष ही भासे हैं क्योंकि यह आत्मा को दुःखी करे हैं और सम्य-क्त्वादिक गुण ही भासे हैं क्योंकि यह आत्मा को सुखी करे हैं तथा दोषों के और गुणों के कारणों के पहचानने से और तहां विचार करने से कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रादिक वा विषयादिक सामग्री

यह सर्व दोषों के कारण हैं और सुदेव सुगुरु और सुशास्त्रादिक वा व्रत संयमादिक गुणों के कारण हैं ऐसा निश्चय भये तजने योग्य जे दोषों के कारण उन को तो तजे हैं और ग्रहण के योग्य जो गुणों के कारण उन को ग्रहण करे हैं। सो तहां दोष गुण और तिन के कारण इन को जो निश्चय कर जानना सो तो सम्यग्दर्शन सहित सम्यक्ज्ञान है और सर्व दोषों के कारणों को छोड़ कर जो गुणों के कारणों को ग्रहण करना सो सम्यक्चारित्र है ऐसे यह तीनों मिल कर मोक्षमार्ग होय है इन का फल जो मोक्ष सो प्राप्त होय है। तहां अनन्त सुख को अनुभवे है। और उस की सर्व प्रकार महिमा होय है। इस लिये प्रथम ही गुणों और दोषों के कारणों को जानना योग्य है। आगे ऐसा कहे हैं कि विवेकी जीव कर हित की वृद्धि और अहित का नाश यह दोनों कार्य्य करने योग्य हैं। क्योंकि विवेकी विना अन्य जीवों के वृद्धि और नाश समान हैं ॥

छन्दः—साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्म्मयोगात् ।
धीमान्सयः सुगतिसाधनवृद्धिनाश

स्तद्वात्ययाद्विगतधीरपरोभ्यधायि ॥ १४९ ॥

अर्थ–पूर्व्व जन्म विषे सञ्चय किये हुए पुण्य और पाप रूपी कर्म्मों के संयोग से शरीरादिक का बढ़ना और घटना तो सर्व प्राणियों के समान है परन्तु बुद्धिमान् पुरुष वह ही है कि जिस के सुगति के कारण वृद्धि और नाश पाइये हैं और निर्बुद्धि जीव वही है कि जिसको दुर्गति के साधन वृद्धि और नाश पाइये हैं ऐसा श्रीगुरु ने कहा है ॥

भावार्थ–लोक विषे धनादिक की वृद्धि भये और दरिद्रादिक के नाश भये जो जीव को बुद्धिमान् मानिये है और दरिद्रादिक की वृद्धि भये और धनादिकका नाश भये जीवको निर्बुद्धि मानिये है सो यह मिथ्या है क्योंकि पूर्व उपार्ज्जित पुण्य और पाप के उदय से जो कार्य्य होयहै सो सर्व जीव के स्वयमेव होय है ऐसी वृद्धि और नाश विषे जीव का कुछ कर्त्तव्य नहीं है सो प्रत्यक्ष देखिये है कि कोई बहुत बुद्धिमान् भी दरिद्री है और कोई सर्व प्रकार मूर्ख भी धनवान् है । और एकही जीव जिस बुद्धिसे घना धनवान् भया वह ही जीव उस ही बुद्धि से निर्धन होता देखिये है इसलिये ऐसी वृद्धि और नाश विषे तो बुद्धि का कुछ भी प्रयोजन नहीं है यहां पुरुषार्थ मानना निरर्थक है। परन्तु सम्यक्तादिक धर्म्मरूप भावन की वृद्धि भये जो बुद्धि मानिये

सो सत्य है, क्योंकि ऐसी बुद्धि नाश विषे जीव का कर्त्तव्य है। जैसा अपनी बुद्धि का विचार होवे तैसा कार्य्य जीव का किया हुआ किसी ही जीव कै होय है। सो प्रत्यच कोई तो तिर्य्यं-चादिक भी अपनी बुद्धि से धर्म्म साधन कर स्वर्गादिक को प्राप्त होय है और कोई राजा-दिक भी निर्बुद्धि होकर अधर्म्म साधन कर नरकादिक को प्राप्त होय है। इसलिये इस ही बुद्धि नाश विषे बुद्धि का प्रयोजन जान यहां ही पुरुषार्थ करना योग्य है॥ आगे ऐसा दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं कि जे सुगति के साधन धर्म्म रूप भाव हैं उन को [illegible] करण हारे जीव थोड़े हैं॥

छन्दः—कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनपदोस्त्याश्रमवताम्।
नतानामाचार्य्या न हि नतिरताः साधुचरिता
स्तपस्तेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः॥ १५०

अर्थ—इस कलिकाल विषे नीति ही दण्ड है क्योंकि दण्ड ही से न्याय मार्ग चले है और सो दण्ड राजाओं कर दिया जाय है क्योंकि राजा बिना और कोई भी दण्ड देने को समर्थ

नहीं है और सो राजा धन के अर्थ न्याय करे हैं क्योंकि धन आवने के प्रयोजन विना राजा न्याय नहीं करे हैं और यह धन आश्रमी मुनियों कै नहीं पाइये क्योंकि उन का भेष धनादिक रहित है इसी कारण से भ्रष्ट भए मुनियों को राजा न्याय मार्ग विषे चलावते नहीं। और जो आचार्य हैं वह आप को विनय नमस्कारादिक करावने के लोभी होने के कारण नम्री भूत भये जो मुनि उनको न्याय मार्गविषे प्रवर्त्तावें नहीं इसलिये इस कलिकाल विषे तपस्वी जो मुनि उन विषे भी मुनि का भला आचरण जिन कै पाइये ऐसे शोभायमान उत्कृष्ट रत्नत्रयधारी मुनि थोड़े हैं॥

भावार्थ–इस पञ्चम काल विषे जीव जड़ (मूर्ख) वक्र (कुटिल, शरारती) उपजे हैं सो दण्ड के भय विना न्याय विषे नहीं प्रवर्त्तें हैं सो दण्ड देने वाले पुरुष लोकपद्धति विषे तो राजा हैं और धर्म्मपद्धति विषे आचार्य हैं तहां राजा तो जहां धन का प्रयोजन सधै तहां न्याय करे है, सो मुनियों के धन नहीं है इसलिये राजा मुनियों को न्याय मार्ग विषे चलावें नहीं जैसे उनकी इच्छा हो तैसे प्रवर्त्तें और जो आचार्य हैं वह विनय के लोभी भए दण्ड देवें नहीं सो भय विना मुनि स्वच्छन्द भए हैं इसलिये कोई विरला मुनि ही यथार्थ धर्म्म के साधन करनेवाला पाइये है। आगे ऐसा कहे हैं कि जो मुनि आचार्य को नहीं नमै हैं उन की आज्ञा नहीं मानें हैं और स्वच्छन्द होय प्रवर्त्तें हैं उन मुनियों की सङ्गति करनी योग्य नहीं:–

छन्दः—एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणै

रङ्गालग्न शरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः।

सन्धर्त्तुं बिषयाटवीस्थलतले स्वान्क्वाप्यहो न क्षमाः

मावाजीन्मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान् ॥ १५१

अर्थ—हे भव्य जो मुनि स्त्रियों के कटाक्ष रूपी दृष्टियों से ग्रसे हुए अङ्ग में लगे हुए बाण से दुःखी भए हिरण के समान विषय रूपी जङ्गल के स्थल में कहीं भी अपने आपको रखने को असमर्थ व्याकुल हुए २ फिरें हैं और वायुसे उड़ाए हुए बादलों के समान चंचल हैं तौभी अपने आपको मुनि मानेहैं तू ऐसे मुनियोंकी सङ्गति मतकर क्योंकि यह यथार्थ से मुनि नहीं हैं।

भावार्थ—जैसे हिरण के अङ्ग विषे बाण लगा होय और वह उस की पीड़ा से व्याकुल हुवा हुवा कूदता फिरे कहीं भी वन भूमि विषे स्थिर रहने को समर्थ न होय तैसे ये भ्रष्ट मुनि वृथा आप को मुनि माने हैं क्योंकि इन के अन्तरङ्ग विषे तो स्त्रियों का कटाक्ष रूपी अवलोकन सोई भया काम का बाण सो लगा है सो यह उस की पीड़ा से व्याकुल हुए हुए भ्रमें हैं।

क्योंकि काम की तीव्रता कर धर्म्म साधन करना तो दूर ही रहो परन्तु देखना सूंघना सुनना इत्यादि विषयन विषे भी मन को स्थिर नहीं कर सके हैं। सो जैसे पवन कर उड़ाए हुए बादल चञ्चल होय हैं तैसे विकार भाव कर भ्रष्ट किए हुए यह भ्रष्टमुनि चञ्चल होय हैं। सो उनका तो होनहार ही ऐसा है। परन्तु हे भव्य तेरै कुछ धर्म्म वृद्धि है इसलिये तुझे शिक्षा देवें हैं ऐसे भ्रष्ट मुनियोंकी सङ्गति करेगा तो तू भी उनका साथी होइ दुर्गति को प्राप्त होगा। यहां यह भाव है कि भ्रष्ट मुनियों की सङ्गति करनी योग्य नहीं है। आगे भ्रष्ट मुनियों की संगति को न पावता हुआ तू ऐसी सामग्री पाय कर याचना रहित हुवा तिष्टिऐसीसीख देते हुए सूत्र कहे हैं:—

छन्दः—गेहं गुहा परिदधासि दिशोविहायः
संयानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धिः।
प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणाः कलत्र
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम् ॥१५२॥

अर्थ—हे आगम के अर्थ को जाननेवाले प्राणी तेरा गुफा तो मंदिर है और दिशाओं को

आत्मा अ० २०५

तू पहरे है। आकाश तेरी असवारी है और तप का जो बढ़ना सोई तेरा इष्ट भोजन है और गुण ही तेरी स्त्री है इस प्रकार तू ऐसा भया की तेरी वृति याचना करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे किसी से कुछ भी मांगने की आवश्यकता नहीं है सो अब तू वृथा ही याचना करे है तुझे दीन होना योग्य नहीं है॥

भावार्थ–लोक विषे इतनी वस्तुओं की इच्छा भए याचना करिए है । प्रथम तो धन को याचिये है सो तूने आगम का जो अर्थ सोई भया सर्व मनोरथ का साधनहारा अटूट धन सो पाया है फिर मंदिर को याचिये है सो गुफा आदि स्वयमेव बने हुए तेरे मंदिर पाइये हैं और फिर वस्त्र को याचिये है सो तू दिशा रूपी वस्त्र को पहरे है अर्थात् दिगम्बर भया है फिर असवारी को याचिये है सो आकाश रूपी असवारी तेरे पाइये है जहां इच्छा होय तहां गमन कर। फिर भोजन को याचिये है सो तप का बधना सोई तेरे तृप्ति का उपजावनहारा इष्ट भोजन है फिर स्त्री को याचिये है सो क्षमा आदि गुण वही तेरी रमावनहारी स्त्री है इस प्रकार तेरे सर्व ज़रूरी सामग्री पाइये है सो अब तुझे किस वस्तु की आवश्यकता है कि जिसके लिये तू याचना करे तेरी तो दीनता रहित सर्वोत्कृष्टवृति भई है इसलिये तू याचना रहित तिष्ट और जो याचना करे है सो छोटा है और जो याचना न करे है सो ऐसी शिक्षा तुझे दी है। आगे जो याचना करे है सो छोटा है

बडा है ऐसे दिखावते हुए सूत्र कहे हैं॥

छन्दः—परमाणोः परं नाल्पं नभसो न महत्परम्। इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥१५३॥

अर्थ—परमाणु से अन्य कोई छोटा नहीं और आकाश से अन्य कोई बड़ा नहीं ऐसा कहने वाला जो पुरुष है क्या उसने दीन और अभिमानी को देखा नहीं था॥

भावार्थ—परमाणु से तो कोई छोटा नहीं और आकाश से कोई बड़ा नहीं यहां यह मालूम होय है कि ऐसा कहने वाले पुरुष ने दीन और अभिमानी को देखा नहीं क्यों कि जो दीन को देखता तो परमाणु से भी दीन को छोटा कहता और अभिमानी को देखता तो आकाश से भी अभिमानी को बड़ा कहता। यहां यह भाव है कि जो याचना करने वाला दीन पुरुष है सो धर्म्म वा मानादिक के घटने से सबसे छोटा है और याचना न करे ऐसा जो अभिमानी है सो धर्म वा मानादिक के बढ़ने से सर्व से बड़ा है —:(यहां प्रश्न):— जो दीन के मानादि घटे तहां धर्म्म कैसे नहीं और अभिमानी के मानादिक वधे तहां धर्म्म कैसे होय क्योंकि कषाय के और धर्म्म के तो प्रतिपक्षीपना पाईए है —:(ता का समाधान):— किसी कषाय की तीव्रता

कर कोई कषाय घटे तो तहां धर्म्म नहीं। सो दीन के लोभ कषाय की तीव्रता कर मानादिक घटे है इसलिये इसके धर्म्म नहीं पाप ही उपजे है और मानी के सर्व कषाय घटने से भ्रम कर कोई अवस्था कषायी कैसीभी भासे तहां धर्म्म ही है सो यहां मान कषाय वाले का नाम अभिमानी नहीं है लोभ से किसीको याचै नहीं तिसका नाम अभिमानी है सो इसके सर्व कषायमंद होने से लोभ कर पापी जीवों को नमे नहीं है इसलिये भ्रम कर अभिमानी के समान भासे है परन्तु अभिमानी नहीं है इसलिये इसके धर्म्म ही है ऐसे जानकर दीनता न करनी। आगे कोई यह पूछे है कि याचक का गौरवपना कहां गया जिस कर उसके लघुपना भया है ऐसे प्रश्न का उत्तर कहे हैं।

छन्दः—याचितुर्गौरवं दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा ॥१५४॥

अर्थ—मैं ऐसा मानूं हूं कि याचक का गौरव दातार के विषे मिल गया क्यों कि ऐसा न होय तो याचना के काल विषे याचना रूप और देनें रूप हैं अवस्था जिन की ऐसे यह दोनों बड़ा और छोटा कैसे होवें।

भावार्थ—उत्प्रेक्षा अलंकार कर आचार्य्य कहे हैं कि हम को ऐसे भासे है कि पहिले

तो दोनों पुरुष समान थे फिर जिस समय यह याचक याचना करे और दातार देवे तिस समय याचक का वड़ापना निकस कर दातार विषे मिल गया इसलिये तत्काल याचक तो लघु होय है और दातार महंत होय है जो ऐसे न होय तो तिस समय याचक संकोचादि रूप कर हीन कैसे भासे और दातार प्रफुल्लितादि रूप कर महंत कैसे भासे। इसलिये दीनपना निषिद्ध है। यहां कोई कहे है कि ऐसे है तो मुनि भी तो दान लेवे हैं। उन को भी हीन कहो। (इसका उत्तर) मुनि हैं सो याचना कर दीन होय दान नहीं लेवे हैं। जैसे कोई राजा की भेट करे तैसे भक्त पुरुष विनय से विना मांगे ही दान देवें हैं। तहां भी वह मुनि लोभ से आसक्त होय ग्रहण नहीं करें हैं इसलिये यह हीन नहीं हैं। क्योंकि जो लोभ से दीनता कर लीया चाहे सोई पुरुष हीनता को प्राप्त होय है। आगे लेनेवाले और देने वाले की गति विशेष को दिखावते हुए सूत्र कहे हैं॥

छन्दः—अधोजिघृत्तवोयान्ति यान्त्पूर्ध्वमजिघृत्तवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वानामोन्नामौ तुलान्तयोः॥१५५॥

अर्थ–जिन कै ग्रहण करने की इच्छा पाइए है ऐसे जे जीव हैं वह अधोगति को प्राप्त

होय हैं और जिन के ग्रहण करने की इच्छा नहीं है ऐसे जो जीव हैं वह ऊर्द्धगति को प्राप्त होय हैं सो तराजू के दोनों पलड़े तिनका नीचा ऊंचा होना मानो स्पष्ट प्रगट करे हैं ॥

भावार्थ–तराजू के दोनों पलड़े समान हैं तहां जो अन्य वस्तु ग्रहण करे सो तो नीचा होय है और जो अन्य वस्तु न ग्रहण करे सो ऊंचा होय है सो यह पलड़े ऐसे ऊंचे नीचे होते हुवे मानों यह बतावे हैं कि जैसे हमारी दशा होय है तैसे ही जो लोभ कर ग्रहण करेगा सो तत्काल ही नीचा होगा अर्थात् आगामि नरकादिक नीची गतिकों प्राप्त होगा और जो लोभ छोड़ ग्रहण न करेगा सो तत्काल भी ऊंचा रहेगा और आगामि स्वर्ग मोक्ष ऊंची गतिको प्राप्त होगा। ऐसे युक्ति करि यह प्रयोजन दिखाया है कि दीनता कर हीनता और दुर्गति होय है। इस लिये दीनता न करनी। यहां कोई पूछे कि दीनता विषे ऐसा क्या पाप है –:(तिसका उत्तर):– दीन पुरुष के लोभ कषाय ऐसा तीव्र होय है कि जिस कर अन्य कषाय भी निर्व्वल हो जाय हैं लोक लज्जा भी मिटजाय है धर्म्म को भी गिने नहीं बहुत कहां तक कहिये जो सर्व्वोत्कृष्ट है उसका भी अपमान कराय अपना प्रयोजन साधा चाहे है इसलिये दीनता महापाप है। आगे याचकों के मनोवाञ्छित अर्थ की सिद्धि न करे ऐसा जो ईश्वरपना है उस से तो दरिद्रीपना ही भला है ऐसा दिखावते हुए सूत्र कहे हैं ॥

छन्दः—सस्वमाशासते सर्व्वे न स्वं तत्सर्व्वतर्पियत् ।
अर्थिवैमुख्यसंपादि सस्वत्वान्निःस्वता वरा ॥ १५६ ॥

अर्थ–सस्व कहिये धनादिक सहित जो पुरुष हैं उनको सर्व्व ही याचे हैं और इतना धनादिक नहीं होय जो सर्व्व की तृप्ति करे इसलिये याचकों को विमुख करनेवाला ऐसा जो धन सहितपना है तिस से तो धन रहितपना ही भला है ॥

भावार्थ–कोई जानेगा कि धनवान् भए याचकों के मनोरथ पूर्ण करिये हैं इसलिये धनवान् होना भला है । सो ऐसा धनवान्पना किसी कै भी न होय कि जिस करि सर्व अर्थियों के मनोरथ पूर्ण कर सके । यहां किंचित् धनवान् पना होय है सो जब सर्व्व याचक याचना करें और उन की आशा पूर्ण होय नहीं तब वह अर्थी इस से दुःखी होय विमुख होय हैं इसलिये ऐसे धनवान् पना से निर्धनपना ही भला है क्योंकि निर्धन भए कोई भी इस की आशा न करे सो प्रत्यक्ष देखो कि धनवान् के राजा, मित्र,स्त्री,पुत्र,याचक आदि सर्व्व लागू होय हैं और निर्धन के कोई भी लागू न होय इसलिये दातार होने के अर्थ जो धनवान् होने की चाह करिए है सो योग्य नहीं है । तहां लोभ और मान की अधिकता जाननी जो स्वयमेव धनवान् हो और सर्व्व

त्याग न कर सके तो तहां दान देने में जितना लोभ का त्याग होय है उसका उतना ही भला होय है। इस लिये उस को दान देना कहा है। आगे जो धनवान् को याचे हैं उन की आशा रूपी खान कैसी अगाध है सो कहे हैं॥

छन्दः--आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या।
सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम्॥ १५७॥

अर्थ-हे जीव जो तेरे आशा रूपी खान निधियों से भी अत्यन्त अगाध थी अर्थात् जो ऐसी गहरी थी कि जिसका भरना असम्भव था सो भी जिस धन से पूर्ण होगई सो वह तेरे पास तेरा मान रूपी अधिक धन है॥

भावार्थ-धनादिक की जो वांछा उसका नाम आशा है सोई भई खान सो नव निधियों से भी अथाह है क्योंकि निधियों में से धनादिक काढ़ने से निधान नहीं टूटता परन्तु कदाचित् उन का तो थाह आवे। लेकिन इस आशा रूपी खान विषे जो धनादिक की वांछा पाइये है। इस का थाह ही नहीं है क्योंकि नवनिधि मिले भी आशा बढी ही रहे है, इसलिये यह निश्चय भया कि निधियों से भी इस के अथाहपना है। और हे प्राणी जो तेरे यह सन्तोष वृत्ति कर

याचनादि रूप नम्रता न पाइये है इसी का नाम मान है और मान का परिमाण इतना बड़ा है, कि जिस कर ऐसी आशा रूपी खान भी भर जाय है। अर्थात् पूर्वोक्त मान रूपी धन भये आशा की अधिकता का अभाव होय है इसलिये नवनिधियों से भी मान रूपी धन को बड़ा जान सन्तोष रूप होय धनादिक के अर्थ याचना करनी योग्य नहीं। क्योंकि आशा मेटने के अर्थ धनादिक याचिये हैं सो जब निधियों के मिलने से भी आशा न मिटे तो फिर स्तोक धनादिक के अर्थ नम्री भूत होना योग्य नहीं ऐसे परिणामों कर आशा का अभाव होय है। इसलिये ऐसाही परिणाम उपादेय है। आगे कहे हैं कि आशा रूपी खान मान रूपी धन से कैसे पूर्ण होय :-

छन्दः—आशाखनिरगाधेयमधःकृतजगत्त्रया ॥
उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता ॥ १५८

अर्थ—यह आशारूपी जो खान है सो अथाह है। कैसी है यह खान नीचे कीए हैं तीनभवन जिसने। सो तिस आशारूपी खान विषे जो धनादिक विद्यमान हैं सो यह बड़ा आश्चर्य है कि सत्पुरुष उस आशा रूपी खान से उन धनादिकों को काढ़ काढ़ कर उस खांन को पूर्ण करे हैं ॥

भावार्थ—जैसे पाषाणादिक की खान से पाषाणादिक काढ़ कर उस खान का अन्य

भूमि समान बराबर करना ही कठिन देखिये है। तैसें यह बड़ा आश्चर्य है कि जिसने तीन लोक तो अपने नीचे किये हैं अर्थात् तीन लोक की सम्पदा से भी आशा पूर्ण नहीं होय है। इसलिये आशा अत्यन्त बड़ी है। सो ऐसी आशा रूपी जो अथाह खान उस में तिष्टते पदार्थों को काढ़ काढ़ कर सत्पुरुष उसे पूर्ण करे हैं। यहां यह मतलब है कि आशा विषे अनेक पदार्थों की वांछा पाइये है। तहां जो सत्पुरुष है वह त्याग भाव कर सर्व वाञ्छा को छोड़ आशा को मिटाय समान भाव जो बीतराग भाव तिस रूप प्रवर्त्ते है। आगे निर्ग्रन्थ महाव्रती मुनियों के परीग्रह के त्याग से आशा का अभाव दिखावते सन्ते दो छन्द कहे हैं :—

छन्दः—विहितविधिना देहस्थित्यै तपांस्युपबृंहय
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं क्वचित् कियदिच्छति ।
तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः
कथमयमहो गृह्णात्यन्यान्परिग्रहदुर्ग्रहान् १५९ ॥

अर्थ—मुनि तप को बधावता हुआ शरीर की स्थिति के लिये योग्य विधि कर गृहस्थियों

से भक्ति कर दिये हुए किञ्चित् मात्र भोजन को किसी काल विषे जो वांछे है सो भी इस महात्मा मुनि के अतिशय कर लज्जा का कारण है तो यह महात्मा मुनि अन्य परिग्रह को फिर कैसे ग्रहण करे अर्थात् सर्वथा ग्रहण न करै ॥

भावार्थ–जो कोई अज्ञानी पुरुष मुनि कै भी किञ्चित् परिग्रह का ग्रहण माने तो उस को समझाइये है। कि मुनि कै अन्य सर्व आशा का अभाव भया है एक केवल आहार की वांछा पाइये है। सोभी शरीर रखने के लिये है क्योंकि बिना आहार मनुष्य का शरीर रहे नहीं। सो शरीर को भी तप के अर्थ रक्खे है। क्योंकि मनुष्य शरीर बिना तप नहीं हो सके है इसलिये भोजन कर शरीर को रख तप ही को बधावे है। प्रमादी नहीं होय है। और आचार शास्त्र विषे जैसी विधि वर्णन करी है तैसे ही आहार मिलै तो ग्रहण करे है आसक्त होयकर सदोष आहार को ग्रहण नहीं करे है। सो भी गृहस्थियों कर दिया हुआ आहार ग्रहण करे है। आप न बनावे है वा अदत्त नहीं ग्रहण करे है केवल भक्ति कर दिये हुए आहार को ग्रहण करे है। याचना कर दातार को दबाय कर नहीं ग्रहण करे है। सो ऐसे आहार को भी नित्य ग्रहण नहीं करे है योग्य काल विषे वा किसी उपवास के पारणे में ग्रहण करे है। सो भी सम्पूर्ण उदर भर आहार नहीं करे है। कुछ थोड़ा सा भोजन करे है ऐसे आहार के करने पर

भी महन्त मुनि कै लज्जा उपजे है सो जब ऐसे कार्य्य विषे भी जिस के लाज होय तो तब धन वस्त्रादिक दुष्ट परिग्रह जिन का तीव्र राग विना ग्रहण न होय तिन का ग्रहण कैसे करे सर्वथा न करे है, क्योंकि जिनागम विषे लंगोटमात्र परिग्रह राखे भी अणुव्रती ही कहा है अधिक परिग्रह होते मुनिपना कैसे मानिये। इसलिये मुनि कै वस्त्रादिक परिग्रह मानना मिथ्या है॥

छन्दः--दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदत्राशनं
गृह्णन्तः स्वशरीरतोपि विरताः सर्वोपकारेच्छया।
लज्जैषैव मनस्विनां ननु पुनः कृत्वा कथं तत्फलं
रागद्वेषवशीभवन्ति तदिदं चक्रेश्वरत्वं कलेः १६० ॥

अर्थ—इस मुनिधर्म्म विषे गृहस्थी तो दातार है और देने योग्य भोजन मात्र ही धन है और आप सर्व्व उपकार की इच्छा कर उस भोजन को ग्रहण करने वाले अपने शरीर से भी विरक्त हैं ऐसी जो क्रिया होय है सो भी बुद्धिमानों के लज्जा दायक है सो यह बड़ा आश्चर्य्य है कि मुनि उस भोजन को भेष का फल जान कर राग द्वेष के वशीभूत होय है। सो यह कलि-

काल का चक्रवर्त्तिपना है॥

भावार्थ—गृहस्थी तो अपनी भक्ति से दातार होय और मुनि पात्र होय और भोजनमात्र धन ही का दान है, अन्य धनादिक का दान नहीं है सो तिस को भी मुनि जैसे अपना वा दातार का वा अन्य जीवन का सर्वं प्रकार भला होय तैसे ग्रहण करे है ऐसा नहीं है कि आहार लेकर प्रमादी होय अपना बुरा करे वा दातार को कषाय उपजाय उसका बुरा करे वा अन्य जीवन कै दोषों का कारण होय उन का बुरा करे सो आहार ले तौ भी अपने शरीर से विरक्त रहे है। और जाने है कि यह मुझे इष्ट नहीं है परन्तु इस कर तप साधन करना है इसलिये जैसे शरीर नष्ट न होय तैसे थोड़ा नीरस आहार करना स्वादादिक के लोभसे आहार नहीं करे है ऐसे मुनि आहार को ग्रहण करे है सोभी मुनि कै लाज उपजावे है। आहार लेने से संकोच उपजे है आप की हीनता माने है। सो यह बड़ा आश्चर्य्य है कि इस कलिकाल में आहार के अर्थं ही मुनिपना अंगीकार करे हैं। इस भेष कर आजीविका की सिद्धि करें हैं। सो हमको ऐसे भासे है कि यह इस कलिकाल के चक्रवर्त्तिपने की महिमा है। जैसेचक्रवर्त्ति अपने क्षेत्र के वासी जो देवादिक तिन विषै भी आज्ञा मनावै तैसे यह कलिकाल अपनी मर्य्यादा विषै उपजे जो मुनि उन विषै भी विपरीतपनां प्रवर्त्तावे है। यहां कोई कहे कि यदि यह काल का

दोष है तो इस काल विषे ऐसे ही मुनि मानो —:(तिसका उत्तर):— जैसे कलिकाल विषे
अन्याय प्रवर्त्ते है तो उस को न्याय तो न मानना परन्तु यह जानना कि यह अन्यायकी प्रवृत्ति
काल के दोष से है तैसे ही कलिकाल विषे जो भ्रष्ट भेषधारी प्रवर्त्ते हैं उनको मुनि तो न मानना
परन्तु यह जानना कि ऐसे भेष की प्रवृत्ति काल के दोष से हुई है जैसे लोक विषे यह कहावत
है कि यह कार्य्य दुष्ट के उदय से भया है सो इसकी दुष्टवत् निन्दा जाननी। तैसे इस प्रकरण
में यह कार्य्य कलिकाल से भया है तो कलिकालवत् तिस कार्य्य की निन्दा करी है, इस लिये
जो मुनि भेष धर भोजनादिक के अर्थ रागी द्वेषी होय हैं उन की निन्दा करने के अर्थ यहां
कलिकाल की महिमा कही है। आगे आहारादिक की लम्पटता को दूर करते हुये कर्म्म को
निर्मूल करने का उपदेश देवे हैं :—

छन्द:—आमृष्टं सहजं तव त्रिजगतीबोधाधिपत्यं तथा
सौख्यं चात्मसमुद्भवं विनिहतं निर्मूलत: कर्म्मणा।
दैवात्तद्विहितैस्त्वमिन्द्रियसुखै: सन्तृप्यसे निस्त्रप:

स त्वं यश्चिर यातनाकष्टप्राणैर्बद्धस्थितिस्तुष्यसि १६१

अर्थ–हे जीव कर्म्मं ने तेरा स्वाभाविक जो तीन जगत् का ज्ञान उस का जो स्वामित्व पना सो नष्ट किया और तैसे ही आत्म जनित जो सुख उस को भी मूल से नष्ट किया है। सो तू निर्लज्ज हुवा हुवा जो दीनपने से उन कर्म्मों कर निपजाये हुए जो इन्द्रियों के सुख उन में तृप्त होय है और चिरकाल तक उपवासादिक कष्ट सह कर भी पीछे से मिले जो कुत्सित नीरस आहार उन से अपना निर्वाह करता हुवा सन्तुष्ट होय है॥

भावार्थ–जैसे किसी बड़े राजा को कोई वैरी राज से भ्रष्ट करे और वह राजा दीन हो उस ही का दीया जो किञ्चित् भोजनादिक उससे प्रसन्न होय। तहां तिस को निर्लज्ज कह कर धिक्कार दीजिये है तैसे ही हे जीव तू अनन्त ज्ञान सुख का स्वामी महन्त पदार्थ है सो ऐसे तेरे अनन्त सुख का नाश कर उस कर्म्म वैरी ने तुझे भ्रष्ट किया है और तू तो दीन होय उस कर्म्म वैरी के उदय से निपजाये हुए किञ्चित् विषय सुखों में संतुष्ट होय है। इस लिये हे निर्लज्ज तू धिक्कार देने योग्य है और जैसे उस राजा को वैरी का दिया भी महा कष्ट से बुरा भोजनादिक मिले और तहां वह राजा संतुष्ट होय तो बहुत ही निंद्य है तैसे ही हे भ्रष्ट मुनि

तेरे कर्म्म का दीया भी बहुत सुख नहीं । घनें उपवासादिक कष्ट सहे तब गृहस्थी के घर से जैसा तैसा आहार मिले और तहां तू अपनी आजीवका की स्थिरता भई मान कर संतुष्ट होय है इसलिये तू बहुत निंद्य है। और जैसे उस राजा को अपने वैरी के नाश करने का उपाय करना योग्य है तैसे तुझे भी कर्म्म का नाश ही करना योग्य है विषयासक्त होना योग्य नहीं। आगे ऐसा कहे हैं कि यदि तेरे इन्द्रिय सुख की ही अभिलाषा है तो तू धीरज धारण कर तुझे अधिक इन्द्रियों के सुख मिलेंगे :—

**छन्दः—तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशये: ॥१६२॥**

अर्थ—हे भिक्षुक मुनि तेरे यदि विषय भोगों की वांच्छा है तो थोड़ा सा सहनशील हो अर्थात् कुछ देर सबर कर वह भोग स्वर्ग विषे हैं। रे मूर्ख पकते हुए भोजन को देख कर जलादिक ही को पीकर क्यों भोजन का नाश करे है॥

भावार्थ—जैसे कोई भूखा मूर्ख पकते हुए भोजन को देख कर जब तक भोजन पके तब तक धैर्य्य न धरे अर्थात् इतना काल भूख न सहे और कुछ भोजन सम्बन्धी जलादिक ही

को पी कर भोजन का नाश करे तैसे ही रे मूर्ख तू विषयों का ऐसा अभिलाषी भया है कि धर्म्मसाधन से जो थोड़े ही काल में मनुष्य की आयु पूर्ण भए पीछे स्वर्ग का सुख मिले है जहां अत्यन्त विषय सुख पाइये है सो जब तक मनुष्य का आयु पूर्ण होय तब तक अपनी विषय वांछा को रोक कर धीरज न धारे है। और कुछ सदोष भोजनादिक विषय ही को सेव कर स्वर्ग सुख का नाश करे है। सो ऐसा कार्य्य तुझ को करना योग्य नहीं। जो भोगों ही की वांछा है तो थोड़ा काल धैर्य्य रख कर धर्म्म साधन कर तिस से स्वर्ग विषे बहुत विषे मिलेंगे यद्यपि विषयाभिलाषी होना योग्य नहीं तथापि यहां भ्रष्ट होते हुवे जीव को लोभ दिखाय स्थिर किया है ऐसा भाव जानना। आगे यह दिखावे हैं कि कर्म्म मुनियों का कुछ भी नहीं कर सकता:—

छन्दः—निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्॥ १९३

अर्थ—जिन कै निर्धनपना तो धन है मरण जीवितव्य है और ज्ञानही है एक नेत्र जिन का ऐसे जो सत्पुरुष हैं उन का विधाता जो कर्म्म है सो कुछ भी नहीं कर सकता॥

भावार्थ—जो महामुनि ज्ञान नेत्र कर यथार्थ पदार्थों को अवलोके हैं तिन के धनादि

जैसे अन्य जीव धन से सुखी होय तैसे मुनि निर्ग्रन्थपन
रहित जो निर्ग्रन्थ पना सोई धन है। जैसे अन्य जीव प्राण धरने से सुखी होय हैं,
से सुखी होय है और उनके मरना सोई जीवना है जैसे अन्य जीव प्राण धरने से सुखी होय हैं, ऐसे जो मुनि हैं तिन का कर्म्म क्या
तैसे यह मुनि इन्द्रियादिक प्राण छूटने से सुख माने हैं ऐसे जो मुनि हैं तिन का कर्म्म क्या
करे अर्थात् कुछ भी कर सकता नहीं क्योंकि कर्म्म का तो वश इतना ही है कि जब यह अ-
निष्ट रूप प्रवर्त्तै तब निर्धनपना वा मरण होय है सो इन से तो मुनि दुःखी होय ही नहीं। इस
लिये इन का कर्म कुछ भी नहीं कर सका। आगे कहे हैं कि यदि ऐसे है तो विधाता कर्म्म
किस को अपना विधातापना दिखावे है :—

छन्दः—जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां येषां आशा निराशता॥१६४

अर्थ—जिन के जीवने की और धन की आशा है उन के ही कर्म्म विधाता है। और जिन
की आशा ही नष्ट भई उन का विधाता क्या कर सकता है, अपितु कुछ भी नहीं कर सकता॥

भावार्थ—यहां विधाता नाम कर्म्म का है सो जो अज्ञानी जीव पाप रूपी जीवने को और
धन को चाहे हैं उन के जो कर्म्म है सो कार्य्य निपजावने को समर्थ होता हुवा विधाता नाम

धरावे है वह जीव कर्म्म से डरे हैं ताकि हमारा मरण मत होवे। हमारे निर्धनपना मत होवे ऐसी आशा से कर्म्म उन को दुःखी करे है। और जिन की आशा का नाश भया और धनादिक को भी छोड़ बैठे। और मरण के कारणों के सन्मुख भये हैं उन का कर्म्म कुछ नहीं कर सके है यह मुनि कर्म्म से नहीं डरे हैं मरण होवे तो होवे पर्य्याय छोड़ने का भय नहीं है। और निर्धनपना को निराकुलता का कारण जानकर स्वाधीनपने से ही धनादिक को छोड़े हैं सो जिन की ऐसे आशा छुटी है उनको कर्म्म कैसे दुःखी करे अपितु मोह हीन भये कर्म का उदय होना अथवा न होना समान है अर्थात् आत्मा को दुःखी करने रूप कार्य्य का कर्त्ता न होय है। आगे कोई तो बड़े राज्य को छोड़ आशा का नाश करे है और कोई तप को छोड़ राज्य को अंगीकार करे है तिन का फल दिखावते हुए दो श्लोक कहे हैं :—

छन्दः—परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपोविषयाशया ॥ १६५ ॥

अर्थ—दो पुरुषोंकी सबसे बढ़ कर क्रमसे स्तुति और निन्दा होयहै एक तो वह जो चक्रवर्त्ति पने को छोड़ तप को अंगीकार करे है और दूसरा वह जो तप को छोड़ विषय सेवन करे है॥

भावार्थ—इस लोक विषे कितने ही जीव तो स्तुति योग्य हैं और कितने ही जीव निन्दा योग्य हैं उन सब में जो चक्रवर्त्ति पद को छोड़ कर मुनिपद को धारे है वह तो सर्व्वोत्कृष्ट पने स्तुति करने के योग्यहै। क्योंकि प्राप्त भए चक्रवर्त्तिपने की संपदा को छोड़ कर मुनिधर्म्म रूप दुर्द्धर तप को आचरे है इसलिये इस की महिमा सर्व में उत्कृष्ट पने स्तुति करने योग्य है। और जो ग्रहण कियेहुवे मुनिपद को छोड़ कर विषयों की वांछा से राज पद को अङ्गीकार करे है, सो सर्व्वोत्कृष्टपने निन्दा करने योग्य है। क्योंकि छोटी भी प्रतिज्ञा भङ्ग किये भी बहुत निन्दा होय है सो इसने तो मुनिपद अङ्गीकार कर भङ्ग किया है इसलिये इस का भ्रष्टपना उत्कृष्ट पने निन्दा करने योग्यहै। यहां कोई यह कहे कि निन्दा किसी की भी करनी योग्य नहीं —:(तिसका उत्तर):— ईर्षा कर द्वेष बुद्धि से निन्दा करनी योग्य नहीं है, लेकिन पाप आचरण को बुरा जतावने के लिये निन्दा करने में दोष नहीं है क्योंकि ऐसे न होय तो पापी जीवों की निन्दा शास्त्रों विषे किसलिये करियेहै :—

छन्दः—त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं
सुखमनुपमं स्वोप्तं (त्थं) नित्यं ततोन तदद्भुतम्।

इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ॥ १६६

अर्थ—क्योंकि तप का फल अनौपम्य आत्मजनित शाश्वत सुख है। इसलिये यदि चक्रवर्त्ति राजा तप करने के लिये अपने चक्रवर्त्ति पद को छोड़ दे तो कुछ आश्चर्य की वार्ता नहीं है परन्तु इस लोक विषे यह बड़ा आश्चर्य है कि सुबुद्धि होकर भी कई पुरुष छोड़े हुवे विषय रूप विष को फिर भोगने के अर्थ महान् तप को छोड़े हैं॥

भावार्थ—इस लोक विषे विशेष सुख के लिये बहुत से जीव जो किञ्चित् सुख को तजे हैं सो यह त्याग कुछ आश्चर्यकारी नहीं है लेकिन जो सर्व्वथादुःखदायक विष को छोड़ कर फिर उस के खाने के अर्थ बड़े पद को छोड़े हैं सो यह बड़ा आश्चर्य है इसलिये जो यहां भी मोक्ष सुख के अर्थ चक्रवर्त्ति अपने चक्रीपद को छोड़े तो क्या आश्चर्य है लेकिन सर्व्वथा दुःख दायक जो विषय उनको छोड़ कर फिर उन के सेवने के अर्थ त्रिलोक पूज्य मुनि पद को छोड़े तो यह बड़ा आश्चर्य है। ऐसा अनर्थ कैसे बने। आगे तप तजने वालों का फिर आश्चर्य करते हुए सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—शय्यातलादपि तुकोपि भयं प्रपाता-
तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडाम्।
चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गा
द्धीमान्स्वयं न तपसः पतनाद्बिभेति ॥ १६७ ॥

अर्थ—बालक भी अपने तांई पीड़ा होती जान कर ऊंचे शय्यातल से पड़ने मे डरे है। परन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि बुद्धिमान् पुरुष तीन लोक के शिखर समान अतिशय कर ऊंचा जो तप उस से भी गिरने से नहीं डरे है॥

भावार्थ—बालक जो विचार रहित है वह भी थोड़ी सी ऊंची जो शय्या तिस से पड़ने से भयवान् होय है उस के भी इतना विचार है कि यहां मे पड़ने पर मेरे पीड़ा उपजेगी। और यह जो तप है सो तीन लोक के शिखर समान ऊंचा है। क्योंकि तीन लोक के जीव तप को बड़ा पूज्य माने हैं। इस लिये इस को ऊंचा जानना सो यह बडा आश्चर्य है कि यह मुनिलिंग का धारी विचारवान् होने पर भी इस तप से भ्रष्ट होता हुआ भय नहीं करे है। आप ही भ्रष्ट होय

है इतना नहीं विचारे है कि मुझे इस तप से भ्रष्ट होने पर इस लोक विषे तो हास्यादिक रूप पीड़ा होगी और पर लोक विषे चिरकाल पर्य्यन्त नरक निगोदादिक के दुःख भोगने पड़ेंगे। देखो लोक विषे तो ऊंचा पद पाकर पीछे पराधीनपने से भी नीचा होने से लज्जा उपजे है तहां अपघातादिक करना विचारे है परन्तु यह ऐसा निर्लज्ज भया है कि मुनि पद सारिखा ऊंचा पद पाकर भी आप ही स्वाधीन भ्रष्ट होय कर नीचा होय है। सो ऐसा असम्भव कार्य देखने से कैसे आश्चर्य न होय अपितु होय ही होय। यहां आश्चर्य कहने का यह भाव है कि भ्रष्ट होता हुआ मुनि मुनियों की लोकरीति को उलङ्घन कर निन्दा का स्थान भया है। आगे ऐसा कहे हैं कि जिस तप कर महापाप का नाश होय है तिस तप को भी नीच पुरुष मलिन करे हैं :-

छन्दः—विशुद्धाति दुराचारः सर्व्वोऽपि तपसः ध्रुवम्।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरोपरः ॥ १६८ ॥

अर्थ—जिस तपकर सर्व्व ही कियाहुआ जो दुराचार है सो शुद्ध होयहै अर्थात् नष्ट होय है परन्तु जैनमत से वाह्य सबसे निकृष्ट ऐसा जो निन्द्य जीवहै सो तिस तपको भी मैला करे है॥

भावार्थ–जैसे जल कर मल धोइये है सो जो धोवने का कारण जो जल उस ही में मल मिलावे तो उस को नीच कहिये। तैसे तप कर पाप दूर होय है सो वहुत पापी भी होय और तप करै तो पाप को दूर करै। परन्तु जो पाप दूर करनेका कारण तपहै उस विषे ही पाप लगावे तो वह सर्व्वोत्कृष्ट नीच है। यहां यह भाव है कि जो पापही करता है वह तो नीच ही है परन्तु पाप मेटने का कारण जो मुनिलिंग धारे और उस विषे दोष लगावे सो उत्कृष्ट नीच है, सो अन्यत्र भी ऐसा न्याय है कि अन्य स्थान विषे किया जो पाप सो धर्म्मस्थान विषे दूर होय है परन्तु धर्म्मस्थान विषे किया जो पाप वह कहां दूर होय अर्थात् वह वज्रलेप समान होय है इस लिये गृहस्थपद का उपजाया पाप तो मुनि पद विषे दूर होय। परन्तु मुनि पद विषे किया जो पाप सो कहां दूर होय अपितु नहीं होयहै वह वज्रलेप समान होय है। ऐसे निश्चय कर मुनिलिंग विषे दोष लगावना योग्य नहीं। आगे आश्चर्य्य के वहुत कारण हैं परन्तु तिन विषे तप को छोड़ने वाले के अति आश्चर्य्य के कारणपना को दिखावते हुए सूत्र कहे हैं :–

छन्दः–सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किन्तु
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः।

पीत्वाऽमृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः
संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति ॥ १६६ ॥

अर्थ– तीन जगत विषे सैंकड़ों कौतूहल पाइये हैं परन्तु इन विषे हम को तो यह दो कार्य्य ही अत्यंत आश्चर्य्य उपजावन हारे हैं एक तो वह भाग्यहीन पुरुष जो अमृत पीकर उस को वमे है। और दूसरा वह जो संयम रूप निधि को पाकर छोड़े है॥

भावार्थ–जहां असम्भव कार्य्य भासे तहां आश्चर्य्य मानिये है। सो लोगों को तो अनेक कौतुक रूप कार्य्य आश्चर्य्य उपजावें हैं। परन्तु हम को तो इन दो कार्य्यों ही का आश्चर्य्य है कि एक तो वह कि जिस ने महाभाग्य से ऐसा अमृत पान करके कि जिस से फिर जरादिक रोग न होय उस को वमे और दूसरा वह कि जिस के कोई काल लब्धि से ऐसा संयम निधान का ग्रहण हुआ कि जिस कर जन्म मरणादि दुःख का नाश होय फिर उस को छोड़े सो यह बड़ा आश्चर्य्य है। यहां जो दो आश्चर्य्य कहे हैं उन में पहिला तो दृष्टान्त रूप है दूजा दार्ष्टान्ति रूप जानना। जैसे अमृत पान कर उसका वमन करना विपरीत है तैसे संयम ग्रहण कर उस का त्याग करना विपरीत है। इस लिये विवेकी पुरुष ऐसा कार्य्य

नहीं करे हैं। आगे उस पूर्व्वोक्त कारण से जो संयम निधान को नहीं छोड़ते ऐसे जो विवेकी जीव हैं वह सर्व्व परिग्रह का त्याग कर रागादिक को निर्म्मूल से नाश करने के अर्थ यत्न करो। ऐसी सीख देते हुए कहे सूत्र हैं :—

छन्दः—इह विनिहितबह्वारम्भवाह्योरुशत्रो
रुपचितनिजशक्तेर्नापरः कोऽप्यपायः।
अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः
कुरु तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥ १७० ॥

अर्थ—इस मुनिलिंग विषे नाश किये हैं बहुत आरम्भादि पापकर्म्म रूप वाह्य वैरी जिस ने और बढ़ाई है अपनी शक्ति जिसने ऐसा जो तू सो तेरै और कोई भी दूसरा नाश करने वाला विघ्न नहीं रहा परन्तु अन्तरंग वैरियों के नाश करने का अभिलाषी होकर भोजन करना सोना, चलना, तिष्टना इत्यादि क्रियाओं विषे सावधान हुआ २ तू अपनी रक्षा कर यह हमने शिक्षा दी है॥

भावार्थ—जैसे राजाओं के शत्रु दो प्रकार के होय हैं। एक तो वहिरंग और एक अन्तरंग तहां जो अन्य राजादिक अपने स्थान से वाह्य हैं वह तो प्रगट वैरी वहिरंग शत्रु हैं और जो खान पानादिक के साधक किंकरादिक अपने पास में रहें हैं वह अन्तरंग शत्रु हैं। तहां जो राजा अपने वहिरंग शत्रुओं का नाश करे उस के राज भ्रष्ट होने का कारण नहीं। परन्तु जो खान पानादि क्रियाओं विषे सावधान नहीं प्रवर्त्तै तो अन्तरंग शत्रुओं कर वह राजा मरण को पावे इसलिये अन्तरग शत्रुओं से भी जैसे अपनी रचा हो सके तैसे अपने खान पानादि क्रियाओं विषे सावधान रहना योग्य है। तैसे मुनियों के शत्रु भी दो प्रकार के हैं। एक तो वहिरग और एक अन्तरंग। तहां जो हिंसादिक रूप आरम्भादिक अपने मुनिलिङ्ग से वाह्य प्रगट विपरीत भासैं वह तो वहिरंग शत्रु हैं। और जो खान पानादिक क्रियाओं विषे रागादिक प्रमाद रूप मुनि लिंग विषे विपरीत भाव सो अन्तरंग शत्रु हैं। तहां जो मुनि वहिरग आरम्भादिक का त्याग करे उसके मुनि पद भ्रष्ट होने का कारण रहा नहीं परन्तु जो खान पानादिक क्रियाओं विषे प्रमादी होय अर्थात् सावधान न प्रवर्त्तै तो अन्तरंग रागादि भावों कर मुनि पद का नाश करे इस लिये अन्तरग रागादि शत्रुओं से भी जैसे अपने मुनिपद की रचा होय तैसे खान पानादिक क्रियाओं विषे सावधान रहना योग्य है। यहां यह भाव है कि वाह्य आर-

स्भादिक ही का त्याग कर निश्चिंत न होना। मुनि लिंग विषे खान पानादिक क्रिया शेष रही हैं तहां भी रागादिक न करना। आगे कहे हैं कि मन को रोकने से आत्मा की रचा और रागादिक का नाश होय है इस लिये मन को रोकना योग्य है :—

छन्द:—अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते
वच:पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम् १७१

अर्थ—अहो बुद्धिमान् इस मन रूपी वन्दर को सदाकाल शास्त्र रूपी वृक्ष विषे रमाओ कैसा है यह शास्त्र रूपी वृक्ष अनेकान्त स्वरूप जो आत्मा रूपी पदार्थ वही भए फूल और फल उनके भार से अतिशय कर नीचे को झुका हुवा है और वचन रूपी पत्तों से भरा हुआ है और फैली हुई नय रूपी सैंकड़ों डालियों कर सयुक्त है भले प्रकार ऊंचा है और अच्छे विस्तार वाली बुद्धि इस की जड़ है ॥

भावार्थ–यहां कोई यह कहे कि मन तो वन्दर के समान चञ्चल है। जो सावधान रहने पर भी रागादि रूप परिणमे तो क्या करिये उस को समझाइये है जैसे वन्दर खाली रहे तो कुछ न कुछ विगाड़ ही करे है इसलिये उस को यदि वृक्ष विषे रमा दीजिए तो अपना भी विगाड़ न करे और वह भी प्रसन्न रहे तैसे ही मन जो निरालम्ब रहे तो रागादि रूप प्रवर्त्ते ही प्रवर्त्ते इसलिये उसको यदि शास्त्राभ्यास विषे लगा दीजिये तो रागादि रूप न प्रवर्त्ते और प्रसन्न भी रहे। यहां वाह्य शास्त्रों का पठन पाठन करना उस ही का नाम शास्त्राभ्यास न जानना वल्कि शास्त्र के अनुसार स्वरूप ध्यानादिक करना सो भी शास्त्राभ्यास ही है। क्योंकि शुक्लध्यान विषे भी वितर्क सहित ध्यान कहा है सो वितर्क नाम श्रुत का है, इसलिये जवतक केवलज्ञान न होय तव तक शास्त्र विषे ही मन लगा कर रागादिक को हीन करिये है सो यह शास्त्र मन वन्दर के रमावने को वृक्ष समान कहा। जैसे वृक्ष विषे सारभूत फूल फल होय हैं उस के भार कर यह झुके है तैसे शास्त्र विषे सारभूत जो स्याद्वाद रूप अर्थ उन को अतिशय कर ग्रहण करिये है और जैसे वृक्ष में पत्ते होय हैं उन कर सघन शोभे है तैसे ही शास्त्र विषे युक्ति वाले वचन पाइये हैं उन कर भरा हुवा शोभे है और जैसे वृक्ष विषे जो डाली होय हैं उन के आश्रय पत्र फूल फल पाइये हैं तैसे शास्त्र विषे अनेक नय हैं तिन के आश्रय वचन रचना वा अर्थ निरूपण

करिये है। और जैसे वृक्ष ऊंचा शोभे है तैसे त्रिलोक पूज्य शास्त्र सर्व से ऊंचा शोभे है। और जैसे वृक्ष के जो विस्तार रूप जड़ होय सोई कारण भूत है तैसे शास्त्र के विषे विस्तार लिये जो बुद्धि पूर्वक अर्थ सोई कारण भूत है। ऐसे वृक्ष समान शास्त्र विषे मनरूपी बन्दर को रमावो। आगे कहे हैं कि शास्त्ररूपी वृक्ष विषे मन को रमावता जीव ऐसे तत्व को भावे :—

छन्दः—तदेव तदऽतद्रूपं प्राप्नुवन्न विरंस्यति।
इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित्सदा॥ १७२

अर्थ—समस्त तत्त्वों का जानन हारा जो ज्ञानी जीव है सो अनादि निधन समस्त जीवादि तत्वों को ऐसा चिन्तवे है कि यह वस्तु विवक्षित (कहने योग्य) स्वरूप को और उस से प्रतिपक्षी (उलटे) स्वरूप को प्राप्त होता हुआ नाश नहीं होय है॥

भावार्थ—शास्त्र के अभ्यास करने वाला जो ज्ञानी जीव है सो केवल व्याकरण अलंकारादिक शास्त्रों विषे ही मन को नहीं रमावे है बल्कि ऐसे वस्तु स्वरूप को चिन्तवे है कि एक कोई जीवादिक वस्तु है सो नित्य भी है और अनित्य भी है सत्तारूप भी है, असत्तारूप भी है एक भी है अनेक भी है इत्यादि, तिस रूप भी है। और तिस रूप नहीं भी है। इस

लिये ऐसे भाव को प्राप्त होते हुए जो जीवादिक वस्तु हैं सो नाश को प्राप्त नहीं होय हैं अपने स्वभाव रूप रहे हैं। ऐसे ही अनादि निधन समस्त जीवादिक पदार्थ पाइये हैं और ऐसे ही शास्त्र द्वार कर तत्त्वज्ञानी जीव चिंतवे है। सो ऐसे चितवन करने से वस्तु का यथार्थ स्वरूप भासे है तिस से सम्यग्दर्शनादिक को पाय कर अपना कल्याण करे है। आगे यदि कोई यहां यह आशंका करे कि ऐसा ज्ञान तो भ्रमरूप होगा उस का भ्रम दूर करने को सूत्र कहे हैं :-

छन्दः-एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम्।
अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः ॥ १७३ ॥

अर्थ-एक ही वस्तु एक ही काल विषे ध्रौव्य अर्थात् कायम उत्पाद अर्थात् पैदा हुई हुई व्यय अर्थात् नष्टरूप सधे है क्योंकि यदि ऐसे न हो तो एक ही वस्तु में यह प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से अखण्डित दो विरुद्ध प्रतीतियें "कि यह अन्य है" और "यह वही है" कैसे सधैं॥

भावार्थ-यदि एक ही वस्तु को एक ही की अपेक्षा से ऐसे कहिये कि यह तिस रूप है और तिस रूप नहीं भी है तो यह भ्रम है। परन्तु अन्य २ अपेक्षा से कहिये तो विरोध नहीं। जैसे किसी पुरुष को एक ही पुरुष का पिता और पुत्र कहिये तो भ्रम है। परन्तु और का पिता

और अन्य का पुत्र कहिये तो विरोध नहीं। अब यहां वस्तु के स्वरूप को साधे हैं पहिले जो एक ही वस्तु को नित्य और अनित्य कहा था उसका उदाहरण कहे हैं जैसे कोई एक पुरुष पहिले रङ्क था फिर वह राजा भया तहां अवस्था पलटने की अपेक्षा पहिले रङ्क था अब राजा भया। ऐसा उस पुरुष में अन्यपना भासे है। इसलिये यह अन्य है ऐसा मानिये है। और मनुष्यपने की अपेक्षा पहिले भी वह मनुष्य था अब भी वह मनुष्य ही है ऐसे उस विषे एकपना भासे है इसलिये यह वही है ऐसा मानिये है। सो ऐसी प्रतीतिये प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से खण्डित नहीं हैं। ऐसे वस्तु स्वरूप भासे है। इसलिये वह ही पुरुष एककाल विषे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पने को धारे है। जैसे जिस समय रङ्क से राजा भया उस ही समय राजापने का तो उत्पाद भया रंकपने का व्यय हुआ और मनुष्यपना ध्रौव्य है। ऐसे ही कोई जीव मनुष्य से देव भया तहां मनुष्यपना देवपना की अपेक्षा से अन्य है ऐसी प्रतीति करिये है। और जीवन की अपेक्षा यह सोई है। ऐसी प्रतीति करिये है। इसलिये मनुष्य से देव होने के समय देवपने का उत्पाद मनुष्यपने का व्यय और जीवनपने का ध्रौव्य ऐसे एकही काल विषे तीनों भाव पाइये हैं। इसी प्रकार सर्व्व जीवादि वस्तु एक समय विषे स्थूल पर्य्यायों वा सूक्ष्म पर्य्यायों कर उत्पाद व्यय और ध्रौव्यपने को धारे हैं। इसलिये एकही वस्तु विषे नित्य और अनित्यपना सिद्ध भया, ऐसे

ही स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भाव, की अपेक्षा सत्तापना और परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नास्तिपना मानना। जैसे एक ही वस्तु को ऐसा मानिये है कि यह पुरुष वह पुरुष है और यह पुरुष वह पुरुष नहीं है और वह पुरुष इस क्षेत्र विषे तो है और उस क्षेत्र विषे नहीं है इस काल विषे है और उस काल विषे नहीं है ऐसे स्वरूप वाला है वैसे स्वरूप वाला नहीं है इस प्रकार एक ही वस्तु एक ही समय में सत्ता और असत्ता रूप है। और एक ही वस्तु को अंगी की अपेक्षा एक और अंगों की अपेक्षा अनेक मानिये है जैसे एक ही पुरुष को सर्व शरीर की अपेक्षा से एक कहिये है और हस्त पादादिक अंगों की अपेक्षा से अनेक रूप मानिये है इसलिये एक ही वस्तु युगपत् एक और अनेक रूप है। ऐसे ही तिस रूप है और तिस रूप नहीं है ऐसा तत्त्व भासे है। सो यथा योग्य शास्त्र द्वार कर प्रमाण के अनुकूल सम्यक् ज्ञानी जीव तैसे ही विचारै है। आगे कोई यह तर्क करे कि जो वस्तु के ध्रौव्य आदि तीन स्वरूप कहे हैं वह बलिष्ठ हैं क्योंकि वस्तु के तो सर्व प्रकार नित्यादिक एक स्वरूप ही पाइये है सो ऐसी आशंका को दूर करने को सूत्र कहे हैं:—

छन्दः—न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं
नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात् ।

तत्त्वं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूप
माद्यन्तहीनमखिलं च तथा यथैकम् ॥ १७४ ॥

अर्थ—वस्तु सर्वथा नित्य स्थिर भी नहीं और क्षण विनश्वर भी नहीं। ज्ञानमात्र भी नहीं और अभाव रूप भी नहीं क्योंकि अखण्डित भासने का निरोध है अर्थात् ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती कि जिस का खण्डन न हो सके। इसलिये वस्तु हर समय तिसरूप भी है और तिसरूप नहीं भी है ऐसा ही अनादिनिधन है। सो जैसे उक्त रीति से एक पदार्थ भासे है तैसे ही सर्व पदार्थ जानने ॥

भावार्थ—वस्तु का स्वरूप सर्व्वथा एक रूप नहीं है नाना अपेक्षा से नानारूप है सांख्य नैयायिक आदि मत वाले तो वस्तुको सर्व्वथा नित्य ही माने हैं। बौद्धमती क्षणविनश्वर ही माने हैं जो बौद्धमती ज्ञानाद्वैतवादी हैं वह तो एक ज्ञान ही है और वाह्य कोई वस्तु नहीं ऐसा माने हैं, और जो बौद्धमती शून्यवादी हैं वह सर्व वस्तु का अभाव ही माने हैं इत्यादि एकांत रूप जो वस्तु को माने हैं सो ऐसे नहीं है क्योंकि विचार कीये ऐसे एकांत विषे विरोध भासे है। जब एक ही वस्तु की अवस्था पलटने से उसमें अन्य अन्य अर्थ और अन्य अन्य क्रिया की

सिद्धि होय है तो तब उस वस्तु को सर्वथा नित्य कैसे मानिये और अन्य अन्य अवस्था वदलने से भी उस वस्तु में कोई भाव का नित्यपना कर वह वस्तु सर्वदा एक भासे है इसलिये वस्तु को सर्वथा क्षण विनश्वर ऐसा कैसे मानिये और ज्ञान भी भासे है और वाह्य पदार्थ भी भासे हैं सो यदि भासते हुए वाह्य पदार्थों को न मानिये तो प्रमाण और अप्रमाण ज्ञान का विभाग कैसे होय इसलिये सर्वथा ज्ञान मात्र ही है ऐसा कैसे मानिये और प्रत्यक्ष पदार्थ भासे है सो जो उसका अभाव माने हैं उनका उपदेश भी तो शब्द रूप पदार्थ है सो उस का भी अभाव ठहरे परन्तु प्रत्यक्ष को झूठ कहे सो कदापि वने नहीं इसलिये वस्तु सर्वथा अभाव रूप नहीं है। ऐसे वस्तु को जो एकांत रूप माने हैं सो मिथ्या है तो फिर कैसे है सो कहिये है, वस्तु तिस रूप भी है और तिस रूप नहीं भी है। द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नित्य है पर्याय पलटने की अपेक्षा से वही वस्तु क्षणविनश्वर है ज्ञान विषे भासने की अपेक्षा से ज्ञानमात्र है और वस्तु सत्ता रूप है इस की अपेक्षा से ज्ञानमात्र नहीं है क्योंकि वाह्य वस्तु भी है पर द्रव्य क्षेत्रकाल विषे यह नास्ति है इस अपेक्षा से अभाव है। स्वद्रव्य क्षेत्रकाल विषे अस्ति है इस अपेक्षा से अभाव नहीं अर्थात् सद्भाव है। ऐसे ही अनेकांत रूप अनादिनिधन वस्तु का स्वरूप है। सो एक पदार्थ विषे विचार कर देखो कि जैसे एक जीव चेतनत्वादि भाव की अपेक्षा से नित्य

ही है और नर नरकादि पर्याय की अपेक्षा से अनित्य ही है। ज्ञान विषे प्रतिभासा जो जीव का आकार सो ज्ञानमात्र भी है और पुद्गलादिक के द्रव्य क्षेत्र काल भाव विषे जीव का अभाव ही है। जीव के द्रव्य क्षेत्र काल भाव विषे जीव का सद्भाव ही है ऐसे ही अनेकांत रूप जैसे जीव एक पदार्थ है। तैसे ही सर्व्व पदार्थ अनादिनिधन अनेक अपेक्षा कर तिस रूप भी हैं और तिस रूप नहीं भी हैं। दृष्टान्त विषे कल्पना कर जैसा है तैसा ही मानने से सम्यग्ज्ञान होय है इसलिये ऐसा ही मानना योग्य है। आगे जो सर्व्व वस्तुओं का साधारण (समान अर्थात् जो अन्य में भी पाइये) स्वरूप ऐसा है तो आत्मा का असाधारण (जो एक में ही पाइये अन्य में नहीं) स्वरूप कैसा है जो भासा हुआ तिस आत्मा की मुक्ति को साधे ऐसे पूछे कहे हैं :—

छन्दः—ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकाङ्क्षन् भावयेद् ज्ञानभावनाम् ॥ १७५॥

अर्थ—कैसा है आत्मा ज्ञान है असाधारण स्वभाव जिसका ऐसा है और स्वभाव अर्थात् निज स्वरूप की जो प्राप्ति सो विनाश रहित है। इसलिये विवेकी जीव अविनाशी अवस्था को वांछता हुआ ज्ञान भावना को भावे ॥

भावार्थ-पहिले जो वस्तु के नित्य अनित्य आदि धर्म्म कहे थे वह तो सर्ववस्तु विषे समान रूप साधारण हैं। और यह जो ज्ञान है अर्थात् जानना है सो आत्मा ही विषे पाईए है। इस लिये यह ज्ञान आत्मा का असाधारण स्वभावहै इसही लक्षण कर परद्रव्य से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का निश्चय होय है। और यह नियम है कि वस्तु का अस्तित्व होते उस के स्वभाव का अभाव न होय है क्योंकि लक्ष्य का नाश भये लक्षण का अस्तित्व कैसे रहे। जैसे जो पुरुष अपने धन ही का धनी होय कर प्रवर्त्तें तो उसकी एकसी दशा रहे है और जो परधन का धनी होय कर प्रवर्त्तें तो उस की एकसी दशा नहीं रहे तैसे आत्मा का स्वभाव ज्ञान है सो जो जीव अपने ज्ञान ही का स्वामी होय कर प्रवर्त्तें कि यह पदार्थ जैसे परिणमें तैसे परिणमो मैं इनका जाननहारा ही हूं ऐसी भावना राखे तो उसकी अविनाशी अवस्था होय है। क्योंकि जो जानपना है वह तो इस का स्वभाव ही है उसका तो अभाव होय नहीं। और जानपने विना अन्यभावों का यह स्वामी होता नहीं इस लिये इसकी अवस्था कैसे पलटे। और जो जीव परद्रव्य के स्वभाव का स्वामी होय कर प्रवर्त्तें है अर्थात् जब शरीर धन स्त्री पुत्रादिक अपने स्वभाव रूप परिणमैं और यह तब उन को अपने जाने तो इसकी अविनाशी अवस्था रहे नहीं क्योंकि जिस के शरीरादिक की अवस्था पलटे उसकी अपनी अवस्था एक रूप रहे नहीं। और उनकी

अवस्था पलटी हुई माने तो तहां अविनाशी पना कैसे रहे। इसलिये जो विवेकी अविनाशी अवस्था को चाहे सो एक ज्ञानभावना ही को भावे। आगे कोई यह प्रश्न करे कि भिन्न भिन्न वितर्क भेद के लिये (तर्क के भेदों से रहित) शुक्लध्यान स्वरूप जो श्रुतज्ञान भावना रूप है स्वभाव जिस का ऐसे ज्ञानके होने पर क्या फल होय है। —:(ताका उत्तर कहे हैं):—

छन्दः—ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥१७६॥

अर्थ—निश्चय कर ज्ञान विषे ज्ञान ही फल है। सो सर्वथा सराहने योग्य है और अविनाशी है। सो यहां जो कुछ अन्य फल की वांछा करिये है सो बड़ा आश्चर्य है यह मोह की महिमा जाननी॥

भावार्थ—श्रुतज्ञान कर पदार्थ को यथार्थ जानिये सो श्रुत ज्ञान का तत्काल फल तो पदार्थ का जानना ही है और श्रुतज्ञान का परंपरा फल केवल ज्ञान है तहां सर्व्व पदार्थों का जानपना होय है। ऐसे ज्ञान का फल ज्ञान ही है सो सर्व्व प्रकार प्रशंसा योग्य है। क्योंकि यथार्थ ज्ञान भए पदार्थ जैसे के तैसे भासे हैं इस से निराकुलता होय है और निराकुलता

सुख का लक्षण है सुख को सर्व्वं चाहे हैं। और इस सुख विषे पराधीनता आदिक कोई भी दोष नहीं है। और जो विषय सामग्री रूप फल को चाहते हैं सो यह मोह की महिमा है। जैसे खाज रोग भए खुजावनें की सामग्री भली लागे है तैसे जब मोह से काम क्रोधादिक रूप भाव आत्मा के होंय तब इस को स्त्री शस्त्रादिक सामग्री भली भासे है। अर्थात् उनको चाहे है। और ज्ञानी जनको ज्ञान विना अन्य फलका चाहना आश्चर्य्य भासे है। जैसे भूत के चिमटनेसे पुरुष की चेष्टा का आश्चर्य्यं होय है तैसे मोही जीवों की चेष्टा का ज्ञानी को आश्चर्य्यं होय है। आगे श्रुतज्ञान की भावना विषे भव्य जीवों को प्रवर्त्तने से क्या फल होय है सो कहे हैं :—

छन्द:—शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत्॥१७७

अर्थ—भव्यजीव शास्त्र रूपी अग्नि विषे सच्चे पुष्पराग (मणि) रत्नवत् मलरहित हुवा हुवा विशुद्ध निर्म्मल शोभे है। और दुष्ट जीव आग के अङ्गारेवत् प्रकाशमान होता हुआ मल संयुक्त होय है तथा भस्म रूप होय है॥

भावार्थ—जैसे पद्मराग मणि कै लगे हुए मैल का अग्निसे नाश होने से निष्पन्नता को

पाय कर शुद्ध स्वभाव रूप होता हुआ शोभायमान होय है और इन्धन का अङ्गार अग्नि कर प्रकाशमान तो होय परन्तु कोयलारूप मैला हो कर राख रूप होय है। तैसे जो धर्म्मात्मा भव्य जीव हैं वह तो शास्त्रके अभ्यास कर पदार्थोंको जानते हुए शुद्ध रूप होय हैं और जो दुष्टजीव हैं वह रागादिक दोषों कर मैले होयहैं॥ आगे ध्यान की सामग्री को दिखावतेहुए सूत्र कहेहैं :-

छन्दः--मुहुः प्रसार्य्य सद्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः १७८॥

अर्थ-आत्मा के अधिकार रूप अध्यात्म भाव के जानन वाला मुनि वारम्वार सम्यक् ज्ञान को फैलाय कर जैसे पदार्थ तिष्ठैं तैसे उनको देखता हुआ राग द्वेषको दूरकर ध्यावेहै॥

भावार्थ-आत्मज्ञानी जीव ध्यान करेहै। तहां पहले तो आगमादिक (शास्त्रादिक) रूप सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों का निश्चय करे है। फिर यथार्थ श्रद्धान करता हुआ जैसे राग द्वेष न होय तैसे वाह्य साधन वा अन्तरङ्ग विचार कर राग द्वेषका नाश करे। ऐसी सामग्री भए ध्यानकी सिद्धि होय है। क्योंकि उपयोगकी निश्चलताका नाम ध्यानहै। सो जब राग द्वेष होते परद्रव्यों विषे उपयोग(विचार)भ्रमै तब ध्यान कैसे होय। और जीवादिक पदार्थनका निश्चय भए

बिना पर द्रव्य इष्ट अनिष्ट भासें तहां राग द्वेष कैसे दूर होंय। क्योंकि पदार्थों के जानने विषे अपना ज्ञान लगाए बिना पदार्थों का निश्चय कैसे होय; इसलिये ज्ञान को विस्तार कर पदार्थों का यथार्थ निश्चय कर राग द्वेष को मेट कर कोई एक पदार्थ को यथार्थ ध्यावता हुआ यह जीव अन्य सर्व चितवन को रोक कर ध्यान अवस्था को प्राप्त होय है। यह जो ध्यान है सो साक्षात् मोक्षमार्ग है इसके लिये भव्य जीवों को ऐसी सामग्री मिलावनी योग्य है। आगे यदि कोई यह कहे कि राग द्वेष का नाश ध्यान करने से पहले ही क्यों करिये है ऐसे प्रश्न का उत्तर कहे हैं क्योंकि संसार के कारण जो कर्म्म उन के उपजावने का कारणपना इन राग द्वेष में पाइये है इस लिये पहिले इन का नाश कर ध्यान करणा योग्य है ऐसा कहे हैं :-

छन्दः-वेष्टनोद्वेष्टने यावत् तावद्भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ॥ १७९ ॥

अर्थ-मन्थर (रई) के समान जो यह प्राणी है इस कै यावत् बन्धना और खुलना पाइये है तावत् संसार समुद्र विषे गमन और आगमन कर भ्रमण होय है॥

भावार्थ-जैसे मांथनी विषे रई होय है उसकै रस्सीका बन्धना और खुलना जबतक

होयहै तैसे संसारविषे यह जीवहै।
पाईए है। तवतक गमनागमन के होनेकर उसका परिभ्रमण
दूसकै नवीनकर्म्म का बन्धन और पूर्व कर्म्मका उदय होयकर जवतक निर्ज्जरा(कर्मोंकाघटना)
पाईये है तवतक नर नरकादि पर्यायों विषे गमनागमन होने कर दूसकै परिभ्रमण पाईए है।
और पूर्व कर्म्म के उदय होने से दूसकै रागादिक होय हैं। और रागादिक भावों से नवीन कर्म्म
बन्ध होय है। दूसलिये संसार विषे भ्रमणका कारण रागादिक भाव जानने॥ आगे किसी प्राणी
कै तो कर्म्म का घटना भ्रमण और नवीन बन्धन का कारण होय है और किसी कै नहीं होय
है ऐसा दिखावते हुए सूत्र कहे हैं :-

छन्दः-मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथाऽसौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम्॥१८०

अर्थ-मन्थर जो रई उस सारिखा जो यह जीव है दूसकै खुलती जो फांसीउस कर भ्रमण
और बन्ध होय है सो यह फांसी ऐसे खोलनी जैसे फिर भ्रमण न होय और बन्धन भी न होय॥
भावार्थ-जैसे मांथनी विषे रई होय है और उसकै रस्सी की फांसी होय है उसका
खुलना दो प्रकार का है एक खुलना तो ऐसा होय है कि जिस कर नवीन तो बन्धन होता

जाय है और मांधनी विषे भ्रमण होय है और एक खुलना ऐसा होय है कि जिस कर नवीन बन्धन न होय है और मान्थनी विषे भ्रमण भी नहीं होय है। तैसे संसार विषे यह जीव है इस कौ कर्म्म रूपी फांसी पाइये है उसका निर्ज्जरा होना दो प्रकार का है ।.एक तो निर्ज्जरा ऐसी होय है। जिस कर नवीन बन्धन होता जाय है, और संसार विषे भ्रमण होय है। और एक निर्ज्जरा ऐसी होय है कि जिस कर नवीन बन्धन नहीं होय है और कर्म्म रूपी फांसी से र-हित होकर मुक्त होय है। यहां ऐसा जानना कि जब पूर्व बांधा हुवा कर्म्म काल पाय अपना उदय रस देकर निर्ज्जरै है तब सविपाक निर्ज्जरा (ऐसी निर्ज्जरा कि जिस में कर्म्मों का फल भोगना कुछ शेष है अर्थात् कर्म्मों के फलवाली) होय है सो तो नवीन कर्म्म बन्धन का और संसार विषे भ्रमण का कारण है और जो पूर्व बन्धा हुवा कर्म्म है सो धर्म्म साधन से अनुभाग हीन होने कर अपना उदय रस दीये बिना ही निर्ज्जरै है तहां अविपाक निर्ज्जरा (ऐसी निर्ज्जरा अर्थात् कर्म्मों का झड़ना कि जिस में कर्म्मों का फल भोगना बाकी नहीं रहा) होय है सो नवीन कर्म्म बन्धन का और संसार विषे भ्रमण का कारण नहीं होय है। इसलिये कर्म्म रूपी फांसी की अविपाक निर्ज्जरा करनी योग्य है कि जिस से बन्धन और भ्रमण न होय॥ आगे जीव कै बन्धन कैसे होय है और कैसे न होय है ऐसा कहे हैं :—

छन्दः—रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्षते मोक्षः ॥ १८१ ॥

अर्थ—राग द्वेषभावों कर करी हुई प्रवृत्ति और निवृत्ति से तो जीव के वन्ध होय है। और तत्वज्ञान कर करी हुई प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति (निवृति) कर जीव के मोक्ष होय है॥

भावार्थ—आत्मा जिस रूप होय प्रवर्त्ते है उस आत्मा के प्रवर्त्तने का नाम प्रवृत्ति है। और निवृत्ति अर्थात् अप्रवृत्ति नाम न प्रवर्तने का अर्थात् हट जाने का है। तहां जो मोहके उदय से रागी द्वेषी भाव निपजे हैं उन कर कदाचित् तो आत्मा के अशुभ कार्यों की प्रवृत्ति और शुभ कार्यों की अप्रवृत्ति होय है और कदाचित् शुभ कार्यों की प्रवृत्ति और अशुभ कार्यों की अप्रवृत्ति होय है सो ऐसी प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति कर तो आत्मा के वन्ध होय है और मोह का उदय क्षीण होने से जो तत्वज्ञान होय है उस कर ज्ञान मात्र शुद्धोपयोग की तो प्रवृत्ति और शुभ अशुभ भावों की अप्रवृत्ति होय है। सो ऐसी प्रवृत्ति अप्रवृत्ति कर आत्मा के मोक्ष होय है। इसलिये ऐसाही साधन करना योग्य है। आगे पूछे है कि जो वन्ध होय है सो पुण्यरूप और पापरूप होय है सो किस से निपजेहैं ऐसी आशका का उत्तर कहे हैं:—

छन्दः—द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम्॥१८२॥

अर्थ—गुण और दोष विषे द्वेष और अनुराग रूप जो बुद्धि सो तो निश्चय कर पाप को करे है और इस से विपरीत अर्थात् गुण विषे अनुराग और दोष विषे द्वेष रूप बुद्धि सो पुण्य को करे है। और इन दोनों से रहित जो बुद्धि सो पाप पुण्य कर्म्मों से मोक्ष करे है॥

भावार्थ—बुद्धि नाम उपयोग और शुद्धोपयोग का है उपयोग के अर्थ बहुत हैं परन्तु इस स्थान में इसका अर्थ परिणाम अर्थात् चिन्तवन का है सो शुद्धोपयोग नाम शुद्धचिन्तवन का है। तहां जिस कर आत्मा का भला होय उसका नाम गुण है और जिस कर आत्मा का बुरा होय उस का नाम दोष है। सो धर्म्म रूप भावों से आत्मा का भला होय है इस लिये धर्म्म को सूचन अर्थात् प्रकाश करनेवाला जो भाव सो तो गुण है। और अधर्म्म रूप भावों से आत्मा का बुरा होय है। इस लिये धर्म्म से विरोधी जो भाव सो दोष है। सो जिस जीव कै तीव्र मोह के उदय से गुण विषे द्वेष होय और दोष विषे अनुराग होय। अथवा तिस ही अभिप्राय से जिस विषे गुण होय वा जो गुण का कारण होय तिस विषे तो द्वेष होय और जिस विषे दोष

होय वा दोष का कारण होय तिस विषे अनुराग होय तिन जीवों कै अशुभोपयोग पाइये है उसकर पाप कर्म्म का बन्ध होय है। और जिस जीव कै मन्द मोह के उदय से गुण विषे अनुराग होय। और दोष विषे द्वेष होय, अथवा तिस ही अभिप्राय से जिस विषे गुण पाइये वा जो गुण का कारण होय उस विषे अनुराग होय। और जिस विषे दोप होय वा जो दोष का कारण होय उस विषे द्वेष होय उस जीव कै शुभोपयोग पाइये है उस कर पुण्य कर्म्म का बन्ध होय है। यहां कोई यह कहे कि द्वेषबुद्धि से पुण्य का बन्ध कैसे होय —(तिस का समाधान):— जो अपने कषाय का प्रयोजन लिये द्वेष करे तहां तो पाप बन्ध ही है। परन्तु जैसे कोई पुरुष मित्र के शत्रु विषे द्वेष करे तैसे जो धर्म्म के विरोधी विषे द्वेष करै तो तहां उसके अभिप्राय विषे धर्म्म का अनुराग होने से पुण्य का बन्ध ही होय है। तिसका उदाहरण (तमसील) एक शूर और एक सिंह दोनों लड़े तहां शूर तो मुनिराज की रक्षा के अभिप्राय से मर कर पांचवें स्वर्ग में देव भया और सिंह मुनिराज को मारने के अभिप्राय से मर कर पांचवें नरक विषे गया। और शास्त्रों विषे भी पाप अथवा पापी जीवों की निन्दा करिये है इसलिये कथंचित् द्वेष से भी पुण्य बन्ध सम्भवे है। ऐसे यह दोनों उपयोग राग द्वेष सहित प्रवर्तें हैं। इसलिये इनको अशुद्धोपयोग कहिए है। और जिस जीव कै मोह के अभाव से यह दोनों प्रकार के राग द्वेष न

पाइये। तिस जीव के शुद्धोपयोग है तिस कर पुण्य पाप कर्म्म का नाश ही होय है अर्थात् नवीन बन्धन न होय है पूर्व बन्ध की निर्जरा ही होय है। ऐसे तीन प्रकारका उपयोग होय है। सोई पुण्य पाप का बन्ध और उन दोनो के नाश का कारण जानना। आगे पूर्वोक्त प्रकार जिन राग द्वेषों से बन्ध का कारण होय है उन का उपंजना कैसे होय है सो कहे हैं :-

छन्दः—मोहबीजाद्रागद्वेषौ बीजान् मूलाङ्कुराविव।
तस्माद्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा॥१८३

अर्थ—जैसे बीज से वृक्ष के जड़ और अंकुर होय है। तैसे मोह रूपी मूल से आत्माके रागद्वेष होय हैं। इस लिये जो जीव इन राग द्वेषों को दग्ध किया चाहे है। उसे उचित है कि ज्ञान रूपी अग्नि कर मोह को दग्ध करे॥

भावार्थ—अतत्व श्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव का नाम तो मोह है। और इष्ट अनिष्ट पदार्थन को मान कर उन विषे प्रीति अप्रीति करनी तिस का नाम राग द्वेष है। क्योंकि अतत्व श्रद्धान से पदार्थ इष्ट अनिष्ट भासे है इसलिये जैसे वृक्षकी जड़ और अंकुरका मूलकारण बीज है तैसे राग द्वेष का मूलकारण मोह जानना। और जैसे कोई जड़ और अंकुर को दग्ध

किया चाहे तो वह उस के बीज को दग्ध करे। तैसे जो राग द्वेष का नाश किया चाहे तो वह मोह का नाश करे क्योंकि मोह का नाश भये राग द्वेष का नाश सहज ही होय है। परन्तु सम्यग्दृष्टि के मोह का नाश भये पीछे कदाचित् किञ्चित् राग द्वेष रहे भी है। जैसे उपाड़े हुए वृक्ष के जड़ और अंकुर केतेक काल हरे रहे हैं परन्तु शीघ्र ही सूकेंगे। तैसे राग द्वेष शीघ्र ही नाश को प्राप्त होयगें और किसी मिथ्या दृष्टि के मोह का सद्भाव होते राग द्वेष थोड़े भी वाह्य प्रगटे तो जैसे बीज होते जड़ और अंकुर थोड़े से भी वाह्य दीसै परन्तु शीघ्र ही वधेंगे। तैसे वह राग द्वेष शीघ्र वृद्धि को प्राप्त होयेंगे। इसलिये राग द्वेष का मूल कारण मोह को जान कर उस ही का नाश करना। क्योंकि जैसे बीज जलावने का कारण अग्नि है। तैसे मोह नाश का कारण ज्ञान है ज्ञान से जीवादि तत्वों के स्वरूप को यथार्थ जाने तो अतत्व श्रद्धान का नाश होय। इसलिये तत्व ज्ञान के अभ्यास विषे तत्पर रहना इतना किये सर्व्व सिद्धि स्वयमेव होय है॥ आगे इन राग द्वेषों का बीज रूप जो मोह वह कैसा है, और उस के नाश का कारण क्या है सो कहे हैं :—

छन्दः—पुराणोग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक्।

त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुद्ध्यति रोहति ॥१८४॥

अर्थ—मोह रूपी गूमड़ा अर्थात् फोडा कैसा है पुराणा है परन्तु गूमड़ा तो इसी काल में भया है और मोह रूपी गूमड़ा अनादि काल से भया है इसलिये यह पुरातन है और कैसा है यह ग्रहदोष से निपजा है। गूमडा तो मंगलादिक खोटे ग्रह की आनेसे निपजे है। और मोह है सो परद्रव्य का ग्रहण रूप परिग्रह उसके दोष से निपजे है। और कैसा है गम्भीर है, गूमडा तो ऊंघा होय है मोह है सो ऐसा गहरा है जाका थाह न पाइये है। और कैसा है, गति सहित है, गूमड़ा तो राधि रुधारादिक का गमन लिये है। मोह है सो नारकादिक गति का सद्भाव लिये है। और कैसा है पीडा सहित है। गूमडा तो पीडा देवे है और मोह आकुलता निपजावे है। ऐसा जो मोह रूपी गूमडा है सो त्याग और जात्यादिक (मलहम आदि) कर शुद्ध होय है और रोह (जख़म का अंगूर बंधना) को प्राप्त होय है गूमडा तो रुधिरादिक का छोड़ना और जात्यादिक घृतादिक का लगावना इन उपायों कर शुद्ध होय है और चामड़ी रूप रोह को प्राप्त होय है। और मोह है सो परद्रव्यों को छोडना और निज जाति (आत्मस्वरूप) को ग्रहण करना इन उपायो कर शुद्ध होय है। और सम्यक्त रूप रोह को प्राप्त होय है॥

भावार्थ–जैसे गूमड़ा अपने शरीर ही विषे उपजे है। परन्तु आप को दुःखदायक है। तैसे जो मोह है सो अपने ही अस्तित्व विषे प्रगट होय है परन्तु आकुलता उपजावे है इस लिये उपाय कर इस मोहरूपी गूमड़े का नाश करना ही योग्यहै। आगे कहे हैं कि जो जीव मोहरूपी गूमड़े को शुद्ध किया चाहे तो वह जीव नाश को प्राप्त भये भी कुटम्ब विषे शोक न करे :–

छन्दः–सहृदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विषः।
सुहृदोऽपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृताः॥१८५॥

अर्थ–जो आप को सुखी करे वह तो मित्र होय है और जो आप को दुःखी करे वह शत्रु होय है। सो जो मित्र भी थे वह भी दुःखी करने को मरे तो वह भी शत्रु भए तो वह शोक करने योग्य कैसे होयें॥

भावार्थ–लोक विषे जो आप को सुख उपजावे सो तो मित्र कहिये और जो दुःख उपजावे सो शत्रु कहिये। और जो पहिले मित्र भी था और पीछे जो आप को दुःखदायक होय तो उस को भी शत्रु मानिये है और जिस को शत्रु मानिये उस का शोक नहीं करिये है इसलिये जो यहां अपने स्त्री पुत्रादिक हैं वह तेरे मानने में तो मित्र थे परन्तु जब वह मरण को प्राप्त

भये तब तो वह तुझ को दुःखदायक भये इस लिये वह भी शत्रु ही भये। अब उन का शोक क्या करना। सो प्रत्यक्ष देखो जैसे शत्रु का स्मरणादिक भी दुःख उपजावे है तैसे ही मूए पीछे स्त्री पुत्रादिक का स्मरणादिक दुःख उपजावे है, इस लिये इस शास्त्र न्याय कर स्त्री पुत्रादिक कभी भी हितकारी नहीं हैं और मरने के पीछे उन को हितकारी मानकर जो शोक करे है सो यह बड़ा मोह है। सो जो मोह को दूर किया चाहे है तो स्त्री पुत्रादिक का मरणादिक होतें भी उनका शोक नहीं करना॥ आगे स्त्री पुत्रादिक मित्रों के मरण से दुःखी भया जो तू सो क्या करे ऐसा कहे हैं :-

छन्दः—अपरमरणे मत्वात्मीयानलंघ्यतमे रुदन्।
विलपतितरां स्वस्मिन् मृत्यौ तथाऽस्य जडात्मनः।
विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा
कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेपि न केनचित्॥ १८६

अर्थ—जो मरण अतिशय कर अलंघ्य अर्थात् किसी प्रकार भी मेटा न मिटे सो अपने से

भिन्न स्त्री पुत्रादिकों के ऐसे मरण के होने पर उन स्त्री पुत्रादिकों को अपने जानकर उनके
अर्थ जो जीव रोता हुआ अतिशय कर विलाप करे है सो जीव अपनी मौत के आने के समय पर
भी वैसा ही अतिशय कर रोता हुआ विलाप करे है। सो ऐसे मूर्ख आत्माके भय रहित मरणके होने
पर उपजे जो बड़ा भारी यश वा उत्कृष्ट परलोक सो उस को कैसे प्राप्त होय अर्थात् कदापि न
होय हैं। इसलिये जो सुबुद्धि जीव हैं सो किसी के मरनेपर किसी प्रकार भी शोक नहीं करे हैं॥

भावार्थ—जो जीव स्त्री पुत्रादिक के मरण होते अत्यन्त शोक करे हैं वह अपने मरण का भी अत्यन्त शोक करे हैं क्योंकि जबके एक इष्ट का वियोग होते भी शोक होय है तो अपने मरण समय तो सर्व ही का वियोग होय है इस लिये जिस के पुत्रादिक के वियोग विषे शोक होय है उस के मरण का भय रहित जो समाधि मरण सो नहीं होय और समाधि मरण से इस लोक विषे तो यश होय है और परलोक विषे उत्कृष्ट पद प्राप्त होय है सो यह दोनों उस मूर्ख जीव के कैसे प्राप्त होंय। इस लिये ज्ञानी जीव पहिले ही स्त्री पुत्रादिकों से मोह को घटाकर समाधी की सिद्धि करे हैं। ऐसा करने से इस के यहां तो यश की प्राप्ति होय है और आगामि स्वर्ग मोक्षादिक की प्राप्ति होय है। आगे यह शोक काहे से होय है और किस कारण से होय है सो कहे हैं :—

छन्दः—हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम् ।
तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात् सर्वदा सुधीः ॥ १८७

अर्थ—इष्ट सामग्री की हानि से शोक निपजे है। और तिस शोक से दुःख होय है। और इष्ट सामग्री की प्राप्ति से राग निपजे है। और तिस राग से सुख होय है। इस कारण से जो सुबुद्धि जीव है, सो हानि विषे शोक रहित होता हुवा सदाकाल सुखी होय है॥

भावार्थ—सर्व जीव सुख को चाहे हैं, सुख का घातक दुःख है जब दुःख होय है तब शोक होय है, सो इष्ट सामग्री का वियोग भये होय है। और जो ज्ञानी ऐसा विचार करे कि जो मैं मोह से पर वस्तु को इष्ट मानूं हूं सो यह इष्ट नहीं है और यह पर वस्तु मेरी कभी भी न होय है और मेरी राखी रहे नहीं। इसलिये पर के वियोग विषे शोक क्या करना ऐसे विचार से जो हानि होते भी शोक न करे तो उसके दुःख कैसे होय। दुःख भये विना सुखका अभाव न होय तब वह ज्ञानी सदाकाल सुखी ही रहे है। इसलिये जो सुखी रहा चाहे तो हानि भये भी शोक न करे। और जो कोई हानि न होने का उपाय कर सुखी रहा चाहे है तो संसार विषे कोई कोई सामग्री की हानि तो होय ही होय इसलिये यहां शोक न करना सो जो शोक का न

करना है सोई सुखी होने का उपाय है । आगे यहां जो सुखी वा दु:खी होय वह परलोक विषे कैसा होय सो कहे हैं :-

छन्द:-सुखी सुखमिहाऽन्यत्र दु:खी दु:खं समश्नुते ।
सुखं सकलसंन्यासो दु:खं तस्य विपर्ययः ॥ १८९

अर्थ-इस लोक विषे जो सुखी है, सो परलोक विषे भी सुख को पावे है । और इस लोक विषे जो दु:खी है,सो परलोक विषे भी दु:ख को पावे है । तहां जो सर्व परवस्तु का त्याग सो तो सुख है । और उससे उलटा अर्थात् पर वस्तु का जो ग्रहण सो दु:ख है ॥

भावार्थ-कोई जीव यहां ऐसा भ्रम करे कि यदि वर्त्तमान सुख को छोड कर काष्ट और दु:ख सहिये तो परलोक विषे सुख होय सो परलोक तो परोक्ष है न जानिये तहां क्या होगा। इसलिये अब यहां सुख को छोड़ कर काष्ट और दु:ख क्यों सहिये, ऐसे भ्रम करने वाले को समझाइये है । कि जो यहां दु:खी होय है सो परलोक विषे भी दु:खी होय है और जो इस लोक विषे सुखी होय वह परलोक विषे भी सुखी होय है । -(यहां फिर प्रश्न करे है):- कि शास्त्रों विषे तो यह प्रसिद्ध है, कि जो विषय सुख सेवे सो परलोक में दु:ख को पावे और

जो यहां तपश्चरणादिक कष्ट को सहे सो परलोक में सुख को पावे तुम ऐसा कैसे कहो हो।

-:(तिस का उत्तर):- तू जो बाह्य सामग्री से सुख दुःख भया माने है सो तेरै यह भ्रम है। जो हम कहे हैं सो सुन, जो अपने परिणाम आकुलता रहित होंय, सो तो सुख है। और जो आकुलता सहित होंय सो दुःख है और जो आकुलता होय है सो मोह से परद्रव्य का ग्रहण किये होय है। क्योंकि यह तो परद्रव्य को ग्रहे है और परद्रव्य इसके होंय नहीं। सो तहां आकुलता उपजे इसलिये परद्रव्य का त्याग करके जो निराकुल होना है सोई सुख है। सो ऐसी दशा भये वर्त्तमान काल में भी सुखी होय है। और आगामि भी इस का फल परम सुख होय है और परद्रव्य का ग्रहण कर आकुलता करनी सो दुःख है। सो ऐसी दशा भये वर्त्तमान भी दुःखी होय है। और आगामि भी इस का फल दुःख ही है। और शास्त्र विषे भी विषय सुख सेवन का फल दुःख कहा है। सो जहां तृष्णा कर आकुलता लिये विषय सेविये हैं तिस का फल दुःख होय है। वरनः विषय सुख तो भोगभूमिया के वा इन्द्रादिक के घने पाइये हैं परन्तु वहां तृष्णा थोड़ी है। इसलिये वह कुगति को नहीं प्राप्त होय हैं, और रङ्कादिकों को विषय सुख नहीं मिले हैं। परन्तु तृष्णा कर आकुलित होय नरकादिक को पावे हैं। और जो तपश्चरणादिक कष्ट का फल सुख कहा है। सो बाह्य तो तपश्चरण करे और अन्तरङ्ग

विषे संक्लेश रूप दुःखी न होय तिस कै तप का फल सुख कहा है। और जो तपश्चरण कर दुःखी होय है तिस कै आर्त्तध्यान होने कर तिस का फल दुःख ही है। इस लिये जो जीव मोह के हनने से वर्त्तमान सुखी होय है। सोई आगामि भी सुख को पावे है। और जो मोह रूप बन्धने से वर्त्तमान दुःखी होय है। सोई आगामि काल में भी दुःख को पावे है। शास्त्र विषे भी दुःख शोकादिक से असाता का बन्ध कहा है असाता का उदय आए दुःखी ही होय है। सो तू ऐसा भ्रम करके कि दुःख का फल सुख है परलोक के सुख के उपाय से पराङ्मुख मत हो। और जो यहां विषय सुख छोड़िये हैं। सो मिश्री मिले जैसे गुड़ का स्वाद बुरा लगे, तैसे शान्त रस पाये विषय रस नीरस भासें हैं। इसलिये विषय सुख न भोगिये हैं और उन के छोड़ने विषे दुःखी न होइये है। इसलिये विषय सुख छोड़ने का भय मत कर, सांचा धर्म्म साधने से वर्त्तमान काल में भी सुख होय है और आगामि भी सुख होय है सो ऐसा ही कार्य्य करना योग्य है। आगे पुत्रादिक के मरण से जो शोक और तिन की उत्पत्ति से जो हर्ष होय है सो यह उत्पत्ति भी मरण ही है ऐसा दिखावें हैं :—

छन्दः—मृत्योर्गत्यन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम्।

तत्र प्रमुदितान्मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः ॥ १९०

अर्थ-इस संसार विषे देहधारी जीवों के एक मरण से अन्य मरण की प्राप्ति का नाम उत्पत्ति है। इस लिये जो तिस उत्पत्ति विषे हर्षवंत होय हैं। उन को मैं पीछे भया जो उन का मरण उस विषे पक्षपाती मानूं हूं॥

भावार्थ-पुत्रादिक के जन्म भये हर्ष करिये है। और तिन के मरे पीछे शोक करिये है, सो हर्ष का कारण जो पुत्रादिक का जन्म है, सो तिनका नवीन मरण ही है। क्योंकि आयु के नाश का नाम मरण है, सो समय२ आयु घटे है। इस लिये इनके सदा काल मरण ही पाइये है तहां पूर्व पर्य्याय सम्बन्धी मरण को छोड़ नवीन पर्य्याय सम्बन्धी मरण का जो प्रारम्भ तिसही का नाम जन्म है, ऐसे जन्म विषे जो हर्ष माने हैं, सो नवीन मरण के पक्षपाती अर्थात् अनुरागी हैं। और जो मरण के अनुरागी हैं सो उनका परस्पर हित सम्बन्ध कैसे मानिये यहां ऐसी युक्ति कर पुत्रादिक के जन्म और मरण विषे हर्ष विषाद करना छुड़ाया है। आगे सर्वसङ्ग कहिये परिग्रह उसका त्यागी और जन्म मरण विषे जिस के समान बुद्धि पाइये है और सर्व शास्त्रों का ज्ञाता और दुर्द्धर तप का करने वाला ऐसा जो मुनि है उस को शिक्षा देते हुए सूत्र कहे हैं:-

छन्दः—अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ।
च्छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वम्फलम् ॥ १९१ ॥

अर्थ—सर्व शास्त्र को पढ़ कर और चिर काल पर्यन्त घोरवीर तप को सेवन कर जो तू उन का फल इस लोक विषे ही लाभ वड़ाई आदिक चाहे है। सो तू शून्य अर्थात् विवेक रहित चित्त वाला होता हुवा भले तप रूपी वृक्ष के फूल ही को छेदे है। सो इस तप का जो ऐसे मीठे रस वाला स्वर्ग मोक्षादिक रूप पक्का फल उस को तू कैसे पावेगा॥

भावार्थ—जैसे कोई वृक्ष उगावे तहां तिस कै पहिले फूल होय और पीछे फल लगे। सो जो फूल ही को छेद आप अङ्गीकार करे तो उस के मीठे पक्के फल की प्राप्ति न होय। तैसे जो जीव शास्त्राभ्यास बहुत करे और उत्कृष्ट तपश्चरण करे उसकै पहिले तो लाभ पूजादिक निपजैं भक्त पुरुष मनोरथ साधैं वा स्वयमेव ऋद्धि चमत्कारादिक उपजैं ऐसे तो लाभ होंय, और

महन्तता विशेष होय सर्व बड़ा मानें ऐसे पूजा होय इत्यादिक कार्य्य निपजैं पीछे स्वर्ग मोक्ष के फल की प्राप्ति होए और जो जीव लाभ पूजादिक को आप चाहकर अङ्गीकार करें लोभी होय कर भक्त पुरुषों से कुछ लिया चाहैं, वा उन का दिया धनादिक अङ्गीकार करैं वा ऋद्धि चमत्कारादिक को चाहें और उन के प्राप्त होने पर संतुष्ट होयें। और मानी हो कर आप महन्तपना अर्थात् बड़ापना चाहें, वा महन्तता बड़ाई भये मदवान् होय हैं सो ऐसे जीव इस किञ्चित् सांसारिक सुख रूप फूल को पाय कर परम सुख रूप रस लिये जो स्वर्ग मोक्ष रूप पक्का फल उस को न पावे हैं इसलिये यह शिक्षा है कि शास्त्राभ्यास वा तपश्चरण का साधन कर लाभ पूजादिक का अर्थी न होना। आगे कहे हैं कि शास्त्र को पढ़ कर मान बड़ाई की इच्छा मत कर बल्कि कषायों को जीत :-°

छन्दः—तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोकपङ्क्तिं विना
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः ।
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्

शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥ १९२

अर्थ–हे भव्य तू लोकों की पंक्ति विना यहां तैसे निरन्तर शास्त्र को पढ़, और विस्तार लिये काय क्लेश कर शरीर को भी शोष जैसे दुर्ज्जय अर्थात् दुःख से जीतने के लायक यानि जिन का जीतना अति कठिन है ऐसे जो कषाय विषय रूपी वैरी हैं उन को तू जीते क्योंकि महा मुनि तप और शास्त्र का फल उपशम भाव ही कहे हैं ॥

भावार्थ–केवल शास्त्र का पढना और तप का करना ही कार्य्यकारी नहीं है। वल्कि कार्य्यकारी तो उपशम भाव है। तहां जो जीव शास्त्र को पढ कर तत्त्वज्ञान से कषायों को घटावे हैं। वा तपश्चरण कर इष्ट अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी राग द्वेष न करने से कषायों को घटावे हैं। तिन का शास्त्र पढ़ना, और तप करना सफल होय है। और जो जीव शास्त्र को पढ़ कर वा तपश्चरण करके विषय कषायों के कार्य्यों को साधे हैं। और मन रमावने के अर्थ वा मान बड़ाई के अर्थ वा भोजन धनादिक के अर्थ शास्त्र पढ़े हैं वा तप करे हैं सो जीव तो लोकों की पंक्ति विषे बैठे हैं जैसे अन्य लोक विषयों के अर्थ व्यापार सेवादिक कार्य्यों को करे हैं तैसे इन्हों ने भी उपाय किया है। यहां तर्क। क्योंकि व्यापारादिक विषे तो हिंसादिक

होय है। इस उपाय विषे कोई हिंसादिक नहीं हैं। इसलिये व्यापारादिक से तो यह उपाय भला है। —:(तिस का उत्तर):— व्यापारादिक विषे तो बाह्य पाप विशेष दीखे है और इस उपाय विषे अन्तरङ्ग पाप बहुत होय हैं। इसलिये इस को व्यापारादिक से भी अति निन्द्य जानना। आगे कोई पूछे कि शृङ्गार सहित लोकों को अवलोकन कर विषयों की अभिलाषा जीवन के उपजे है। सो कैसे विषय जीते जायें तब गुरु उत्तर कहे हैं :—

छन्दः—दृष्ट्वा जनं ब्रजसि किं विषयाभिलाषं
स्वल्पोप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम्।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥ १९३ ॥

अर्थ—जैसे अल्प सचिक्कण वस्तु का सेवन जो अयोग्य आचरण तिसके करने वाले रोगी के दोष उत्पन्न होय है और जो घृतादि स्निग्ध वस्तु का सेवन नहीं करता उसके दोष नहीं उपजे है तैसे हे भव्य ! यह अल्प विषयाभिलाषी पना भी तेरे महा अनर्थ उपजावे है और

यदि तू विषयाभिलाषी न हो तो तेरे कोई भी अनर्थ न होय है इसलिये तू लोगों की शृङ्गार सहित देख कर विषयाभिलाषी क्यों होय है अर्थात् तुझे विषयाभिलाषी होना योग्य नहीं।

भावार्थ—जैसे अज्ञानी जीव लोगों को शृङ्गारादिक सहित देख कर विषयों की वांछा करे हैं। तैसे तू कदाचित् मत कर क्योंकि यह अल्पभी विषयाभिलाष तुझे महा दुःख का कारण है। जैसे कोई रोगी सचिक्कण वस्तु का किञ्चित् सेवन भी करे तो उस के रोग की अति वृद्धि होय इसलिये रोगी को सच्चिक्कण वस्तुका सेवन उचित नहीं तैसे विवेकी जीवों को विषयाभिलाषी होना उचित नहीं। आगे कहे हैं कि सर्व जीवों कै दुःखदायक वस्तुओं में अरुचि होय है इसलिये तुझे दुःखदायी विषयों विषे अभिलाषा करनी योग्य नहीं :—

छन्दः—अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं
सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्योजहाति जनोप्ययम्।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे भवे
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः॥ १९४

अर्थ—जैसे कोई अहितियों में प्रीति करने वाला मनुष्य अपनी प्यारी स्त्री को भी उस का दुराचार सुन कर उस को तत्काल आप ही तजे है। तैसे आत्मकल्याण विषे साव-धान जो विवेकी पुरुष वह इन विषयों का भव भव विषे प्रत्यक्ष दोष देख कर विषय रूपी विष वाले भोजन के ग्रासों का अभ्यास कैसे करे है अर्थात् जैसे कोई आत्महितैषी भोजन में विषादिक दोष देख कर उसके ग्रासों को नहीं भक्षण करे है तैसे आत्म कल्याण को चाहने वाला पण्डित विषयों का भव भव विषे दोष देख कर इन को तजे है॥

भावार्थ—जैसे किसी की स्त्री से अधिक प्रीति होय और वह उस की दुराचारणी सुने तो तब वह उस को तत्काल तजे। तैसे जो पण्डित विवेकी आत्मा हैं, वह भव भव विषे विषयों के दोष देख कर कैसे विषयानुरागी होंय अर्थात् सर्वथा न होंय और जैसे कोई आत्महितैषी पुरुष एक वार भी भोजन में विष देख कर उसके ग्रासों को वार वार नहीं भक्षण करे है, तैसे जो सुबुद्धि पण्डित पुरुष हैं वह एक वार भी इन विषयों का दोष देख कर इन को भव भव में दु:खदायी जान कर इन से अनुराग नहीं करें हैं। तथा जैसे विष सहित भोजन मीठा तो लागे। परन्तु प्राण हरे तैसे यह विषय रमणीक तो भासे हैं परन्तु अनन्तभवों में प्राण हरे हैं इसलिये यह विषय त्यागने ही योग्य हैं। आगे कहे हैं कि जिस समय तू विषयों का अ-

भ्यास(सेवन) करे है उस समय और जब इनसे रहित होय है तब तिस समय कैसा होय है :-

छन्दः-आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीद्दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन्प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना १९५

अर्थ-हे आत्मन् आत्मज्ञान के लोपन हारे जो विषय कषायादिक उन में प्रवृत्ति कर तू चिरकाल से दुराचारी भया है और जब तू आत्मा के सम्पूर्ण कल्याण के कारण हारे जो ज्ञान वैराग्यादिक अपने निज भाव उन को अङ्गीकार करे तब तू उन के अङ्गीकार करने से श्रेष्ठ आत्मा ही को पावे है। और ऐसी जो परमात्मदशा उस को प्राप्त होता हुवा केवल ज्ञान स्वरूप भया आप कर उपजा जो आत्म सुख तिस विषे शोभायमान हुवा अपने शुद्धात्मा-भाव कर अपने अध्यात्म स्वरूप विषे तिष्टेगा ॥

भावार्थ-जबलग तेरे बहिरात्म दशा है। तबलग विषय कषायों के सेवन कर दुराचारी है।

और जब सकल कल्याण रूप ज्ञान वैराग्यादिक का आचरण करे है, तब अन्तरात्मा होय कर परमात्म पद को पावेहै। तहां केवल ज्ञानरूप भया सन्ता अनन्त सुख विषे निश्चल तिष्ठेहै। आगे कहे हैं, कि जीव कै सदा काल दुःख का कारण जो शरीर है, उस के अभाव के निमित्त शास्त्रोक्त विधि कर यत्न करना योग्य है :-

छन्दः—अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित
स्ततोऽनशनसामिभक्तरसवर्ज्जनादिक्रमैः।
क्रमेण विलयावधिस्थिरतपोविशेषैरिदं
कदर्थय शरीरकंरिपुमिवाद्य हस्तागतम् ॥ १९६ ॥

अर्थ—इस जगत् विषे इस शरीर ने तुझ को आगे अनन्त काल दास (गुलाम) की तरह भमाया है। इसलिये अब तू उपवास और अल्पाहार तथा रस परित्यागादि विधिरूप तप के विशेष कर निरन्तर क्रम से (सिलसिलेवार कायदे से) मरण पर्यन्त इस को चीण कर, जैसे कोई हाथ आये शत्रु को चीण करे तैसे तू इस शरीर रूपी शत्रु को चीण कर पहिले तुझे इस

शरीर ने अनन्तकाल तक दासवत् भव भव विषे भट काया। और तूने इस के सम्बन्ध से अनेक दुःख पाये। इसलिये अब तू जैसे कोई हाथ आये वैरी को क्षीण करे तैसे तू नाना प्रकार तप कर इस शरीर को क्षीण कर। आगे कहे हैं कि इस ससार विषे जो कुछ अनर्थ की परम्परा है तिस का मूल कारण यह शरीर है :-

छन्दः—आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि
काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषमाश्च मान।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु
मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥ १९७ ॥

अर्थ—प्रथम तो शरीर की उत्पत्ति होय है, तिस शरीर विषे यह दुष्ट इन्द्रियें विषयों को वांछे हैं। और वह विषय महन्तता (मान) की हानि करे हैं। और महाक्लेश के कारण हैं। और भय के देन हारे हैं, और पाप के उपजावन हारे हैं, और नरक निगोदादिक कुयोनियों के दायक हैं, इसलिये यह शरीर ही अनर्थ की परम्परा का मूलकारण है ॥

भावार्थ—संसार दशा विषे यह जीव पूर्व शरीर को त्याग नवीन शरीर को धारण करे है। सो शरीर विषे यह दुष्ट इन्द्रियें अपने अपने विषयों को वांछे हैं सो वह विषय अपमान के कारण क्लेश के कर्त्ता भयकारी पाप की उपजावन हारे कुगति के देन हारे हैं। इसलिये यह शरीर ही अनर्थ की परम्परा का मूल कारण जानना। आगे कहे हैं कि ऐसे शरीर को पोषण कर अज्ञानी जीव क्या करे हैं :—

छन्दः—शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम्॥१९८

अर्थ—अहो लोक में मूर्ख जीवों को क्या दुष्कर (मुशकिल) है शरीर को भी पोषें, और विषयों को भी सेवें, सो मूर्खों को कुछ भी विवेक नहीं विष से जीया चाहे हैं॥

भावार्थ—अविवेकियों को पापका भयनहीं, और विचार भी नहीं, विना विचारे न करने योग्य जोकार्य्य होय सो भी करें परन्तु जो पण्डित विवेकीहैं वहशरीर से अधिक प्रेम न करे हैं और नाना प्रकार सामग्री कर इस को न पोषे हैं और विषयों को न सेवें हैं और अकार्य्य (बुरे काम) से डरें हैं और जो मूढ जन हैं वह शरीरको अधिक पोषे हैं और विषयों को सेवें हैं और न

करने योग्य कार्य्य में अयोग्यकी शङ्का न करे हैं सो जो विषयोंको सेवे हैं, वह विष खाय जिया चाहे हैं। आगे कहे हैं कि कलिकाल के दोष से मुनि शरीर को तपादिक कर पीड़ा उपजावते हुए पर्व्वत की गुफादिक जो काय क्लेश के स्थानक हैं उनको तज कर ग्राम के समीप आय वसे हैं:-

छन्दः-इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्य्यां यथा मृगाः।
बनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९९ ॥

अर्थ-जैसे मृगादिक वन में जहां तहां भ्रमण कर सिंहादिक के भय से रात्रि विषे वन से ग्राम के समीप आय रहे हैं तैसे कलिकाल विषे मुनि भी दिन विषे वन निवास कर रात्रि को ग्राम के समीप आवें हैं, सो हाय हाय यह बड़ा कष्ट है। कि महा निर्भय मुनि भी मृगों की न्याईं ग्राम के समीप आय वसे हैं ॥

भावार्थ-मृगों की यह रीति है कि दिन को वन विषे विचरें और रात्रि को ग्राम के निकट आय वसें हैं तैसे कलिकाल विषे मुनि भी रात्रि विषे ग्रामके समीप निवास करें हैं सो यह बड़ा दोष है। मुनियों को तो गिरिशिखर और गिरि गुफा, विषम वन नदियों के तट इत्यादि

निर्ज्जन स्थानक ही विषे रहना योग्य है। आगे कहे हैं, कि तप को ग्रह कर जो इन्द्रियों के वशीभूत होय हैं उन से गृहस्थ अवस्था ही श्रेष्ठ है :-

छन्दः—वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
सुस्त्रीकटाक्षलुण्टाकैर्लुप्तवैराग्यसंपदः ॥ २०० ॥

अर्थ—इस जगत् विषे स्त्रियों के जो कटाक्ष सोई भये लुटेरे तिन कर लूटी गई है वैराग्य सम्पदा जिस की और होनहार है, संसार में परिभ्रमण जिस के ऐसे तप से तो गृहस्थपना ही श्रेष्ठ है ॥

भावार्थ—गृहस्थ अवस्था विषे तो निज स्त्री का सेवन है परन्तु जो तप को धारकर नगर की स्त्रियों के जो नेत्र तिन के जो कटाक्ष (दृष्टि) सो भये लुटेरे तिन कर लूटी गई है वैराग्य सम्पदा जिस की ऐसे तपस्वी से तो गृहस्थी ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि ऐसा तप संसार ही का कारण है। आगे कहे हैं, कि इस शरीर के योग से तू स्त्री का अनुरागी होय कर दुःखी भया, सो यह शरीरादिक तेरे साथ एक पांव भी न जाय हैं इसलिये शरीरादिक से स्नेह तज :-

छन्दः—स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयंस्त्यक्तलज्जाभिमानः
सम्प्राप्तोस्मिन् परिभवशतैर्दुःखमेतत् कलत्रम्।
नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलुब्धोसि भूयः
सख्यं साधो यदि हि मतिमान्माऽग्रहीर्विग्रहेण॥ २०१

अर्थ—हे भव्य ! जो तू इस शरीर के होते सन्ते अपना अर्थ जो शुद्धोपयोग रूप आत्म कल्याण अथवा पञ्चमहाव्रत रूपी धर्म्म तथा अणुव्रत श्रावक का धर्म्म तिन के नाश को न गिणता हुवा सैंकड़ों अपमान करवा कर भी जिस स्त्री के सयोग को प्राप्त भया सो यह स्त्री का सम्बन्ध ही तेरै महा दुःख का मूल है और तूने लज्जा और अभिमान (अयाचीवृत्ति अर्थात् बिना मांगे गुजारा करना) तज दिये हैं सो तू स्त्री के सङ्ग से निर्ल्लज्ज और याचक भया इस समान और दीनता नहीं है सो तूने तो शरीर के अर्थ अपना अर्थ (कर्तव्य) खोया और यह तो तेरे सङ्ग एक पांव भी न जाय, सो तू ऐसा क्यों ठगा गया है। जो बारम्बार इस ही से प्रीति करे है अब तुझे समझावे हैं कि यदि तू बुद्धिमान् है तो शरीर से प्रीति मत कर॥

भावार्थ–तू तो शरीर का नाना प्रकार पोषण करे है। और इस के संग में तू स्त्री का अनुरागी होय निर्लज्ज और दीन भया है। सो शरीर तो तेरे साथ एक पांव भी न जाय है इसलिये हे भव्य! तू इस देह से स्नेह तज और देह के प्रसंगी जो स्त्री पुत्रादिक हैं, उन से भी प्रीति तज। आगे कहे हैं कि जब मूर्तीक और मूर्तीक पदार्थों में भी परस्पर मिलाप होते हुवे उन का भेद न मिटे है अर्थात् किसी का लक्षण भी किसी से न मिले है तो फिर तू मूर्तीक और यह अमूर्तीक कैसे एक होयेंगे, यह तेरे जो प्रतीति न पावे है सो यह तेरी बड़ी भूल है:–

छन्दः–न कोऽप्यन्योन्येन व्रजति समवायं गुणवता
गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरसौ।
न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमति
स्ततश्च्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखे भववने ॥ २०२

अर्थ–यह प्रत्यक्ष है कि कोई द्रव्य भी किसी द्रव्य से एकता के भाव को प्राप्त न होय

है और तू कर्म्म के योग से रूपी पदार्थों के साथ ममत्व भाव को प्राप्त भया है सो जिन शरीरादिक पदार्थों में आसक्त होय तू एकता जान प्रवर्त्या है। सो वह पुद्गल तेरे रूप नहीं हैं तू निर्बुद्धि हुआ वृथा ही एकता माने है। इस अभेद बुद्धि कर तिन में आसक्त भया जो तू सो भवरूप वन विषे बहुत दुःखी होवेगा छेदा जायगा भेदा जायगा, और भव भव में दुःख भोगेगा। इसलिये देहादिक से स्नेह तज ॥

भावार्थ–रूपी पदार्थ जो परमाणु हैं सो सर्व भिन्न भिन्न हैं। यद्यपि मिल कर स्कन्ध रूप होय हैं, तथापि न्यारे न्यारे हैं सो तू अमूर्त्तीक पदार्थ है वह तेरे साथ कैसे मिलें और तू उन से कैसे मिले इसलिये तू इन से राग तज। आगे कहे हैं, कि पूर्व जिसका वर्णन किया है, तो जब वह शरीर ही ऐसा है तो तिस विषे ममता बुद्धि कर आशा क्यों करनी :–

छन्दः–माता(जनिः)जातिः पिता मृत्यु राधिव्याधी सहोद्गतौ।
प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥ २०३

अर्थ–कैसा है शरीर उत्पत्ति तो जिस की माता है, और मरण जिस का पिता है। और आधि कहिये मन का सोच, व्याधि कहिये वायु, पित्त, कफ आदि रोग यही जिस के

भाई हैं औरअन्त विषे जरा मित्र है, यह शरीर तो ऐसा तौभी इस शरीर विषे जो तेरी आशा है, सो यह बड़ा आश्चर्य है ॥

भावार्थ–शरीर तो जन्म मरण आधि व्याधि और जरा रूप है। और तू अजर अमर अनादि निधन अखण्ड अव्याबाध है, इसलिये तेरा और इस का क्या सम्बन्ध है। आगे कहे हैं, कि तू तो शुद्ध बुद्ध स्वरूप है, परन्तु शरीर कर अशुद्धता को प्राप्त भया :–

**छन्द:–शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोप्यमूर्त्तो
प्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि।
मूर्त्तं सदाशुचि विचेतनमन्यदत्र
किं वा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम्॥ २०४॥**

अर्थ–हे चिदानन्द! तू तो शुद्ध कहिये निर्म्मल है। और समस्त निज और पर का ज्ञाता है। अमूर्त्तीक है परन्तु इस जड़रूपी अशुचि शरीर ने तुझे अपवित्र किया है और इस मूर्त्तीक सदाअशुचि अचेतन शरीर ने ही अन्य जो कीसर कपूरादिक सुगन्धित वस्तु हैं

उन को भी दुर्गन्धित किया है। इसलिये धिक्कार है धिक्कार है इस शरीर को॥

भावार्थ–जिस देह के सम्बन्ध से केसर करपूरादि सुगन्ध द्रव्य भी दुर्गन्धित हो जाय हैं उस शरीर के सम्बन्ध से तू महा दुःखी भया और चार गति के दुःख भोगे अर्थात् अशुचि अपावन देह को धारण कर अशुचि कहाया और निन्द्य कहाया। इसलिये इस शरीर से प्रेम तज धिक्कार है, इस शरीर को जिस के प्रसंग कर तू संसार वन विषे भ्रमण कर रहा है। आगे कहे हैं, कि इस शरीर विषे तू अनुराग बुद्धि कर नष्ट भया निन्द्य शरीर को अनिन्द्य जाना:–

छन्दः–हा हतोसितरां जन्तो येनास्मि तव साम्प्रतम्।
ज्ञानं कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसः॥२०५

अर्थ–हाय हाय हे प्राणी तू अत्यन्त ठगाया गया है और नष्ट भया है इस शरीर के ममत्व कर तू अतिदुःखी भया है। सो इस काया को अशुचि जानना यह ही ज्ञान है और शरीर से ममत्व छोड़ना यही बडा साहस है॥

भावार्थ–हे आत्मन् तू अनादि काल से अपने स्वरूप को न जानता थका पर को अपना मान कर नष्ट भया है सो यह शरीर अशुचि और तू महापवित्र सो तेरा और इस का क्या

सम्बन्ध है। इसलिये इस देह से स्नेह तज अर्थात् निर्ममत्व हो। ताकि फिर शरीर का धारण न हो। आगे कहे हैं, कि यद्यपि साधुओं के शरीर से ममत्व नहीं है तथापि प्रबल रोग के उदय से चित्त विषे व्याकुलता होती होगी यह व्याख्यान दो श्लोकों में करे हैं :-

छन्दः—अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न मुनिः खेदमृच्छति।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेऽपि नदीजले ॥ २०६ ॥
जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा
नोचेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्।
लग्नाग्निमावसति वह्निमपोह्य गेही
निर्हाय वा व्रजति तत्र सुधीः किमास्ते ॥ २०७

अर्थ-मुनि रोगादिक की वृद्धि कर भी खेद को प्राप्त नहीं होय है जैसे नदी का जल वृद्धि को प्राप्त भया तथापि दृढ़ नाव विषे तिष्टया जो जीव उस को क्या फिकर है तैसे जो

ज्ञानी मुनि हैं उन को रोगादिक की वृद्धि विषे क्या विकल्प। परन्तु जो अणुव्रती श्रावक हैं उन के कदाचित् रोग उपजे तो वह निर्दोष औषधादिक के योग से रोग को शान्त कर शरीर विषे वसे हैं और जब प्रबल रोग की शान्तता न होती जाने तो उस समय अनशनादिक वृत्तिकर शरीर को तजे हैं यह दोय ही रीति हैं जैसे जब घर को अग्नि लगी तब सुबुद्धि तिस को बुझा कर घर में बसे है और बुझती न जाने तो घर छोड़ परे जाय है तैसे शरीर रहता जाने तो योग्य औषधादिक कर रोग की निवृत्ति करे हैं और जो शरीर को रहता न जानें तो निर्ममत्व होय कर त्यागे हैं :–

भावार्थ–श्रावक की तो दोय रीति हैं, पवित्र औषधादिक का सेवन करे तथा न भी सेवन करे। और साधु इच्छा कर तो औषधि का सेवन न करें। परन्तु जो श्रावक निर्दोष औषध आहारादिक विषे दें तो नीराग भावों से लेवे हैं राग भाव न करे हैं। आगे कहे हैं कि औषधादिक कर रोग न मिटे तो ज्ञानी जीवों को शरीर के नाश होने का भय न करना, क्योंकि मरण का भय अज्ञानियों के ही होय है :–

छन्दः–शिरस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।

शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥ २०८

अर्थ–जैसे कोई सिर का बोझ उतार कर कान्धे पर धर सुख माने है। तैसे जगत् के जीव रोग का भार उतार कर शरीर के भार कर सुख माने हैं ॥

भावार्थ–जगत् के जीव रोग गये शरीर में सुख माने हैं। और ज्ञानी जीव शरीर का सम्बन्ध ही रोग जाने हैं। जैसा सिर का भार तैसा ही कान्धे का भार इसी प्रकार जैसा रोग का दुःख तैसा ही देह धारण का दुःख है इसलिये शरीर जाय तो विषाद नहीं करणा। आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करे हैं :–

छन्दः–यावदस्ति प्रतीकारस्तावत्कुर्य्यात् प्रतिक्रियाम् । तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया ॥ २०९ ॥

अर्थ–जब तक ज्ञानी जीवों को योग्य औषधादिक का ग्रहण होसके तो तब तक करें परन्तु जो रोग न मिटे तो फिकर न करें। अर्थात् शरीर से उदास होना, निर्विकल्प रहना यही बड़ा यत्न है ॥

भावार्थ-जितनी शरीर की आयु है उतनी ही स्थिति होय है। और स्थिति पूर्ण भये यह शरीर कदाचित् भी न रहे है इसलिये इस के नाश का हर्ष वा शोक नहीं करना। आगे शिष्य पूछे है, कि किस उपाय कर शरीर से उदासीनता करनी चाहिये, सो उस को समझावे हैं :—

छन्दः—यदा यदा भवेदजन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति।
शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः॥ २१०

अर्थ-तैजस और कार्म्मण जो मूल शरीर हैं। तिन के योग से यह जीव नये नये शरीर धारण कर संसार में भ्रमण करे है जब मनुष्य और तिर्यञ्च होय है तब तो औदारिक (पेट वाला) शरीर धारे है और जब देवनारकी होय है तब वैक्रियक (विक्रिया वाले अर्थात् जो अपने रूप तथा शरीर को दूसरे रूप कर सके) धारें है और जब तैजस कार्म्मण के अभाव से शरीर न धरे है तब मुक्त होय है और शरीर का जो धारण सो ही संसार है इसलिये शरीर का सम्बन्ध त्याज्य ही है। तुच्छ विकल्पों के करने से क्या होय है॥

भावार्थ-शरीर के धारने वाले संसारी हैं और शरीर के न धारने वाले अर्थात् अशरीरी सिद्ध हैं इस लिये शरीर से ममत्व तजना योग्य है। आगे कहे हैं कि यह जीव तो

शरीर का उपकार करे है। और यह शरीर उस से उलटा इस जीव को दुःख देवे है इसलिये इस शरीर का ममत्व तजना योग्य है:—

छन्दः—नयन्सर्वाशुचिप्रायं शरीरमपि पूज्यताम्।
सोप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत्॥ २११

अर्थ—सर्व अशुचि का मूल जो यह शरीर तिसको यह आत्मा पूज्य पद को प्राप्त करे है। और शरीर आत्मा को चाण्डालादिक के जन्म कर अस्पृश्य अर्थात् न छूनेके लायक करे है। इसलिये इस के दुराचार को धिक्कार हो॥

भावार्थ—आत्मा तो इस मलिन शरीर का उपकार करेहै। और शरीर अशुभ को उपजाय कर इस जीवको कुयोनियों में डाल कर ऐसा करेहै कि कोई भी उसे मेट न सकेहै। इसलिये शरीर को धिक्कारहै। अर्थात् आत्मा तो शरीर को संयमादि साधन कर पूज्य करे है। और शरीर अज्ञान दशा विषे जीव को नरक निगोद तिर्यञ्च तथा कुमानुषादिक जन्मकर अस्पृश्य करे है। सो यह आश्चर्य्य की वार्ता नहीं, क्योंकि जो भला होय सो भला करे। और जो बुरा होय सो बुराकरे। आगे दो श्लोकों में कहेहैं, कि संसारी जीव शरीरादिक तीन भागों को धरेहैं॥

छन्दः—रसादिराद्योभागः स्यात् ज्ञानावृत्त्यादिरन्वितः ।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्य्येवं त्रयात्मकः ॥ २१२
भागत्रयमिदं नित्यमात्मानं बन्धवर्त्तिनम् ।
भागद्वयात् पृथक्कर्त्तुं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥ २१३ ॥

अर्थ—आदि का भाग तो सप्त धातुमय ही शरीर है ता पीछे दूसरा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म्म का भाग है। और तीसरा भाग ज्ञानादिक निज भाव का है। इस प्रकार संसारी जीव तीन भाग को धरें हैं। सो इन तीन भाग में ही संसारी जीवों में जो जीव शरीर का भाग और कर्म्म का भाग इन दोय भागों से जीव को पृथक् करने की विधि जाने सो तत्त्वज्ञानी है॥

भावार्थ—शरीर और शरीर के मूल कारण जो कर्म्म हैं उन से जो जीव जुदा हो कर ज्ञानादिक निज भावों विषे रमे है सोई तत्त्वज्ञानी है और जो परवस्तु विषे रत होय है सो अज्ञानी है। आगे शिष्य प्रश्न करे है, कि दोय भागों से आत्मा का जुदा करना तप के आचरण से होय है। सो तप करना कठिन है सो उस को समझावें हैं :—

छन्दः—करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन्न जयेद्यत्तदज्ञता॥२१४

अर्थ—यदि तू चिरकाल तक दुर्द्धर तप करने और क्लेश सहिने को असमर्थ है तो मनही कर जीते जायें ऐसे जो क्रोध मान माया लोभादिक वैरी हैं उनको तो जीत, और न जीतै तो तेरी बड़ी अज्ञानता है। अर्थात् कषाय जीतने में तो काय क्लेश नहीं, मन ही की सुलट न है॥

भावार्थ—शरीर के क्लेश कर तप को तू कठिन जाने है। सो तू दुर्द्धर तप न कर सकै तो मन को वश कर के कषायों को क्षीण कर, क्योंकि कषाय जीतने में काय क्लेश नहीं है केवल मन ही का परिणमन है। क्योंकि यह कषाय जीव के शत्रु हैं इसलिये इन को अवश्य ही जीतना योग्य है। आगे कहे हैं कि जब तक कषायों को न जीते तब तक मुक्ति के कारण जो उत्तम क्षमादिक गुण उन की प्राप्ति तुझे अति दुर्लभ है :—

छन्दः—हृदय सरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।

श्रयति गुणगणोयं तन्न तावद्विशङ्कं
संयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥ २१५

अर्थ—जब तक तेरे निर्म्मल अगाध हृदय रूप सरोवर विषे निश्चय से कषाय रूप नाकूओं का समूह वसे है, तब तक गुणों का समूह निशंकपने प्रवेश न कर सके है इसलिये शम, दम, यम भेद कर कषायों के जीतने का यत्न कर शम नाम समता भाव यानि शान्त परिणाम का है, दम नाम इन्द्रियों के दमन यानि रोकने का है और यम नाम इन पांचों का है यानि हिंसा न करनी, चोरी न करनी, झूठ न बोलना, ब्रह्मचर्य्य रखना, और परिग्रह का त्याग करना ॥

भावार्थ—जब तक तेरे हृदय विषे कषायों का संचार रहे तब तक शम दमादिक गुणों का लेश मात्र भी अङ्गीकार नहीं होय सके है। इस लिये कल्याण के निमित्त कषायों को तज। आगे कषायों का जीतना सोई मोक्ष का कारण है, ऐसा उपदेश देते हुए कषायों के आधीन पुरुषों की हांसी करें हैं :—

छन्दः—हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियः तां सिद्धिमामुत्रिकीं

वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शसन्ति शान्तं मनः।
तेषामाखुविड़ालिकेति तदिदं धिग्धिक्कलेः प्राभवं
येनैतेपि फलद्वयप्रलयनाद्दूरं विपर्य्यासिताः ॥ २१६

अर्थ–जो सुबुद्धि (अकलमन्द) जीव इस भव विषे निश्चय कर कारण कहिये परिग्रह का त्याग और कार्य्य कहिये मन की शान्तता को त्याग कर परलोक की सिद्धि को चाहते हुवे अपने आप ही अपने मन विकल्पो साधनो कर यह कहे हैं कि हमारा मन शान्त है सो उन का ऐसा कहना महा विरुद्ध है क्योंकि जैसे विलाव और मूसे का अनादि से परस्पर वैर है तैसे ही क्रोधादिक और उपशान्ततादि गुणों में परस्पर विरोध है इसलिये वारम्वार धिक्कार हो इस कलिकाल के प्रभाव को कि जिस के प्रभाव से सुबुद्धि भी इस लोक में दोनों फलों के नाश से अत्यन्त ठगाये गये हैं ॥

भावार्थ–जो कषाय तजे विना शान्तचित्त कहावैं हैं। सो वृथा ही अपनी प्रशंसा करे हैं क्योंकि कषायों के और उपशान्तता के परस्पर विरोध है। इसलिये जो बुद्धिमान् कहाय कर

आत्म कल्याण न करें हैं सो दोनों जन्म विगाड़े हैं। अर्थात् अत्यन्त ठगाये गये हैं। आगे श्री गुरु शिष्य को शिक्षा करे हैं। कि यदि तू महातप और ज्ञान कर सयुक्त है, और कषायों के जीतने वाला है तो, अहकार का लेश भी न कर अर्थात् अहंकार को मूल से उखेड़ डाल :-

छन्दः—उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवंस्त्वामगच्छन्कषायाः
प्राभूद्बोधोप्यगाधो जलमिव जलधौ किन्तु दुर्लंघ्यमन्यैः।
निर्व्यूढेपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग्निम्नदेशेष्ववश्यं
मात्सर्यं ते स्वतुल्यैर्भवति परवशाद्दुर्जयं तज्जहीहि २१७

अर्थ—तू तप विषे उद्यमी भया है। इसलिये कषाय तेरे से अति अपमान को प्राप्त भये हैं और जैसे समुद्र विषे जल अगाध होय है तैसे तेरे ज्ञान अगाध भया है। परन्तु एक तुझे शिक्षा करे हैं। यह बात औरों कर अगम्य है इस दोष को विरले ही तजे हैं जैसे जल के प्रवाह विषे तुच्छ स्थानक विषे जो निःसंदेह थोंडा जल है, सो गूढ है अर्थात् लोकन के जानने में

नहीं आवे है तैसे तेरे कर्म्म के वश से अपने बराबर वालों में अद्वेषस कहिये मत्सर (हसद) भाव होय है सो यह अति दुर्ज्जय है इस को तू त्याग ॥

भावार्थ–जो तू तपस्वी है, मन्द कषायी है और गम्भीर चित्त है तो मत्सर अर्थात् अद्वेषस का भाव तज। अपने बराबर तथा अधिक विषे अद्वेषस का भाव मत करे। यह बड़ा भारी दोष है इस को तू मर्ईया तज। आगे कोई प्रश्न करे कि इन कषायों के उत्पन्न होने से जीव का क्या अकल्याण होय है, तिसको एक वैष्णव मत के दृष्टान्त द्वारा समझावे हैं कि काम क्रोधादिक के उदय होने से जीव का इस प्रकार अकल्याण होयहै सो प्रथम क्रोध के उदय विषे अकल्याण दिखावें हैं :–

छन्दः–चित्तस्थमप्यनवबुध्य हरेण जाड्यात्
क्रुध्वा वहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्य्यहानिः ॥ २१८ ॥

अर्थ—देखो चित्त में रहने वाले काम को न जान कर हर ने क्रोध कर किसी वाह्य पदार्थ को काम जान भस्म किया, सो काम न मूवा क्योंकि काम के योग से आप स्वयं सराग अवस्था को प्राप्त भया अर्थात् काम की करी हुई घोर वेदना सही इसलिये क्रोध के उदय से किस के कार्य्य की हानि न होय अर्थात् सर्व के ही होय है॥

भावार्थ—जैसे शिव जी ने क्रोधित होकर एक वाह्य मूर्त्ति को काम जान भस्म किया परन्तु काम का स्थान जो चित्त में है उस को न जाना इसलिये काम न मूवा और क्रोध के वश होकर अपना कार्य्य जो चित्त में रहने वाले काम का भस्म करना था उस को भूल गये तिस से सराग भाव को आप स्वयं प्राप्त हो कर काम की वेदना सही इसी प्रकार हर जीव के क्रोध के उदय से सर्व कार्य्य का नाश होय है॥

नोट—यहां श्री गुणभद्र स्वामी ने एक वैष्णव मत के दृष्टान्त कर क्रोध को अकल्याणकारी सिद्ध किया है क्योंकि कवियों का अभिप्राय अपने प्रयोजन के सिद्ध करने की तरफ होता है इसलिये यहां वैष्णव मत का दृष्टान्त देख कर किसी जैनी को आशंका नहीं करनी, यहां केवल क्रोध से उत्पन्न हुई जो हानि उस पर दृष्टि है॥

आगे मान के उदय विषे अकाज दिखावे हैं :—

छन्दः—चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुक्तः।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानोमनागपि हतिं महतीं करोति ॥ २१९ ॥

अर्थ—देखो बाहुबली ने अपनी दाहिनी भुजा पर तिष्टा जो चक्र उस को तज कर जिन दीक्षा आचरी परन्तु चिरकाल तक कुछ एक संज्वलन मान का उदय रहा तिस कर वर्ष पर्यंन्त केवल ज्ञान न उपजा। और महा कायक्लेश किया, तोभी मान गये बिना मुक्त भये न मान गए पिछे ही तप कर ससार से मुक्त भये इस लिये मान त्याज्य ही है। क्योंकि यह तुच्छ मात्र मान भी महा मोटी हानि करे है॥

भावार्थ—जो पुरुष तन, धन, रूप, सम्पदा, यौवन, राज्य, लक्ष्मी इन का गर्व करें हैं सो यह सर्व क्षण भङ्गर हैं क्योंकि आत्मा तो निश्चयकार सिद्ध समान है, त्रैलोक्य का आभूषण है। इस कै मान काहे का इसलिये मान ही मोक्ष का विघ्नकारी है। जब बाहुबली सारिखे तपस्वी

मान बलवान् विवेकी भी सूक्ष्म संज्वलन मान के उदय कर वर्ष पर्य्यन्त केवल न पावते भये। मान कणिका के जाने पर ही केवल उपजा तब औरों की क्या बात इस लिये मानत्याज्य ही है। आगे कहे हैं, कि जो विवेकी गुणों की महन्तता जाने हैं उन कै तुच्छ मात्र भी मान नहीं होय है :-

छन्दः—सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्य्यं भुजे विक्रमो
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृते।
येषां प्रागजनीह तेपि निरहङ्काराः श्रुतेर्गोचरा
श्चित्रं सम्प्रति लेशतोपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः २२०

अर्थ—इस लोक में पहिले काल विषे ऐसे महा सत्पुरुष भये हैं कि जिन के वचनों विषे सत्य और बुद्धि विषे शास्त्र हृदय विषे दया भुजा विषे शूरवीरता और पराक्रम और लक्ष्मी का याचकों के समूह विषे पूर्ण दान और निवृत्ति मार्ग (शान्ति के मार्ग) विषे गमन यह गुण होते भये तौभी अहंकार रहित ही शास्त्र विषे कहे हैं परन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि अवार्य (जो किसी से भी न हट सके) इस कलिकाल विषे जिन कै लेश मात्र भी गुण नहीं है। तौभी

उन में अति उद्धता पाइये है। अर्थात् महा गर्व में मस्त हो रहे हैं॥

भावार्थ-पूर्व ही चतुर्थ काल विषे बड़े सत्यवादी शूरवीर दयावान् दातार और महा विरक्त पुरुष भये परन्तु तोभी उनको गर्वका क्लेश न भया। और अब रञ्च मात्र भी गुण नहीं, तोभी उद्धत हैं अर्थात् गर्ववन्त हैं सोयह बड़ा आश्चर्य है। आगे कहे हैं कि गर्व करना झूठा है, क्योंकि गर्व तो तब करे जब कोई अपने से अधिक न होवे :-

छन्दः-वसति भुवि समस्तं सापि संधारिताऽन्यै
रुदरमुपनिविष्टा सा च ते चापरस्य।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु॥ २२१॥

अर्थ-इस पृथ्वी विषे समस्त वसे हैं। और सर्व का आधार पृथ्वी है, सो त्रैलोक्य की भूमि घनोदधि, घनवात, तनवात इन तीन वात वलान के आधार है, पृथ्वी और वात वलय आकाश के उदर में हैं। सो अनन्त आकाश केवली के ज्ञान के अंश में लीन भया है इसलिये एक से

एक अधिक है। तातैं जगत् विषै आप से वहुतों को अधिक जान कौन गर्व करै अर्थात् विवेकी पुरुष कदापि गर्व न करै ॥

भावार्थ—एक से एक अधिक है। अर्थात् सर्व तो पृथ्वी के आधार हैं और पृथ्वी वातवलों अर्थात् पवन के आधार है और वातवलय आकाश के आधार हैं और आकाश समस्त ज्ञान में समाय रहा है। और संसारी जीवों में भी विभूति कर एक से एक अधिक है। जीव तत्त्व कर सब जीव समान हैं, इसलिये गर्व करना निरर्थक है॥ आगे मायाचार के योग से जीव का अकल्याण दिखावें हैं :—

छन्दः—यशोमारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः।
सकृष्णः कृष्णोऽभूत्कपटवटुवेषेण नितरा
मपि छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः॥ २२२ ॥

अर्थ—जैसे वहुत दूध को जरासा भी विष दूषित करे है तैसे अल्प कपट भी महा मोटे

गुणों का नाश करे है। देखो मारीच जो रावण का मन्त्री उस का यश कपट कर सोने का मृग होने से मलिन भया। और राजा युधिष्ठिर का अति निर्म्मल यश उस के मुख से यह वचन निकालने से कि "अश्वत्थामाहतः" न जानियें नर न जानियें कुञ्जर। इस मायाचार के वचन कर राजा युधिष्ठिर मित्रों में लघु भये। इसलिये अल्प भी मायाचार बहुत से गुणों को हते है।

भावार्थ–मायाचार कर मारीच रावण का मन्त्री स्वर्ण का मृग बनने से लघुता और मृत्यु को प्राप्त भया और युधिष्ठिर सारखे जगद्विख्यात धर्मात्मा पुरुष भी "अश्वत्थामाहतः नरो वा कुञ्जरो वा" ऐसा वचन कहने से योग्य पुरुषों में लज्जा को प्राप्त भये इसलिये मायाचार करना योग्य नहीं। आगे इसी अर्थ को पुष्ट करें हैं :–

छन्दः–भेयं मायामहागर्त्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥२२३

अर्थ–अहो भव्य जीव हो माया रूपी औंडे खाडे से डरो। यह खाडा मिथ्या भावरूपी अन्धकारमय है इस विषै क्रोधादि महादुष्ट सर्प्प छिपे हुए दीखते नहीं हैं॥

भावार्थ–जहां खाड़ा होय तहां अन्धकार भी होय है और उस में सर्प रहे हैं। सो यह

मायारूप खाडा अति ऊंचा है इस में मिथ्या ज्ञान रूपी अन्धकार है और क्रोधादिक रूप सर्प रहे हैं, इस लिये मायारूपी खाडे से बचना चाहिये अर्थात् कपट का त्याग करना ही श्रेष्ठ है। आगे फिर इस ही अर्थ को दृढ़ करे हैं :-

छन्दः—प्रच्छन्नपाप मम कोपि न वेत्ति धीमान्
ध्वंसं गुणस्य महतोपि हिमेति मंस्थाः।
कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहो
गूढोऽप्यबोधि न विधुः सविधुन्तुदः कैः ॥२२४॥

अर्थ—जैसे अपनी उज्वल किरणों कर जगत् के आताप को दूर करने वाला जो चंद्रमा है। सो ऐसे चन्द्रमा को जब राहू आच्छादिक करे है। तो तब उसको कौन नहीं जानता अपितु सर्व ही जानें हैं तैसे ही हे गुप्त पाप के करनेवाले जीव तू ऐसा मत विचार कि कोई बुद्धिमान् भी मेरे बड़े गुणों के नाश अर्थात् गुप्त पाप को नहीं जानता है अपितु सर्व ही जाने हैं॥

भावार्थ–हे जीव यह समझकर कि मेरे कपट अर्थात् गुप्त पापको कोई भी न जानेगा कपट मत कर क्योंकि पाप कभी भी छिपा नहीं रहता। आगे लोभ कषाय कर जीवका अकाज दिखावें हैं :–

छन्दः–वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः।
श्लथ जडतया लोलोवालव्रजेविचलं स्थितः।
वत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः।
परिणततृषां प्रायेणैवं विधाहि विपत्तयः॥ २२५॥

अर्थ–देखो वनचर जो भील अथवा व्याघ्र के भय से दौड़ते हुए चमर नामा जीव की पूंछ जब दैवयोग से (इतफाकन) वेलों में उलझी तो वह मूढ़ अपने वालों का समूह जो पूञ्छ उसके लोभ सें खड़ा होय रहा सो वनचर ने प्राणों सें रहित किया। इसलिये जो तृष्णातुर हैं उनकै वाहुल्यता कर (अकसर करके) इस प्रकार विपत्तियें होय हैं॥

भावार्थ–देखो जिस समयं भीलादिक के भय से सुरांहगी भागती है तो उस समय

अचानक जब उसकी पूञ्छ वेलादिक में उलझ जाती है तो वह यह विचार कर कि यदि मैं भागूंगी तो मेरे बाल जो वेलादिक में उलझ गए हैं टूट जावेंगें इस लोभ कर वह वहां ही खड़ी हो जाने के कारण से भीलादिक वनचर जीवों कर मृत्यु को प्राप्त होय है, सो जब इस लोभ कर पशु सारखे तुच्छ जीव भी छेदे जाय हैं तो फिर मनुष्य की क्या कथा है कि जिस की आयु ही रात्री दिवस लोभ के विकल्पों में व्यतीत होय है और राज दण्डादिक से भी नहीं डरे है, इसलिये लोभ का अवश्य ही त्याग करना योग्य है। आगे कहे हैं कि जिन के अल्प ससार है वह अकल्याण की करन हारी जो कषाय उस को जीत कर ऐसी सामग्री को प्राप्त होय हैं :-

छन्दः—विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः ।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥ २२६

अर्थ–विषयों से विरक्तता और परिग्रह का त्याग कषायों का निग्रह शम कहिये शान्तता दम कहिये मन और इन्द्रियों का निरोध, यम कहिये यावत् जीव हिंसादिक पापों का त्याग इन का तो धारणा और तत्त्व का अभ्यास तपश्चरण का उद्यम, मन की वृत्ति का निरोध, जिनराज विषे भक्ति, जीवन की दया यह सामग्री विवेकी जीवों के संसार समुद्र का तट निकट आने से होय है॥

भावार्थ–जिस समय जिस जीव के शम, दम, यम आदि गुण प्रगट होय हैं और कषायों का निग्रह होय है उस समय उस के निश्चय सेती अल्प संसार बाकी रहे है। आगे कहे हैं कि जिस के शम दम यमादिक गुण प्रगट होय हैं वह संसार के कष्टों को मूल से नाश करे है :–

छन्दः–यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः॥ २२७

अर्थ–यम कहिये जन्म से मरण पर्य्यन्त अयोग्य हिंसादिक क्रिया का त्याग और नियम कहिये घड़ी, पल, प्रहर, दिन, पक्ष, मास, चतुर्मास, वर्षादिक में सम्वर सो जो साधु यम नेमादि विषे तत्पर है और महाशान्त चित्त देहादिक वाह्य वस्तुओं से निवृत्त भया है भाव जिस का और समाधि कहिये निर्विकल्प दशा को प्राप्त भया है। और जिस के सर्व जीव मात्र विषे दया है और विहित कहिये शास्त्रोक्त अल्प है योग्य आहार जिस के और दूर करी है निद्रा जिस ने और निश्चय किया है, अध्यात्म का सार आत्मस्वभाव जिस ने और निरन्तर आत्म अनुभव विषे मग्न है सो ऐसा मुनि संसार के कष्टों को मूल से विध्वंस करे है॥

भावार्थ–पूर्वोक्त भाव को प्राप्त भया हुवा मुनि निश्चय सेती संसार परिभ्रमण के कष्टों का छेदन करे है। आगे कहे हैं कि ऐसे गुणों कर मण्डित जो मुनिराज हैं वह निश्चय सेती मुक्ति के भाजन होय हैं :–

छन्दः–समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः ।

स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥ २२८

अर्थ—भली भान्ति जाना है समस्त तजने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तुवों का स्वरूप जिन्होंने और हिंसादिक सर्व पापों से जो दूर हैं, और आत्म कल्याण के कारण जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग् चारित्र हैं उन विषे आरूढ है चित्त जिन का और शान्त अर्थात् निवृत्त हो गये हैं सर्व इन्द्रियों के विषय जिन के और जो अपने और पर के कल्याण करने वाला वचन बोले हैं। और सर्व संकल्प विकल्पों से जो रहित हैं सो ऐसे मुनिराज क्यों न मुक्ति के भाजन होवें अपितु निःसन्देह शिव सुख के भाजन होय हैं ॥

भावार्थ—ऐसे मुनिराज अवश्य ही मुक्ति को पावे हैं। आगे कहे हैं कि यदि तू मुक्त हुवा चाहे है और मुक्ति के अर्थ रत्नत्रय का धारण किया है तो रत्नत्रय के भङ्ग से भय करना और जगत् को विषयासक्त देख आप विषयासक्त न होना :—

छन्दः—दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां पर-

स्तेषां भोगुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्न्नश्यति ।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वं तन्मुहुर्ज्जागृहि २२९

अर्थ–जो अविवेकी लोग विषय रूप राजा के दास भाव को प्राप्त भये हैं और गुण और दोषों के ज्ञान से शून्य है चित्त जिन का और जिन का आत्मा भी पराधीन है सो इन का क्या जाय परन्तु तेरे तो तीन भवन विषे उद्योत करन हारा रत्नत्रय धन है, इसलिये तुझे ही भय करना उचित है। क्योंकि इन्द्रिय रूपी चोर तेरे आस पास अर्थात् चौगिर्द फिर रहे हैं तिन कर जैसे न ठगा जावे तैसे यत्न कर ताके तेरी ज्ञानरूपी विभूति वह न छीन लेवें इसलिये जागित रहो ॥

भावार्थ–जिस के पास धन होय है उसी को चोरों का डर होय है, और धन रहित दरिद्री को चोरों का क्या भय, इसलिये जो अविवेकी हैं उन का तो आत्मा भी पराधीन है, उनका इन्द्रियरूपी चोरों ने क्या चुराना है और तेरै तो सम्यक्ज्ञानआदिक रत्नत्रयरूप धन है

इसलिये तुझे चौगिर्द फ़िरते हुवे इन्द्रिय रूपी चोरों से डरना योग्य है अर्थात् इन्द्रियों के वश में मत आवे। आगे कहे हैं कि जब विषयों से तेरा मोह दूर हो गया है तो तब कमण्डलु पीछी आदि संयमोपकरण से भी अनुराग मत कर :—

छन्दः—रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो
मुह्येद्वृथा किमिति संयमसाधनेषु ।
धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं
पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥ २३०

अर्थ—हे मुने जब मनोज्ञ स्त्री आदि वस्तुवों विषे तेरा मोह दूर हो गया है तो फिर संयम के साधन जो पीछी आदि उन विषे क्यों वृथा मोह करे है। क्या बुद्धिमान् पुरुष रोग के भय से भोजन को त्याग कर औषध को पीकर कभी अजीर्ण रोग को प्राप्त हो सकता है अपितु कदापि नहीं ॥

भावार्थ—जैसे रोगी को रोग के भय से भोजन को त्याग कर मात्रा से अधिक औषधी

खाकर अजीर्ण रोग को उत्पन्न करना योग्य नहीं तैसे तपस्वी मुनों को संसार परिभ्रमण के भय से धन दौलत राजपाट स्त्री पुत्रादिकों को त्याग कर कमण्डलु पीछी आदि उपकरणों में मोह करना योग्य नहीं। आगे कहे हैं कि सर्व पदार्थों विषे निरमोही मुनि इस प्रकार आप को कृतार्थ माने है :-

छन्दः-तपःश्रुतमिति द्वयं बहिरुदीर्य्य रूढं यदा
कृषीफलमिवालये समुपनीयते स्वात्मनि।
कृषीबल इवोषितं करणचोरव्याधादिभि
स्तदा हि मनुते यतिः स्वकृतकृत्यतां धीरधीः ॥ २३१

अर्थ-जैसे किसाण क्षेत्र विषे बीज बोय कर कण की वृद्धि करे है सो जब चौरादिक की बाधा कर रहित अपने घर में अन्न ले कर आवे है। तब आप को कृतार्थ माने है तैसे साधु तप और श्रुत की वृद्धिकर इन्द्रियादिक चौरों की बाधा कर रहित जब आत्मस्वरूप विषे लवलीन होय तब अपने आप को कृतार्थ माने है ॥

भावार्थ–जैसे किसाण अपने कर्त्तव्य की कृतार्थता तब ही माने है जब निराबाध अन्न घर में आय पडे। तैसे साधु धीरबुद्धि अपने संयम की कृतार्थता तब ही माने है जब इन्द्रियादिक चोरों की बाधा कर रहित तपश्रुत रूप बीज का फल ज्ञान रूप कण आप विषे लय करे अर्थात् अपने आप में समा जावे। आगे श्री गुरु शिष्य को शिक्षा दे हैं कि यदि किसी के मन में ऐसा विचार आवे कि श्रुत ज्ञान कर मेरै समस्त अर्थ का ज्ञान है, इसलिये आशा रूप शत्रु मेरा कुछ विघ्न करने को समर्थ नहीं सो उस को समझाइये है कि ऐसा जान कर आशारूप शत्रु से निर्भय रहना उचित नहीं :–

छन्दः–इष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं
नोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमरं निःशेषयाशाद्विषम् ।
पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडवः
क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः २२२

अर्थ–यह आशा रूप शत्रु मेरे ज्ञानवन्त कै कुछ विघ्नकारी नहीं। इस प्रकार ज्ञान के

गर्व से आशारूप शत्रु को अल्प न गिनना, तीन जगत् का एक अद्वितीय (जिस के समान दूसरा कोई भी नहीं) वैरी महा भयकारी यह आशा रूपी शत्रु सर्वथा दूर ही करना, तिस का दृष्टान्त कहे हैं। देखो अगाध है जल जिस विषे, ऐसा जो समुद्र उस को वड़वानल अग्नि बाधा उपजावे है अर्थात् सोखे है। इस प्रकार इस जगत् में जिसे शत्रु दबाय रखें उसे बाहुल्यता कर (अकसर करके) शान्ति कहां से होय ॥

भावार्थ–जिन के रञ्चमात्र भी शत्रु नहीं उन ही को निराबाध जानो। सो आशा तो प्रवल शत्रु है। इस के होतें शान्तता कहां से होय अपितु न होय इसलिये आशा का त्याग ही करना योग्य है। आगे कहे हैं कि जो तू आशारूप शत्रु को निर्मूल किया चाहे है तो सर्वथा मोह का परित्याग कर :–

छन्दः–स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचारित्रान्वितोपि न श्लाघ्यः।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥ २३३

अर्थ–जैसे दीपक स्नेह कहिये तेल तिस कर संयुक्त मलिन काजल को उपजावे है तैसे स्नेह कहिये मोह उस कर युक्त है, हृदय जिस का सो ऐसा पुरुष यद्यपि शास्त्र के ज्ञान

कर, तथा शुभ आचरण कर मण्डित है तौभी प्रशंसा योग्य नहीं क्योंकि काजल के समान जो मलिन कार्य्य पापरूप अशुभ कर्म्म उन का उपजावन हारा है ॥

भावार्थ–जैसे स्नेह (तैलादिक) कर संयुक्त दीपक मलिन काजल को उपजावे है। तैसे स्नेह (मोह) कर युक्त ज्ञानी पुरुष अशुभ कर्म उपजावे है तो जैसे स्नेह ने दीपक में काला काजल उपजाया तैसे ज्ञानी में भी स्नेह मलिन पाप रूप कर्म ही उपजावे है। इसलिये ऐसा जान कर जगत् से स्नेह तजना योग्य है। आगे कहे हैं कि तू राग द्वेष के वश हो कर वैराग्य अवस्था को न प्राप्त होता हुवा क्लेश भोगवे है :–

छन्दः–रतेररतिमायातः पुनारतमुपागतः
तृतीयपदमप्राप्यबालिशो वत सीदसि ॥ २३४ ॥

अर्थ–हे जीव तू राग से द्वेष में आवे है। और द्वेष से फिर राग में आवे है सो यह बड़ा कष्ट है कि तीसरा पद जो राग द्वेष का अभाव अर्थात् उदासीन रूप विरागता उस को न पाय कर तू मूर्ख हुवा दुःख भोगवे है ॥

भावार्थ–रागद्वेष से जीव को दुःख उपजे है और इन के त्याग से वैराग्य अवस्था को

प्राप्त होकर सुखी होय है इसलिये यदि तू कल्याण का अर्थी है तो राग द्वेष को तज और वैराग्य को भज। आगे कहे हैं कि अनेक दुखों कर तप्तायमान जो तू सो मोक्ष सुख के अभाव से किञ्चित् मात्र जो विषय सुख उस कर आप को सुखी माने है, सो यह तेरा सुखी मानना वृथा है:—

छन्दः—तावद्दुःखाग्नितप्तात्माऽयःपिण्ड इव सीदसि(सुखसीकरैः)।
निर्वासि(ण)निर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि॥२३५॥

अर्थ—लोहे के गोले की तरह दुःख रूप अग्नि कर तप्तायमान तू तब तक दुःख भोगे है कि जब तक मोक्ष के सुख रूपी समुद्र विषे मग्न न होय॥

भावार्थ—जैसे लोहे के गोले को जब पूर्ण जल में डबोया जाये तब ही वह गोला आताप से रहित होय है और लेशमात्र जल से छांटिये तो ताप न मिटे है बल्कि उलटा जल ही भस्म हो जाय है तैसे जीव रूप गोला दुःख रूप अग्नि कर तप्तायमान हुवा हुवा जबलग निर्वाण के सुखरूप समुद्र विषे मग्न न होय तबतक दुःख रूप आताप न मिटे, देवपद, राज्यपद आदि को अल्प सुख माने है, सो वृथा है। इन सुखों कर कदाचित् दुःख रूप आताप नहीं मिटे

है क्योंकि यह रञ्चमात्र सुख क्षण में विनष्ट हो जाय है। आगे कहे हैं कि ज्ञानको अङ्गीकार किये ही निवृति सागर विषे मग्न होय है। इसलिये ज्ञानादिक उपाय कर उस को अङ्गीकार करो :–

छन्दः–मङ्क्षु मोक्षसुसख्यतां सत्यङ्कारस्वमात्सात्
ज्ञानचारित्रसाकल्पमूलेन स्वकरे कुरु॥ २३६ ॥

अर्थ–सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान सम्यक् चारित्र की जो पूर्णता सोई भया धन उस कर तू शीघ्र ही निर्वाण को अपने हाथ में कर। और जब सत्यरूप सुख तेरे वश होवे तब तू कृतार्थ होगा ॥

भावार्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की पूर्णता भये ही निर्वाण होय है। आगे प्रवृत्ति निवृत्ति इन दोनों की अपेक्षा से यह जगत् कैसा है सो दिखावे हैं :–

छन्दः–अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम्।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकाङ्क्षी॥२३७

अर्थ–यह समस्त जगत् निवृत्ति की अपेक्षा तो भोगने योग्य नहीं। अर्थात् त्यागने योग्य है। और प्रवृत्ति की अपेक्षा सकल जगत् भोगने योग्य है, कैसा है जगत् अद्वैत कहिये एक रूप है, विषय कषायों में प्रवर्तने का नाम प्रवृत्ति है और न प्रवर्त्तने का नाम निवृत्ति है। सो इन दोनों की अपेक्षा जगत् को अभोग्य रूप और भोग्य रूप जान कर प्रवृत्ति को तज मोक्ष के अभिलाषी निवृत्ति ही का अभ्यास करैं क्योंकि प्रवृत्ति का फल संसार है और निवृत्ति का फल निर्वाण है॥

भावार्थ–यह जगत् अविवेकियों को तो राग के वश कर भोग्य रूपी भासे है। और विवेकियों को ज्ञान भाव कर त्याग रूप भासे है। इस लिये जो तू मोक्षाभिलाषी है तो तजने ही का अभ्यास कर जिससे मुक्ति होय। आगे कहे हैं, कि निवृत्ति का अभ्यास कब तक करना।

छन्दः–निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम्॥२३८॥

अर्थ–जब तक तजने योग्य जो मन वचन काया के विवेक का सम्बन्ध है तब तक निवृत्ति ही का अभ्यास करना, और जब पर वस्तु का ही अभाव हो गया तब न प्रवृत्ति

और न निवृत्ति केवल शुद्ध स्वरूप ही है पर पदार्थ से जो सर्वथा रहित होना सो ही अविनाशी पद है॥

भावार्थ–जब लग इस जीव के रागादिक परभावों की प्रवृत्ति है तब लग इस को निवृत्तिही का अभ्यास करना योग्य है। और जब यह पर वस्तु के सम्बन्ध से रहित होय मुक्त भया तब प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से ही प्रयोजन नहीं जैसे जब तक रोग है, तब तक औषध का सेवन कर्तव्य है। और रोग का अभाव भये औषध से प्रयोजन नहीं। तैसे जब तक प्रवृत्ति है तब तक तिस के निवारने के अर्थ निवृत्ति का अभ्यास कर्तव्य है और प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव भये निवृत्ति से कुछ प्रयोजन नहीं। आगे कहे हैं, कि प्रवृत्ति का स्वरूप क्या है और निवृत्ति का स्वरूप क्या है और इन का मूलकारण क्या है :–

छन्द:–रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च वाह्यार्थसम्बद्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत्॥२३९

अर्थ–राग और द्वेष ही प्रवृत्ति हैं और इन का जो निषेध सो ही निवृत्ति है सो यह दोनों वाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से हैं। इसलिये धन धामादिक वाह्य पदार्थों का त्याग ही करना॥

भावार्थ-रागादिक की प्रवृत्ति का मूल कारण पर वस्तु का सम्बन्ध है । इसलिये निवृत्ति के अर्थ देहादिक पर द्रव्यों से ममत्व तजना योग्य है। आगे कहे हैं, कि परिग्रह का परित्याग करता जो मैं सो इस प्रकार भावना भाऊं हूं।

छन्दः-भावयामि भवावर्त्ते भावनाः प्रागभाविताः ।
भावये भावितानन्त (नेति) भवाभावाय भावनाः ॥२४०

अर्थ-मैं संसार रूप भ्रमण के विषे भव भ्रमण के अभाव के अर्थ पूर्वें न भाई ऐसी जो सम्यग्दर्शनादिक भावना है उसको भाऊं हूं । और जो मैं पूर्वें मिथ्या दर्शनादिक भावना अनादिकाल से भाई है उसे नहीं भाऊं हूं।

भावार्थ-भव भ्रमण का कारण मिथ्यादर्शनादिक भावना जो मैं पूर्वें सदा भाई थी सो अब न भाऊं हूं। और सम्यग्दर्शनादिक भावना मोक्ष का कारण जो कभी न भाई थी सो भाऊ हूं। आगे कहे हैं, कि कौन वस्तु हितकारी है और कौन अहित कारी है ॥

छन्दः-शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट्त्रयम् ।

हितमाद्यमनुष्ठेयं प्रोषच्यमथाऽहितम् ॥ २४१ ॥

अर्थ–शुभ कहिये उत्तम वचन करुणा रूप मन संयम रूप काया यह प्रशंसा योग्य है। और अशुभ कहिये कुवचन निर्दय चित्त अव्रत रूप काया यह निन्दा योग्य है। इन्हीं कर पुण्य पाप होय हैं। शुभ से पुण्य अशुभ से पाप, पुण्य से सुख पाप से दुःख सो शुभ, अशुभ, पुण्य, पाप, सुख, दुःख, यह ६ छह भये तिनमें आदि के तीन शुभ पुण्य सुख इन को हितकारी जान आदरणे। और अन्त के तीन अशुभ पाप दुःख इनको अहितकारी जान तजने योग्य हैं॥

भावार्थ–निश्चय नय कर विचारिये तो इस जीव को एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है। और शुभ अशुभ दोनों ही हेय हैं। तथापि व्यवहार नय कर विचारिये तो अशुभ तो सर्वथा ही तजने योग्य है। क्योंकि यह सर्वथा मोक्षमार्ग का घातक है। और शुभोपयोग यद्यपि मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं तथापि परम्परा से मोक्ष का कारण है। इसीलिये कथंचित् प्रकार प्रथम अवस्था विषे उपादेय है। शुभ परिणामों से पुण्य का बन्ध होयहै। और पुण्य से स्वर्गादिक का सुख होय, और अशुभ परिणामों से पाप का बन्ध होय पाप से नरक निगोदादिक

दुःख होय। इसलिये किसी प्रकार भी अशुभोपयोग उपादेय नहीं है। आगे अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीनों का अनुक्रम दिखावे हैं :-

छन्दः-तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वाऽन्ते प्राप्नोति परमं पदम्॥ २४२

अर्थ-प्रथम तो अशुभ अहित छुटे। तिस के अभाव से पाप और दुःख भी छुटे फिर शुभ के छूटने से पुण्य और स्वर्गादिक सुख भी न होय। क्योंकि कारण के अभाव से कार्य्य का भी अभाव होय है। जब शुभ भी छुटे तब परम वीतराग भाव रूप शुद्धोपयोग विषे तिष्ठ कर परमपद को पावे है। यह परमपद शुभ अशुभ दोनों से रहित है, दोनों के अन्त विषे होय है॥

भावार्थ-आत्मा का उपयोग दो प्रकार का है। एक शुद्ध और एक अशुद्ध। अशुद्ध के दो भेद हैं। अशुभ तथा शुभ, सो अशुभ से पाप और पाप से नरकादिक दुःख होय है। इसलिये अशुभ तो सर्वथा तजने ही योग्य है और शुभ से पुण्य और पुण्य से स्वर्गादिक सुख होय है सो अशुभ के निवारणे से शुभ का ग्रहण होय है, पीछे शुद्धोपयोग भये शुभ भी छूटे है। शुद्धोपयोग के प्रसाद कर

यह जीव मुक्त होय है, आगे चार्वाक प्रश्न करे है कि यदि आत्मा होय तो परम पद की प्राप्ति होय सो जब आत्मा ही नहीं तो परम पद की प्राप्ति कैसे होय, और आत्मा को गर्भ आदिक से मरण पर्य्यन्त किसी ने देखा नहीं जो वस्तु होय तो दृष्ट पड़े। यह तो चार्वाक ने कहा। और सांख्यमती कहता भया। कि आत्मा तो सदा मुक्त ही है जो तुम कहो हो कि पहिले अशुभ को तज फिर शुभ को तज परमपद को पावे है ऐसा कहना तो अयुक्त है। अब इन दोनों का उत्तर श्री गुरु कहे हैं :-

छन्द:—अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगत: तद्बन्धनान्यास्रवै
स्ते क्रोधादिकृता: प्रमादजनिता: क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्यात्वोपचितात् सएव समल: कालादिलब्धौक्वचित्
सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगै: क्रमान्मुच्यते ॥ २४३

अर्थ—जो आत्मा को अपनी जाति स्मरण करने से अपने पूर्वभव दृष्ट पड़े हैं। और भूतादिक अपने पूर्वभव कहे हैं सो इस से जीवों के पूर्वभव की प्रतीति आवे है। इसलिये

आत्मा है सो अनादि काल का कर्म्मों से बन्ध्या है और कर्म्म बन्ध आश्रवों से होय है। और आश्रव क्रोधादिक कर होय हैं क्रोधादिक प्रमाद से होय हैं और प्रमाद अव्रत से होय है और अव्रत मिथ्यात्व से वृद्धि को प्राप्त होय है सो आत्मा मिथ्या दर्शनादिक से मलिन है। और काल लब्धि पाय किसी एक मनुष्य भव विषे सम्यक्तव्रत विवेक निष्कषायता, इन के योग कर अनुक्रम से मुक्त होय है॥

भावार्थ–चार्वाक तो ऐसे कहे है, कि आत्मा है ही नहीं। सो आत्मा न होय तो ऐसा सन्देह किस के होय कि आत्मा नहीं है। और जो आत्मा न होय तो व्यन्तरादिक ऐसे क्यों कहे कि मैं फलाना था। और अगले भव की तथा इस भव की पहिली बात किस को याद आवे। और जो आत्मा ही न होय तो पुण्य पाप का फल कौन भोगे और आत्मा न होय तो अहङ्कार ममकार किस के होय। इसलिये यह बात निसन्देह भई कि आत्मा है। और सांख्य कहे है कि आत्मा सर्व्वथा शुद्ध ही है। सो जो सर्वथा शुद्ध ही होय तो संसार भ्रमण कैसे होय। और कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई नीच, कोई ऊंच ऐसा भेद किस तरह होय और जो सर्वथा शुद्ध ही होय तो शुद्ध होने के अर्थ तपश्चरणादि साधन किस लिये कहे। इसलिये 'यह निश्चय भया कि संसार अवस्था विषे तो आत्मा अशुद्धता कर ही युक्त है। और सम्यग्दर्शनादिक उपाय कर

अशुद्धता का नाश करे तब शुद्ध होय है। आगे कहे हैं, कि जो पुरुष शरीरादिक विषे निःस्पृह (इच्छा रहित) है सो ही निःस्पृह कहिये और नहीं :-

छन्दः—ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता ।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत्काशा तपःफले ॥ २४४

अर्थ—यह शरीर मेरा है और मैं इस का हूं यह जो इस शरीर के साथ प्रीति सो उपद्रव की करन हारी ईति समान अनादि काल से लगी है। जब तक क्षेत्र कहिये शरीर विषे यह आप क्षेत्री कहिये स्वामी होय रहा है, तबतक तपका फल मोक्ष जो उस की क्या आशा है॥

भावार्थ—यह तन मेरा क्षेत्र और मैं इस का क्षेत्री कहिये धनी हूं। यह मेरा और मैं इस का ऐसी जो सात ईति समान उपद्रव की करन हारी प्रीति जब तक है, तबतक मोक्ष की आशा कहां। जैसे जब तक सात ईति कहिये अतिवृष्टि (बहुत वर्षा) अनावृष्टि (न बर्षना) मूषक (चूहे) टिड्डी सूवा अपना कटक पर का कटक (सेना) यह उपद्रव की करन हारी हैं तबतक किसाण को अन्न की कहां आशा तैसे जब तक जीव का देह विषे स्नेह है, तब तक मुक्ति

की कहां आशा। आगे कहे हैं, कि प्रीति के योग से जो जीव के जड़ के साथ एकता की बुद्धि उपजे है सोई संसार का कारण है। और इस प्रीति के अभाव से मुक्ति है। ऐसा दिखावें हैं :-

छन्दः-मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योन्योन्योऽहमस्ति न ॥ २४५ ॥

अर्थ-भ्रान्ति के होने से आप को अन्य जो कायादिक तिन रूप जाना अन्य और कायादिक को अपना रूप जाना इस ही विपरीत ज्ञान कर भव समुद्र विषे भ्रमा अब तू यह जान कि मैं पर पदार्थ नहीं हूं मैं जो हूं, सो मैं ही हूं, और यह जो पर पदार्थ हैं सो पर ही हैं। उन में मैं नहीं हूं और वह मेरे में नहीं हैं ॥

भावार्थ-इस जगत् विषे सर्व ही पदार्थ अपने २ स्वभाव को धारे हैं, किसी द्रव्य का किसी द्रव्य से सम्बन्ध नहीं है सब जुदे जुदे हैं। और मैं अनादि काल से मिथ्यात्व रागादिक के योग से देहादिक पर पदार्थों को अपना जानता भया, सो वह तो मेरे तीन काल में भी न होंय। और मैं उन को वृथा अपने जान कर इस ही कारण से संसार विषे भ्रमा सो अब सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से मैं यह जाना की यह अन्य पदार्थ मैं नहीं हूं यह जड़ हैं और

मैं चैतन हूं इसलिये मेरा और इन का क्या सम्बन्ध सो यही ज्ञान कल्याण का कारण है।
आगे कहे हैं, कि भ्रान्ति दूर भये यह निश्चय होय है कि जो कायादिक को अनुराग बुद्धि
कर विलोकै उस को तो यह कर्म्म बन्ध का कारण है। और जो वैराग्य बुद्धि कर देखे उस
को यह कर्म्म बन्ध के विनाश करने का कारण है :-

छन्दः—बन्धो जन्मनि येन येन निविडं निःपादितोवस्तुना
बाह्यार्थैकरतेः पुरापरिणतप्रज्ञात्मनः साम्प्रतम्।
तत्तत्तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्टस्पृशो
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम् ॥ २४६

अर्थ—जिस को इस संसार के बाह्य पदार्थों में ही एक अर्थात् अद्वितीय प्रीति है
उस पुरुष के जिस जिस वस्तु कर पहिले अति गाढ़ कर्म्मों का बन्धन उपजा अब जब वह
पुरुष वैराग्य की हद्द को प्राप्त भया और यथावत् पदार्थों के परिज्ञान रूप बुद्धि परणई।
तब सोई वस्तु बन्ध के विनाशने के अर्थ साधन रूप भई इस लिये जो अज्ञान कर रागादि रूप

परगासा सो अज्ञान तो जुदाही है। और विवेकियोंका जो अपूर्वं प्रवीणपना है, सो जुदाही है॥

भावार्थ–जब देहादिक पर वस्तुओं को राग बुद्धि से देखता था तब तो रागी के वह वस्तु बन्ध का कारण थी और जब वैराग्य बुद्धि कर देखने लगा तब कायादिक मुक्तिके साधन रूप भई। इस लिये राग भाव तज वीतराग भाव का यत्न करना। आगे बन्ध और बन्ध का नाश किस भान्ति होय है सो अनुक्रम कर दिखावे हैं :–

छन्दः–अधिकः क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित्समः।
क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमोमतः॥ २४७॥

अर्थ–कितने ही जीवों के तो कर्म्मों का बन्ध अधिक है, और निर्जरा अल्प है, और कितने ही जीवों के बन्ध अल्प है निर्जरा विशेष है, और कितनों ही के बन्ध तथा निर्जरा समान है। और कितनों ही के केवल निर्जरा ही है। सो बन्ध और छूटने का यही क्रम है॥

भावार्थ–इस जीव के मिथ्यात्व गुण स्थानों में तो कर्म्मों का बन्ध बहुत होय है। और निर्जरा तुच्छ है। और चतुर्थ गुण स्थान विषे बन्ध और निर्जरा यह दोनों समान हैं और

पञ्चम गुण स्थानादि अगल गुण स्थानों विषे वन्ध अल्प है निर्जरा वहुत है और अकषायों के निर्जरा ही है वन्ध नहीं। यह वन्ध और निज्जरा की परिपाटी कही है। आगे जिस के कर्म्म अपने कार्य्य अर्थात् नया शरीर उपजाना, करने से रहित भये सोई योगी है:-

छन्दः-यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्व्वाणं न तस्य पुनराश्रवः॥२४८॥

अर्थ-जिस विरक्त जीव के पुण्य और पाप अपना शुभ अशुभ फल उपजाये विना ही अपने आपही षिर जायें हैं सोई योगी है, उसी को निर्वाण पद मिले है और उस के फिर आश्रव नहीं होय है॥

भावार्थ-पुण्य और पाप ही संसार भ्रमण के मूल कारण हैं। जैसे फल का मूल पुष्प है। सो जब पुष्प ही षिर गया तो फल कहां से होय। तैसे जीवों के चतुर्गति रूपी फल का कारण शुभाशुभ कर्म्मों का उदय है, सो जब महामुनि के शुभाशुभ कर्म्म ही षिर गये तो तब नया शरीर कैसे होय। इसी लिये तिन कै निर्व्वाण ही है। आगे कहे हैं, कि आश्रव का निरोध (रोक देना) जो संवर है सो प्रतिज्ञा (मर्य्यादा) के पालने से होय है॥

छन्दः—महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा ।
मर्य्यादापालिबन्धेल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम् ॥ २४९ ॥

अर्थ—सम्यक् दर्शनादिक गुणरूप जल कर पूर्ण महातपरूप तलाव की मर्य्यादा (प्रतिज्ञा) रूप पालि के बन्धन विषे रञ्चमात्र भी हानि मत देखे ॥

भावार्थ—जब तक पालि दृढ़ रहे तब तक तलाव विषे जल रहे। जो पालि में रञ्च मात्र भी छिद्र होय तो पालि फूट जाय । और तलाव में जल न रहे। तैसे गुण रूप जल से भरा हुआ जो तप रूप तलाव है उस की मर्यादा रूप पालि विषे जो तुच्छ प्रतिज्ञा भंग रूप छिद्र भी होय तो उस तप रूप तलाव मे गुण रूप जल कदापि न रहे इस लिये प्रतिज्ञा भंग करनी योग्य नहीं। आगे कहे हैं, कि महा पुरुषों के संयम रूप घर की हानि के यह कारण हैं:—

छन्दः—दृढगुप्तिकपाटसंवृत्ति(ति)र्धृतिभित्तिर्मतिपादसंभृतिः ।
यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृतिः २५०

अर्थ—यतिपद रूप घर महादृढ़ मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति रूप कपाटों

से वन्द है। और उत्तम वृत्ति रूप जो धीरता यही उस की दिवार है और वुद्धि रूप गाढ़ी नीव है सो कदाचित् तुच्छमात्र भी व्रतभंग रूप छिद्र होय तो महा कुटिल रागादिक सर्प यति पद रूप घर को दूषित करें॥

भावार्थ–जैसे घर के किवाड़ भी वहुत गाढ़े और दिवार भी गाढी और नीव भी गाढी होय परन्तु जो रञ्चमात्र भी छिद्र होय तो सर्पादिक दुष्ट जीव निवास करें। तव रहनेवालों को निर्विघ्नता न होय, कवहुक प्राण ही जांय। तैसे यति पद रूप घर के गुप्ति रूप कपाट, धैर्य्यरूप दिवार और वुद्धिरूप नीव है परन्तु जो व्रतभंगरूप अल्प भी छिद्र होय तो रागादिकरूपी कुटिल सर्प्प निवास करें तो अनेक पर्य्यायों विषे अनेक वार मरण करे। आगे कहे हैं, कि जो मुनि रागादिक दोषों के जीतने को उद्यमी भया है यदि वह कदाचित् पर जीवों के दोषों को कथन करे तो रागादिक को पुष्ट ही करे :–

छन्दः–स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्द्धरैः।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः॥२५१॥

अर्थ–जो मुनि अति दुर्धर तप कर अपने दोष हनने को उद्यमी भया है, सो कदा-

चित् ईर्षा के योग से पराया अपवाद करे अर्थात् पराये औगुण गावे तो पर दोष कथा रूप भोजन कर रागादिक दोषों को ही पुष्ट करे ॥

भावार्थ–विवेकियों को पराई निन्दा करनी योग्य नहीं। और कदाचित् निन्दा करें तो जैसे रस संयुक्त भोजन कर देह पुष्ट होय तैसे पर दोष कथन कर राग द्वेषादि दोष पुष्ट होवें। तिन कर मुनि पद का भङ्ग होय। आगे कहे हैं, कि दोषों को जीत कर जो मुनि व्रत को आचरे है, सो उस कै कर्म्मों के वश से जो कदाचित् चारित्रादि विषे कोई दोष उपजे तो वह उस के गुणों कर ही प्रगट होय है

छन्दः–दोषः सर्वगुणाकरस्य महतोदैवानुरोधात्क्वचि
जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं द्रष्टुमन्धोप्यलम्।
द्रष्टाप्नोति न तावदस्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जग-
द्विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किंकोप्यगात्तत्पदम्२५२

अर्थ–सर्व्व गुणों की खान जो महापुरुष तिनकै पूर्व्व कर्म्म के वश से जो कोई मूल

गुणों विषे चन्द्रमा के लाञ्छन समान अल्प भी दोष उपजे तो तिस के देखने को अन्ध कहिये जगत् के अविवेकी मूढ़ दृष्टि जीव भी समर्थ होय हैं। और जगत् की दृष्टि में वह दोष आवें है अल्प भी दोष कर गुणवन्त का पद कलङ्कित होय है। जैसे चन्द्रमा का कलङ्क चद्रमा की प्रभा ही से प्रगट कियाहुआ समस्त जगत् देखे है, कोई चन्द्रमा के स्थान को तो न गया देख कर न आया। तैसे महापुरुष का औगुण उन के गुणों ने ही प्रगट किया, कोई तिन के स्थान जाय देख कर न आया॥

भावार्थ–जहां अनेक गुण होवें तहां दोष न शोभे। जैसे चन्द्रमा की प्रभा विषे कलंक न शोभे। सो कलङ्क प्रगट भासे है। तैसे मुनि पद विषे औगुण न शोभे प्रगट ही भासे लोग कहे कि देखो इतने गुण जिन में तिन में यह दोष कैसे सम्भवे। और यदि कोई ऐसे स्थान पर यह कहे कि जहां अनेक गुण होवें तहां अल्प दोष की क्या वार्त्ता। अपने तांईं तो पराये गुण ही ग्रहण करने हैं तिस को समझाइये है कि उच्च पद विषे नीच क्रिया नहीं शोभे है जैसे उपवास कर एक कण भी भक्षण करे तो तिस को लोग भ्रष्ट कहैं। और अव्रति निरन्तर भोजन करे है, सो तिस की कोई भी निन्दा न करे। तैसे अव्रतियों में अनेक दोष हैं, तिन की कोई भी कथा न करे है। परन्तु संयमी में रञ्चमात्र भी दोष होय तो तिस की निन्दा होवे। कि ऐसी

पदवी में ऐसा नीच कार्य्य किया, इसलिये पदवी अनुसार क्रिया करनी योग्य है। आगे कहे हैं, कि असूया कहिये ईर्षा पराये गुण विषे दोष का आरोपण पराये न होतें औगुण प्रगट करे और अपने अनहोते गुण प्रगट करे, अपनी महिमा के अर्थ तेलादिक अनेक उपवास आचरे सो अधिक से अधिक विवेक दशा होय तो तब भी यह वृत्ति अच्छी न भासे है :–

छन्दः–यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥ २५३ ॥

अर्थ–पूर्व्व जो जो आचरण किया अर्थात् पराये दोष कहे अपने गुण प्रगट किये। सो सब योगीश्वर को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट विवेक दशा के होतें अज्ञान चेष्टा भासे है ॥

भावार्थ–पराये औगुण गावने और अपने गुण प्रगट करने यही अज्ञान की चेष्टा है सो अज्ञानियों को बुरी न भासे परन्तु ज्ञान से योगियों को बुरी भासे। इस लिये पराये औगुण कहने और अपने औगुणों को गुण प्रगट करने योग्य नहीं। आगे कहे हैं कि जब तक शरीर से ममता नहीं छूटती तब तक आशा रूपी वेल नहीं सूकती इसलिये विवेकियों के शरीर से ममता नहीं होती :–

छन्दः—अपि सतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते
भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता।
इति कृतधियः कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं
चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः ॥२५४॥

अर्थ—महा तपस्वियों की भी आशा रूप वेल की शिखा (चोटी) तव तक ही तरुणता को प्राप्त होय है जब तक उन के मन रूप जड़ विषे ममता रूप जल से गीलापन है इस लिये विवेकी पुरुष ऐसा विचार कर चिरकाल से परिचित शरीर से भी अत्यन्त उदास हुए हुए काष्ट साध्य तपादिक से इस शरीर को निरन्तर दमें हैं॥

भावार्थ—जैसे वेल की जड़ जल से सींचिये तो उस की चोटी हरित ही रहे। तैसे आशा रूप वेल की मन रूपी जड़ अशुद्ध भाव से ममता रूप जल कर जब तक सजल रहे तब तक आशारूप वेल की शिखा सदा तरुण ही रहे अर्थात् आशा रूपी वेल सूके नहीं ऐसा जानकर विवेकी पुरुष अपने शरीर से उदास हुए २ उस के मरणे जीने की परवाह नहीं करे हैं और

कष्ट साध्य जो त्रिकाल योगादिक उन कर निरन्तर शरीर को दमें ही हैं त्रिकाल योग नाम शीतकाल में जल के तीर उष्णकाल में पर्वत के शिखर और वर्षाकाल में तरु के तले निवास करने का है। आगे इस ही अर्थ को दृष्टान्त कर दृढ़ करे हैं :-

छन्दः—क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः।
भेदएव यदि भेदवत्स्वलं वाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा २५५

अर्थ—जबमिले हुए दूध और पानी की तरह अभेद रूप से दीखते हुवे इस जीव और शरीर में ही भेद है तो बतावो फिर पुत्र कलत्रादिक अथवा शिष्यादिक वाह्य वस्तुवों की क्या कथा॥

भावार्थ—तैजस कार्मण तो सर्व ही संसारी जीवों के सदाकाल रहे हैं कभी भी जुदे होते नहीं। जब जीव मुक्त होय तब ही यह छूटे हैं और आहारिक शरीर कदाचित् किसी एक मुनि कै होय है। और मनुष्य तिर्य्यंचों के औदारिक देवनारकियों कै वैक्रियक का सम्बन्ध होना और छूटना पाइये है। सो जीव कै अनादि काल का शरीर से सम्बन्ध है। यद्यपि जीव और शरीर दूध और पानी की तरह मिल रहे हैं। परन्तु तौभी जुदे जुदे हैं जब जीव और शरीर की भी यह दशा है। तो तब पुत्र कलत्रादिक और शिष्यादिक की क्या बात

वह तो प्रगट ही जुदे हैं। इसलिये ऐसा जान कर सर्व से स्नेह तजना ही योग्य है। आगे इस शरीर के संयोग से आत्मा को जो होय सो दिखावे हैं :-

**छन्दः—तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात् ।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥ २५६ ॥**

अर्थ—जैसे अग्नि के संयोग से जल तप्तायमान होय, तैसे देह के संयोग से मैं तप्तामान भया हूं ऐसा जान कर कल्याण के अर्थी जो महामुनि हैं वह देह से ममत्व तज आनन्दरूप भये ॥

भावार्थ—इस जगत् विषे यह जीव जितने दुःख क्लेशादि भोगवे हैं। सो शरीर के सम्बन्ध से भोगवे हैं इसलिये शरीर से अनुराग तज मोक्षाभिलाषी जीवों को वीतरागभाव आचरना योग्य है जिस कर फिर शरीर का सम्बन्ध न होय। आगे शरीरादिक विषे ममता भाव का कारण जो महामोह उस के त्याग का उपाय कहे हैं :-

**छन्दः—अनादिचयसंबद्धो महामोहो हृदि स्थितः ।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वं विशुद्ध्यति ॥ २५७ ॥**

अर्थ—जिन महापुरुषों ने सम्यक्योग जो स्वस्वरूप विषे चित्तका निरोध सोई भई औषध उस कर अनादि कर्म्मों के संचय से हृदय विषे तिष्ठता जो महामोह उस को वम डारा तिन ही का परलोक शुद्ध होय है ॥

भावार्थ—जैसे औषधि के योग कर उदर विषे तिष्ठता हुवा अजीर्ण जिन्होंने वमा उन ही के रोगकी निवृत्ति होय है सो जो रोग चिरकाल से अजीर्ण के संचय कर बढा है। सो औषध के योग से ही दूर होय है। तैसे विभावों कर बढा जो कर्म विकार सो सम्यग्ज्ञान कर ही निवृत्त होय है। आगे कहे हैं, कि महामोह के अभाव से जो मुनि इन वस्तुओं को इस प्रकार देखे हैं उन के कौन वस्तु सुख के निमित्त न होय, अपितु सर्व ही वस्तु सुख के निमित्त होय हैं :—

छन्दः—ऐकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्तिं शरीरच्युतिं
दुःखं दुःकृतनिःकृतिं सुखमलं संसारसौख्यासनम् ।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणात्ययं पश्यताम्
किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनःसत्यं सदा साधवः ॥२५८

अर्थ—जो साधु अकेला रहने को एक अद्वितीय चक्रवर्तिपना माने हैं और शरीर के विनाश को मनवाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति माने हैं और दुःकर्म्म (दुष्टकर्म्म) की निर्ज्जरा से भया जो उदय अर्थात् सुख उसको दुःख माने हैं। और सर्वथा जो संसार के सुख का परिहार उस को सुख माने हैं। और किसी दुःखी प्राणी के दुःख दूर करने के उपकार निमित्त अपने प्राणों के त्याग को सर्वत्याग के महान् उत्सव समान व्यापार माने हैं यह भाव जिन का है, उन के ऐसा कौनसा पदार्थ है जो सुख के निमित्त न होय अपितु सर्व ही पदार्थ सुख के कारण होय हैं इसलिये यह बात सत्य है कि साधु सदा सुखी ही हैं॥

भावार्थ—जिन साधुओं के मोह का अभाव भया उन के सर्व ही वस्तु सुख का कारण हैं, क्योंकि दुःख तो मोह से उत्पन्न होय है सो जब उन के दुःख उत्पन्न करने वाला जो मोह, उसी का नाश भया तो फिर दुःख कैसे हो और दुःख के न होने ही का नाम सुख है इसलिये यह बात सिद्ध भई कि साधु महासुखी हैं। आगे कोई प्रश्न करे कि कर्म्म के उदय से उपजा जो दुःख उसके भोगने में सुखीपना कैसे हो तिस का उत्तर कहे हैं :—

छन्दः—आकृष्योग्रतपोबलैरुदयगो (गं) पुच्छं यदानीयते

तत्कर्म्म स्वयमागतं यदि विदः कोनाम खेदस्ततः।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोरिः स्वयं
वृद्धिः प्रत्युतनेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे कः क्षयः॥ २५९ ॥

अर्थ–जो कर्म्म उदय में नहीं आया उस को उग्र तपके बल से उदय मे ल्याकर क्षय करे हैं और जो कर्म्म स्वयमेव उदय आवे तो उस में खेद काहे का इसलिये मुनि के खेद का नाम मात्र भी नहीं है जैसे जीतने की है इच्छा जिस की ऐसा जो जीतने की इच्छा रखने वाला राजा सो वैरी को जाय-कर भी जीते। और जब वैरी ही युद्ध का आरम्भ कर आप पर चला आवे तो यह तो विना रोक जीतने वाले नायक की वृद्धि है उस के साथ लड़ाई करने में क्या हानि अपितु कुछ भी हानि नहीं है॥

भावार्थ–जैसे जो योधा शत्रु पर जाकर शत्रु को जीते तिस पर जो शत्रु ही चला आवे तो उसकी क्या हानि। तैसे ही महामुनि तपके बल कर कर्म्मों को उदय में लाकर खपावें हैं और जो स्वयमेव ही कर्म्म उदय आवे तो उनके तिस विषे क्या खेद अपितु कोई भी खेद नहीं है

इसलिये मुनियों के कर्मों का फल भोगने में दुःख नहीं होय है ॥ आगे कहे हैं कि जो मुनि कर्मों के उदय विषे खेद न माने हैं सो मुनि कर्मों की निर्जरा करते हुये शरीर से भी भिन्न होने का यत्न करे हैं ॥

छन्दः—एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वात्
भ्रान्त्याचिन्त्याः सहायंतनुमिवसहसालोच्यकिञ्चित्सलज्जाः
सज्जीभूताः स्वकार्य्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धाः
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः ॥ २६० ॥

अर्थ—जो नृसिंह कहिये पुरुषों में प्रधान अर्थात् मुनि पर्वतों की गुफा गहन वन, एकांत स्थान विषे आत्मस्वरूप को ध्यावे हैं और नाश किया है मोह जिन्हों ने और एकाकी रहने की है प्रतिज्ञा जिन कै और सर्व कुछ त्याग कर सकल परीसह सहे हैं । अचिन्त्य है महिमा जिनकी और शरीरको सहाई जान तत्काल कुछयक लज्जाको प्राप्त भयेहैं, कि यह जड़ हमारा क्या सहाई होगा । इसेभ्रान्तिकर अबतक सहाई जाना था, सो सहाई नहीं है । ऐसा सोच कर

अपने कार्य्य विषे आप उद्यमी भये पल्यंकासन (यह आसन के भेदों में एक आसन का नाम है) वांध कर निज स्वरूप का ध्यान करे हैं। शरीर से रहित होने की विधि विचारे हैं, जिन के यह विचार है कि हमारे शरीर फिर उदय न आवे ऐसे मुनि ही शरीर का निरादर कर इस के तजने को उद्यमी भये हैं ॥

भावार्थ–सब संसारी जीवन के शरीर का ममत्व है, सो पुनः पुनः शरीर को धारे हैं। और जो आत्मज्ञान के होने से निरादर कर शरीर को तजे हैं तिन के शरीर फिर उदय न आवे है अर्थात् परमपद को पावे हैं। आगे कहे हैं, कि जो कर्म्मों की और नये नये तन धारण की विधि के दूर होने का चिन्तवन करते हुए आप परम उत्तम गुणों कर मण्डित हैं, सो वह हम को भी पवित्रता के करणहारे होवें :–

छन्दः–येषां भूषणमङ्गसङ्गतरजः स्थानं शिलायास्तलम्
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम् ।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुटयत्तमोग्रन्थय-

स्तेनोज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निःस्पृहाः २६१

अर्थ–जिन के अङ्ग में लगी हुई धूल ही आभूषण है । और शिलातल ही स्थानक है, और जिनके कङ्करोंवाली पृथ्वीही शय्या है। और जिनगुफाओंमें सिंहादिक रहे हैं,सोई तिनको घर हैं। और यह देहादिक मेरे और मैं इन का ऐसे विकल्प से रहित है बुद्धि जिन की और टूट गई है अज्ञान रूप गांठ जिन की सो वह ज्ञान घन मोक्ष के पात्र परम निःस्पृह (विरक्त) हमारे मन को पवित्र करो ॥

भावार्थ–जो विषयाभिलाषी शरीर के अनुरागी हैं जब वह आप ही डूब रहे हैं तो औरों को कैसे तारें और जो विरक्त हैं रागादिक से रहित है बुद्धि जिन की और टूट गई है अज्ञानरूप गांठ जिनकी सो ऐसे ज्ञानधन मोक्षके पात्र परमनिःस्पृह हमारे मनको पवित्र करें। आगे कहे हैं,कि जो परमशान्त दशाको प्राप्त होय हैं वह किसी को भी भयकारी नहीं हैं :–

छन्दः–दूरारूढ़तपोनुभावजनितज्योतिःसमुत्सर्पणै
रन्तस्तत्त्वमदः कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः ।

विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैर्धीराश्चिरं वासरान्॥२६२

अर्थ—अतिशय कर तप के प्रभाव से उपजी जो ज्ञानरूपी ज्योति तिस के प्रकाश कर वह निजात्म रूप तत्त्व को अपने अन्तष्करण (अन्तः करण) में जिस तिस तरह से प्राप्त हो कर जो अतिआनन्द को प्राप्त भये हैं। और हिरणिग्रों के चञ्चल नेत्रों कर विश्वास से पिये जा रहे हैं अर्थात् निर्भय होकर जिन को हिरणी देखें हैं सो धन्य हैं वह धीर पुरुष जो चितवन में न आवे, ऐसे चरित्रों कर वहुत दिन वन विषे व्यतीत करें हं॥

भावार्थ—जो निज स्वरूप विषे मग्न होय कर परम शान्त दशा को प्राप्त भये हैं और जिन से वन के जीव भी भय न करे हैं अर्थात् सर्व को प्रिय हैं सो साधु धन्य हैं॥

आगे कहे हैं, कि उन की ऐसी बुद्धि क्या करे है :—

छन्दः—येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं
गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोरारान्न विश्राम्यति।

यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्वाढं वहिर्व्याप्तयः
तेषां नोत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोत्थिताःपांशवः २६३

अर्थ–जिन की वुद्धि जगत् की आशा और आत्मा दोनों के मध्य प्राप्त भई है कैसे हैं यह दोनों नहीं दीखे है भेद जिन का सो उन मुनियों की वुद्धि दोनों के मध्य प्राप्त होय कर भली प्रकार भेद किये बिना विश्राम को न प्राप्त होय है अर्थात् भेद करे ही है। कैसे हैं वह महामुनि शान्तभाव ही है धन जिन का और जो वाह्य पदार्थों विषे चित्त की वृत्तिये जाय थीं सो उन को जिन्हीं ने अन्तरङ्ग विषे थापी सो तिन के चरण कमल की परम रज जगत् विषे हम को पवित्र करे ॥

भावार्थ–जड़ चेतन का अनादि सम्बन्ध है यह दोनों एक से होय रहे हैं, सबको एक से ही प्रति भासे हैं। जो महा पुरुषभेद विज्ञान कर दोनों को न्यारे २ जान जड़ से निर्ममत्व होय जगत् की आशा तजे हैं सो तिन के चरण कमल की धूल हम को अर्थात् जगत् के जीवों को पवित्र करे। आगे जो वाह्यव्रति का निरोध कर कर्म्म के फल को भोगवें हैं उन के परिणाम की विशेषता की प्रशसा करे हैं:–

छन्द:-यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्म्माशुभं वा शुभं
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।
कुर्य्याद्यः शुभमेव सोप्यभिमतोयस्तूभयोच्छित्तये।
सर्व्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स बन्द्यः सताम्॥२६४

अर्थ-इस जीव ने जो पूर्व जन्म विषे शुभ अथवा अशुभ कर्म्म उपार्जे हैं तिन कर्म्मों का नाम ही दैव (भाग्य, किसमत, नसीब) है तिन की प्रेरणा से ही जीव दुःख सुख भोगता है सो इन जीवों मे जो अशुभ को तज शुभ को आदरे सोई भला कहिये। और जो योगीश्वर शुभ अशुभ दोनों को विनाश करने के अर्थ सर्व आरम्भ परिग्रह रूप क्रूर ग्रह का त्याग करे सो सत्पुरुषों कर वन्दनीय है॥

भावार्थ-जगत् के जीव पाप विषे प्रवीण हैं कोई एक शुभपरिणामी दीखे है। सो भला है। और जो शुभ अशुभ दोनों ही को तज कर केवल शुद्धोपयोग विषे ही लीन हैं उन की महिमा कौन कह सके। सो सत्पुरुषों कर वन्दनीय हैं। आगे कोई प्रश्न करे है, कि

जो सुख दुःख कर्म्मों के फल भोगवे हैं, तिन कै नवे पुण्य पाप बन्ध ते होयेंगे। इस लिये दोनों का नाश कैसे होय। तिस का समाधान करे हैं :-

छन्दः—सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धोमणिरिव ॥ २६५ ॥

अर्थ—इस संसार में पूर्वोपार्जित कर्म्मों के उदय से सुख अथवा दुःख होय है सो यदि सुख विषे प्रीति होय, और दुःख विषे आताप माने तो नवें कर्म्म अवश्य बन्धे परन्तु जो महापुरुष सुख दुःख में हर्ष विषाद न करें कि कौन से प्रीति करिये, और किसको आताप कारी मानिये ऐसा विचार तज कर अति उदासीनता रूप होय हैं सो पुरातन कर्म्म का क्षय करे हैं और नवे न बन्धें है सो वह विवेकी महामुनि सदा प्रकाश रूप ही हैं॥

भावार्थ—जब कर्म्मका उदय जीवोंके आवेहै तब तिसविषे जो हर्ष विषाद करेतो नवे कर्म्म बन्धे

हैं और जो हर्ष विषाद न करे तो नवे न बन्धेहैं पूर्वकर्म्म फल देकर खिर जायहैं यह निश्चयहै।
आगे पुराने कर्म्मकी निर्ज्जरा विषे और नवे कर्म्मके सम्वर विषे जोकुछ हुआ सोदिखाइये हैः-

छन्दः-सकलविमलबोधो देहगेहे विनिर्ज्जन्
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा।
पुनरपि तदभावे प्रज्ज्वलत्युज्ज्वलः सन्
भवति हि यतिवृत्तं सर्व्वथाश्चर्य्यभूमि॥ २६६

अर्थ-जैसे अग्नि काष्ठ को सर्वथा भस्म कर तिस के अभाव विषे अति निर्म्मल प्रज्वले है तैसे निर्म्मल ज्ञान देहादिक का अभाव कर तिन के अभाव विषे विमल प्रकाश करैहै इसलिये यति का आचरण सर्वथा आश्चर्य्य का स्थानक है॥

भावार्थ-ज्ञान प्रकट भये घर को छोड़ कर देहसे स्नेह तजे सकल गृहका त्याग कर वीतराग अवस्था धर ज्ञान ही से निर्म्मल प्रकाश करैहै यह मुनिकी अलौकिक (संसार से अलग ही) वृत्ति है इसलिये पूर्णज्ञान मुनि ही के होयहै गृहस्थी कै अल्प होयहै आगे जो कोई मतवाले ज्ञानादि गुणों के नाश से मुक्ति मानेहैं सो उन के श्रद्धान को निराकरण करते हुए दो श्लोक कहे हैं :-

**छन्दः—गुणीगुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाशयिष्यते ।
अतएव हि निर्वाणं शून्यमन्यैर्विकल्पितम् ॥ २६७**

अर्थ—द्रव्य गुणमय होय है, जो गुण का नाश सो द्रव्य का नाश है, इस ही लिये औरों ने मुक्ति को शून्य माना है ॥

भावार्थ—यहां गुणी कहिये आत्मा सो ज्ञानादि गुणमय ही है ज्ञानादिका का जो नाश सो आत्मा का नाश है जैसे उष्णताके अभावसे अग्निका अभाव होय है इसलिये शून्यवादियोंने दीपक के अन्त होनेतुल्य निर्वाण मानाहै सो इस प्रकार निर्वाण नहीं है क्योंकि ज्ञान की जो पूर्णतासोहीमुक्तिहै ॥

**छन्दः—अजातोऽनश्वरो मूर्त्तः कर्त्ता भोक्ता सुखी बुधः ।
देहमात्रोमलैर्मुक्तो गत्वोर्द्ध्वमचलः प्रभुः ॥ २६८ ॥**

अर्थ—आत्मा कभी भी उपजे नहीं, और कभी भी मरे नहीं, और इस की कोई मूर्त्ति नहीं अर्थात् अमूर्त्तीक है व्यवहार नय कर कर्म्मों का कर्त्ता है। निश्चय नय कर अपने स्वभाव का कर्त्ता है, और व्यवहार नय कर सुख दुःख का भोक्ता है। निश्चय नय कर अपने

स्वभाव का भोक्ता है। अज्ञान कर इन्द्रिय जनित सुख को सुख माने है निश्च कर परम आनन्द मय ज्ञानरूप है। व्यवहार नय कर देहमात्र है। निश्चय नय कर चेतनमात्र है। कर्म्मफल रहित है लोक के शिखर जाकर अचल तिष्ठे है इसलिये प्रभु है॥

भावार्थ–आत्मा केवल ज्ञानानन्दमयी है, सकल उपाधि से रहित है। परन्तु पर को अपना मान भ्रान्ति से भ्रमे है। जब अपना स्वरूप जाने निरुपाधि ज्ञान रूप अविनाशी होय तिष्ठे तब आत्मा ज्ञान स्वरूप है। आगे कोई प्रश्न करे है, कि इन्द्रियजनित सुख के अभाव से कैसे सिद्धों को सुखी कहिये तिस का समाधान :–

छन्दः–स्वाधीन्या दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथं॥ २६९

अर्थ–जब मुनियों कै स्वाधीनपने से काय क्लेश रूप दुःख को भी सुख कहा तो सिद्धों को सुखी क्यों न कहिये। वह तो सदा स्वाधीन सुखमय ही हैं॥

भावार्थ–तत्त्वदृष्टि कर जगत् के जीव दुःखी हैं तिन में सम्यक्दृष्टि मुनि ही सुखी

कहे सो सिद्ध तो केवल आनन्द रूप ही हैं। इसलिये सिद्ध महासुखी हैं। आगे ग्रन्थ के अर्थ को पूर्ण कर ग्रन्थ की आज्ञा प्रमाण जो प्रवर्त्तें हैं उन को फल दिखावे हैं :-

छन्दः-इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यं
चरितमुचितमुच्चैश्चेतसां चित्तरम्यम्।
इदमविकलमन्तः संततं चिन्तयन्तः
सपदि विपदपेतामाश्रयन्तु श्रियं ते ॥ २७०

अर्थ-कई एक ग्रन्थों की रचना कर उदार है चित्त जिन का ऐसे महा मुनियों के चित्त को रमणीय यह आत्मानुशासन ग्रन्थ जो कौएक वचनों की रचना को जान कर रचा है सो इस को निरन्तर हृदय में पूर्ण रूप से चिन्तवते हुए पुरुष तत्काल आपदा से रहित हुए हुए अविनाशी लक्ष्मी को प्राप्त होवे ॥

भावार्थ-जो जैसा चितवन करे सो तैसा ही फल पावे जैसे सुगन्धपुष्प के योग से तिल भी सुगन्धित होय है तैसे महापुरुषों के गुण चिन्तवन से आप भी शुद्ध होय है। आगे

ग्रन्थ की समाप्ति विषे ग्रन्थ का कर्त्ता अपना नाम प्रगट करे है :-

छन्दः-जिनसेनाचार्य्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्।
गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥ २७१

अर्थ-जिनसेनाचार्य्य के चरण कमलों के स्मरण विषे आधीन है चित्त जिन का ऐसे जो गुणभद्र पूज्य पुरुष तिन कर किया यह आत्मानुशासन है। और दूजा अर्थ यह है कि जिन सेना जो मुनि मण्डली उस के आचार्य्य श्री गणधर देव तिन का भक्त गुणों कर भद्र कहिये कल्याणरूप भदंत कहिये पूज्य पुरुष जो जैन के आचार्य्य तिन कि कृति यह आत्मानुशासन है॥

भावार्थ-जिनवर की सेना के आचार्य्य सब में मुख्य गणधर देव हैं। तिन की भक्ति विषे आरूढ़ है चित्त जिन का ऐसे गुणों कर भद्र कहिये कल्याण रूप मुनिराज जैन के आचार्य्य तिन का भाष्या यह ग्रन्थ है। अथवा जिनसेनाचार्य्य के शिष्य जो गुणभद्र स्वामी उन का भाषा यह आत्मानुशासन महान् ग्रंथ है, यह दोनों ही अर्थ प्रमाण हैं। आगे आशीर्वाद देवें हैं, कि श्री ऋषभदेव तुम को कल्याण के कर्त्ता होवें ॥

भावार्थ–जैसे पर जीव भला माने और अपना अभिलाष भी सधै तैसेतो शिक्षा देने वाले बहुत हैं। परन्तु मुनि कै ऐसा परहित विषे अनुराग है। यह जीव तो शरीर को अपवित्र और दुःखका कारण प्रत्यक्ष देखे है परन्तु तौ भी इस से विरक्त न होयहै। इस ही विषे अतिप्रीति करे है। और मुनि हैं, सो जैसे दीपक विषे पड़ते हुवे पतङ्ग को कोई दयावान् बचावै। तैसे इस को उपदेश देकर इस शरीर से विरक्त करे हैं। यद्यपि इस को उपदेश कड़वा भी लगे है। तथापि मुनि यह जाने हैं कि यह बहुत दुखी होगा इसलिये दया कर उपदेश दिया ही करे हैं उस मुनि कै अन्य कुछ अभिलाषा नहीं है देखो महन्त पुरुष कैसे परोपकारी होय हैं। आगे जीव तो शरीर से विरक्त न होय है और मुनि हैं, सो ज्ञान का उपदेश देकर उस जीव को शरीर से विरक्त करे हैं ऐसा कहे हैं॥

छन्दः–इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम्।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य।
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम्॥ ९८॥

अर्थ–हे जीव ऐसे है वैसे है, इस प्रकार वहुता कहने कर क्या सिद्ध होय है तूने इस संसार विषे यह शरीर वारम्वार भोगा और छोडा है। अव तुझे संक्षेप कर इतना ही कहा जाता है कि जीवन कौ यह जो शरीर है सो सर्व्वं आपदा का स्थान है ॥

भावार्थ–हे जीव यदि तुझे दार्ष्टान्त दृष्टान्त कर वहुत कहना भी निष्फल है। तूने अनादि काल से शरीर धारा तहां अनेक दुःख भोग कर उस को छोड कर नवीन शरीर धारा सो हम संक्षेप कर अव इतना ही कहे हैं। कि यह शरीर ही जन्म, मरण क्षुधा, तृषा रोग आदि सर्व दुःखों का स्थान है इसीलिये शरीर से विरक्त होय जैसे शरीर के सवध का अभाव होय तैसे उपाय करना योग्य है। आगे तिस शरीर को ग्रहण करते सन्ते यह जीव गर्भ अवस्था विषे कैसा होय है, और क्या करे है। सो कहे हैं :–

छन्दः–अन्तर्व्वार्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्त्तः प्रतीच्छन्।
कर्म्मायत्तः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्धया।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरोजन्मनि क्लेशभीतो।
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि॥ ९९ ॥

अर्थ–हे प्राणी तू माता के उदर रूपी विष्टा स्थान विषे कर्म्म के आधीन हुआ बहुत काल ताईं बधने का लोभ कर अन्तर्वात जो माता का खाया हुआ अन्न उसको अपने मुख रूप छिद्र विषे चाहता भया, कोईं बून्द मेरे मुख में पड़े ऐसे मुख फाडे रहे है। हे प्राणी कैसा है तू क्षुधा, तृषा कर पीड़ित है । और उदर का स्तोक चैन है इसलिये तहां तेरा स्वरूप चलने से रहित है फिर उदर विषे निपजे, जे लट आदि जीव तिनका साथी है । ऐसी गर्भ विषे अवस्था होय है। सो हे प्राणी मैं ऐसा मानूं हूं, कि जन्म अवस्था विषे जो क्लेश होय है। तू उस से डरा हुआ फिर जन्म का कारण जो मरण उस से डरे है॥

भावार्थ–शरीर के सम्बन्ध से नरकादिक विषे जो दुःख होय है। सो तो दूर ही रहो परन्तु यह जो उत्तम पर्य्याय है। इस को ग्रहण करते हुए गर्भ विषे तुझे कैसा दुःख भया उस को तो तू चितवन कर हम तो ऐसा मानेहैं कि जो तू मरण से डरे है, सो मरण भये पीछे नवीन जन्म धरणा होगा, जन्म विषे तूने दुःख पाया है । इसलिये उसके भय से तेरे मरण का भय पाइये है। इसलिये शरीर की उत्पत्ति विषे ऐसा दुःख जान कर जिस से दुःख न होय सो उपाय करना योग्य है। आगे सम्यग्दर्शन के लाभ से पहिले भये जो पर्य्याय तिन विषे तूने सर्व्व कार्य्य अपने घात ही के अर्थ आचरण किये ऐसा कहे हैं :—

छन्द: अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमुग्धेन भवादितःपुरा।
यदत्र किंचित्सुखरूपमाप्यते तदार्य्यविद्ध्यन्धकवर्त्तकीयकम्॥१००

अर्थ—हे भोले जीव तू ने इस पर्य्याय से पहिले अजाकृपाणीय कार्य्य किया। जैसे अजा जो बकरी उस के मारने के अर्थ कोई छुरी चाहता था। और उस बकरी ने अपने खुर से खोद कर छुरी काढ़ी उस से बकरी का मरण भया। तैसे जिस कारण कर तेरा घात होय अर्थात् बुरा होय सोई कार्य्य तूने किया। कैसा है तू विकल्प जो हेय उपादेय का विचार उस विषे तू मूर्ख है। और इस संसार विषे जो कुछ सुख रूप विषयादिक का सेवन पाइये है उस को तू अन्धकवर्त्तकीयक जान। जैसे कोई आंधा ताली देता हुआ बटेरे को पकड़े। उस का बड़ा आश्चर्य जानना॥

भावार्थ—हे जीव तैं बकरी की छुरि वत् अपने बुरा होने का कार्य्य किया। और इस पर्य्याय विषे तुझे कुछ विषय सेवन से सुखसा भया। उस कर तू जानेहैं कि मेरी ऐसी ही अवस्था रहेगी। ऐसे जान निश्चिन्त भया है सो ऐसी भी अवस्था इस संसार विषे आंधे बटेर समान होगई है। इस लिये इस के भरोसे पर निश्चिन्त रहना योग्य नहीं है, आगे सुख उपजावन

हारे जेवस्तु तिनके अभिलाषी जीवन की यह काम जैसी अवस्था करे है सो कहे हैं ॥

छन्दः—हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोपि ।
पश्यादभुतं तदपि धीरतया सहन्ते
दग्धुंतपोग्निभिर मुं न समुत्सहन्ते ॥ १०१ ॥

अर्थ—हाय हाय यह बडा कष्ट है, कि जो आप को पण्डित ज्ञानी माने हैं तिन को भी यह जो प्रचण्ड काम है सो विना ही अवसर इष्ट स्त्रियों के निमित्त कर खण्डित करे है। ज्ञानी पने को खण्ड२ कर महा दुःख उपजावे है। और वह पण्डित लोग तिस काम को धीरज पने से सहे हैं और तप रूपी अग्नि कर जलावने का उत्साह नहीं करें हैं,सो तू यह आश्चर्य देख।

भावार्थ—काम है सो देवताओं पर्य्यंत सर्व्व जीवन को सतावे है। और जो अपने आप को ज्ञानी माने हैं तिन को भी स्त्रियों के निमित्त से भ्रष्ट कर दुःख उपजावे है। सो देखो जैसे किसी बुद्धिमान् को कोई वाणों कर छेदे है, सो वह तहां साहस कर वाणों की तो मार

खाता रहे और बाण चलावने वाले को मित्र जान, उसके मारने का उपाय न करे उलटी उसकी पुष्टता ही करे सो यह बड़ा आश्चर्य्य है। तैसे कोई आप को ज्ञानी तो माने है। परन्तु उसको काम है सो स्त्रीरूपी बाणन कर पीड़े है सो उनकी तो पीड़ा सहा करे और काम को हित जान तपरूपी अग्नि कर उसके भस्म करने का उपाय नहीं करे है। अनेक सामग्रियों कर उसकी पुष्टता ही किया चाहे है, सो यह बड़ा आश्चर्य्य है। आगे काम जलावने को जे उत्साह रूप भये ऐसे कोई एक जीव सो क्या करते भये ऐसा कहे हैं :—

छन्दः—अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियन्दत्तवान्
पापां तामवितर्प्पिणीं विगणयन्नादात्परस्त्यक्तवान्।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोप्यन्योन पर्य्यग्रही
देते ते विदितोत्तरोत्तरवरा: सर्वोत्तमास्त्यागिन: ॥ १०२ ॥

अर्थ—कोई त्यागी तो विषयन को तृण समान अकार्य्यकारी जान कर पुत्रादिक वा याचक तिन को लक्ष्मी देता भया और कोई त्यागी तिस लक्ष्मी को पाप रूप और तृप्ति की

न करन हारी मान कर किसी को भी न देता भया इस प्रकार छोड़ता भया और अन्य कोई त्यागी सौभाग्य दशा को प्राप्त भया सो तिस लक्ष्मी को पहिले ही अकल्याणकारिणी जान कर ग्रहण न करता भया, ऐसे इन तीनों त्यागियों को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जानना ॥

भावार्थ–जो सर्व धनादिक सामग्री का त्याग करे सो तो सर्व्वोत्कृष्ट त्यागी है और उन विषे जो पुत्रादिक को धनादिक दे त्याग करै, सो भी उत्कृष्ट त्यागी है। और जो किसी को भी नहीं दे ऐसे ही धनादिक का त्याग करे सो जीव उन से भी उत्कृष्ट त्यागी है। क्योंकि उन कै तो कुछ कषाय अंश से किसी को देने का परिणाम भया है। और इन कै ऐसी विरक्तता भई है कि कोई भी ग्रहो या न ग्रहो इनको कुछ प्रयोजन नहीं है। और पहिले ही धनादिक को नहीं ग्रहे कुमार अवस्था विषे ही त्याग करे सो उन से भी उत्कृष्ट त्यागी है। क्योंकि उन्होंने तो भोग कर त्याग किया, और इन कै ऐसी वैराग्यता भई। जो पहिले भोगने के परिणाम ही नहीं भये। ऐसे यह सर्व देने वाले दातार अनुक्रम से उत्कृष्ट उत्कृष्ट जानने। आगे उत्कृष्ट सम्पदाओं को पाकर जो सत्पुरुष छोड़े हैं उन का कुछ भी आश्चर्य नहीं ऐसा दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—विरज्य सम्पदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम् ।
मावमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥१०३॥

अर्थ—जे सत्पुरुष हैं ते विरक्त होय कर सम्पदा को छोड़े हैं। सो यहां क्या आश्चर्य है, ग्लानि सहित जो पुरुष हैं सो भले प्रकार भक्षण किये हुये भोजन को क्या नहिं वमें अपितु वमें ही वमें ॥

भावार्थ—रागभाव होते तो त्याग किये दुःख होय है। इसलिये सरागी पुरुष त्याग करे तो तहां आश्चर्य मानिये। और दुःख सहना कठिन है, सें कुछ खेद नहीं है बलकि सुख होय है। सो सुख को कौन नहीं चाहे है इसलिये विरागी पुरुष त्याग करे तो तहां कुछ भी आश्चर्य नहीं है। और विरागता भये त्याग करने ग्लानि भई कि इस भोजन से मेरे प्राण जायंगे। जैसे किसी ने भोजन किया था, और उसको ऐसी करे है। तब वह पुरुष उस भोजन का उपाय कर भी वमन करे है। तैसे मिले हुये विषयन विषे भी इन के सेवन से मेरा बुरा होगा, ऐसी उदासीनता भये उपाय कर भी उनका त्याग करिये है यहां कुछ आश्चर्य नहीं है। आगे लक्ष्मी को छोड़ता हुआ यह प्राणी क्या करे है सो कहे हैं :—

छन्दः—श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्त्विकः सताम् ।
करोति तत्त्ववित्चित्त्वं न शोकं न च विस्मयम् ॥१०४

अर्थ—जो मूर्खं पराक्रम रहित पुरुष है सो तो लक्ष्मी को त्याग करते हुए शोक करे है और जो पराक्रमका धारी पुरुष है,सो विस्मय को प्राप्त होय है। और तत्त्व ज्ञानी पुरुष तिस लक्ष्मी को त्यागता हुवा न शोक करे है,और न विस्मय करे है। सो यह बड़ा आश्चर्य्य है॥

भावार्थ—संसारी जीवन के धनादिक का त्याग करते हुए होय प्रकार का भाव होय है जो पराक्रम रहित हैं और उस के कोई कारण पाय धनादिक का त्याग होय है तहां वह तो शोक करे है कि यह कार्य्य क्यों भया ऐसे उस के अन्तरङ्ग विषे तो खेद उपजे है और जो पराक्रम का धारक है और उस के कोई कारण से वा अपने उत्साह से धनादिक का त्याग होय है। तहां उसके अन्तरङ्ग विषे गर्व होय है। और तत्वज्ञानी पुरुषों के धनादिक का त्याग होते शोक और गर्व दोनों ही नहीं होय हैं क्योंकि ज्ञानी धनादिक को परद्रव्य जाने हैं। और परद्रव्य का त्याग होते खेद और गर्व दोनों ही नहीं करिये हैं। इसलिये ज्ञानी शोक और गर्व से रहित हुवा हुवा परद्रव्य को त्यागे है। आगे विवेकी पुरुषन कर जैसे

लक्ष्मी तजिये है तैसे ही शरीर भी तजिये है ऐसे दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं:—

छन्द:—विमृश्योच्चैर्गर्भात् प्रभृतिपर्यन्तमखिलं
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराघबहुलम् ।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः
सकस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥ १०५

अर्थ—यह शरीर है सो समस्त हि गर्भ से लेकर मरण पर्य्यन्त वृथा क्लेश अपवित्रता भय तिरसकार और पाप जिस विषे बहुत पाइये ऐसा है सो ऐसा इस शरीर को विचार कर ज्ञानीन को तजना योग्य है । और यदि जिस के त्याग से मुक्ति होय तो ऐसा कौन मूर्ख है जो इस के त्याग करने को समर्थ न होय । कैसा है यह शरीर दुष्ट जन के मिलाप समान है ॥

भावार्थ—दुःख, अपवित्रता, भय, अपमान, और पाप जहां इन में से एक थोड़ा भी होय तो जे सत्पुरुष हैं ताका त्याग ही करे हैं सो इस संसार विषे तो यह सब ही बहुत घने सदा काल पाइये हैं इसलिये विवेकियों कर छोड़ देनेही योग्य है । और जहां कोई भी लाभ न

होय तो ऐसा कौन मूर्ख है जो इन को न तजे। जैसे दुष्ट का मिलाप दुःखदायक है तैसे इन को सर्व्व प्रकार दुःखदायक जान छोड़ना योग्य है। जैसे लक्ष्मी और शरीर को अनेक अनर्थों के कारण हारे जान कर छोड़ना कहा है। तैसे आगे रागादिक भी छोड़ने योग्य हैं ऐसा कहे हैं:—

छन्दः—कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं
त्वयापि भूयोजननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवर्त्तिभि
र्ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्॥१०६॥

अर्थ—हे भव्य तूने भी कुज्ञान रागादिक रूप विरुद्ध चेष्टाओं कर वारम्वार जन्म मरणादिक है लक्षण जिस का ऐसा फल पाया है। सो अव तू ऐसी प्रतीति कर कि इनसे विपरीत प्रवृत्तियों कर तिस फल से विपरीत लक्षण लिये जो फल है उसको तू निश्चय से पावेगा॥

भावार्थ—लोक विषे भी जिस कारण से जो कार्य्य उपजे है उस के उलटे कारण से उलटा ही फल उपजे है जैसे गरमी से जो रोग होय तिस से उलटा शीतल वस्तु से तिस रोग का

नाश होय है। इसलिये हे भव्य तूने अज्ञान असंयम कर जन्म मरणादिक दुःख रूप फल पाया है। और जिस कारण से एक ही वार कार्य्य निपजे तहां तो ऐसा भ्रम भी होय सके है कि यह कार्य्य किसी और ही कारण से भया होगा परन्तु संसारी जीवन के तो वारम्वार अज्ञान असंयम ही का सेवन दीखे है। और इन के जन्मादिक दुःख होता दीखे है। इसलिये यहां भ्रम नहीं है। जैसे जिस वस्तु को जिस समय खावे उसी काल में रोग उपजे तो जानिये कि वह वस्तु इस रोग का कारण है। और जो औरन ही के भया होय और अपने आप के न भया होय तो भी भ्रम हो सकता है। सो तू ही मन में विचार कि मैं कैसे परणमूं हूं और कैसा फल पाऊं हूं इसलिये जो तुझे यह फल वुरा लगे है तो तू जैसे अज्ञानादिक रूप परणमे है तैसे परणमनां छोड़ दे और अज्ञान असंयम से उलटा सम्यग्ज्ञान चारित्र है, इस के सेवन किये तिस जन्मादिक फल से उलटा अविनाशी सुख रूप मोक्ष फल पाइये है। सो यहां भ्रम नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञान चारित्र के सेवन हारे थोड़े हैं। और उन कै तत्काल ही अज्ञान असंयम जनित आकुलता मिटने से कुछ सुख होय है। और वहुत सेवन से वहुत सुख होता दीखे है। इसलिये जैसे किसी औषधि के सेवन से रोग घटता दीखे तो तहां जानिये कि इसके सेवन से सर्वरोग का भी नाश होवेगा। तैसे यहां भी निश्चय करना। सम्यग्ज्ञान चारित्र के

सेवन से सर्व दुःख का नाश होगा। इसलिये इन का सेवन करना युक्त है। आगे ऐसे फल को चाहता हुआ तू उस मार्ग विषे गमन कर ऐसा कहे है :-

छन्दः-दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ॥१०७

अर्थ-स्व और अन्य जीवों की जो करुणा तिस का नाम दया है इन्द्रिय मन का जो वश करना तिस का नाम दम है परिग्रह का छोड़ना तिस का नाम त्याग है और वीतराग दशा रूप सुखी होना तिस का नाम समाधि है सो इन की जो परिपाटी उस का जो मार्ग उस विषे तू यत्न सहित होता सन्ता सूधा कपट रहित गमन कर, यह जो मार्ग है सो तुझ को वचन से अगोचर और विकल्पों से रहित ऐसा जो कोई परमपद है उस को अवश्यमेव प्राप्त करे है॥

भावार्थ-जैसे कोई इष्ट नगर के सच्चे मार्ग विषे सीधा चला जाय तो वह उस नगर को पहुंचे ही पहुचे। तैसे जो मोक्ष का सच्चा मार्ग सम्यग्ज्ञान चारित्र विषे गर्भित दया, दम आदि विशेष इन विषे कपट रहित प्रवर्त्तै तो मोक्षको पावै ही पावै। मैं साधन करूं और सिद्ध न होय

ऐसा भ्रम करने से शिथिल मत हो इस साधन से सिद्धि अवश्य होय है। आगे विवेक पूर्वक परिग्रह का त्याग रूप जो मार्ग है सो जीवों को मोक्षपद के प्राप्त करन वाला है ऐसे दृढ़ करने को सूत्र कहे हैं :-

छन्दः-विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥ १०९ ॥

अर्थ-जैसे पवन साधन विषे कुटीप्रवेश क्रिया है तैसे सम्यक्ज्ञान से नष्ट कर दिया है मोह जिसने और विशुद्ध है काया जिस की ऐसे जीव को जो परिग्रह का त्याग है, सो अवश्यमेव अजर अमर करे है ॥

भावार्थ-भेद विज्ञान कर मोह का नाश करना सो सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन है। और वाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना सो सम्यक्चारित्र है। तहां सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दृष्टि जीव भया और वह सम्यक् चारित्र अंगीकार करे तो साक्षात् मोक्षमार्ग हुआ मोक्ष को पावे ही पावे इस में कुछ भी संदेह नहीं है सो सर्व कारण मिले कार्य्य का न होना दुर्निवार (ना मुमकिन) है। इसलिये रत्नत्रय विषे इन में से कोई न होय तो मोक्ष होने

विषे संदेह होय। सर्व्व तीनों मोक्षके कारण मिले तब मोक्ष होय ही होय ऐसा निश्चय करना।
आगे विवेक पूर्व्वक त्यागी पुरुषों में से सर्व्वोत्तम त्याग को करता हुआ जो पुरुष उस की प्रसंशा करते हुए सूत्र कहे हैं :-

छन्दः—अभुक्त्वापि परित्यागात्स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै कुमारब्रह्मचारिणे ॥ १०९ ॥

अर्थ—यह बड़े आश्चर्य्य की बात है कि जिस जीव ने भोग किये बिना ही विषयों के त्याग से समस्त विषय अपनी उच्छिष्ट समान किये तिस कुमारब्रह्मचारी को अर्थ हमारा नमस्कार होउ ॥

भावार्थ—पूर्व्वै तीन प्रकार के त्यागी कहे हैं। तिन विषे जिस कै भोग सामग्री का निमित्त आन बना है। और विरागता से उनको बिना भोगे ही छोड़े है। कुमार अवस्था विषे ही दीक्षा धारे है वह सर्व्वोत्कृष्ट त्यागी है। जो भोग कर छोड़े तो आश्चर्य्य नहीं इसने तो सामग्री को मिलने पर भी बिनां भोग किये ही त्याग किया सो इस का बड़ा आश्चर्य्य है। जैसे किसी को आगे भोजन धरा और वह बिना खाये ही उस भोजन को छोड़े तो उस भोजन का नाम

उच्छिष्ट है। तैसे ही इसने सर्व विषयों को बिना भोग कीये ही छोड़े इसलिये सर्व विषय इस ने उच्छिष्ट समान किये तिस को हम नमस्कार करते हैं। आगे ऐसे त्याग करते हुये जीव कै परम उदासीनता है लक्षण जिस का ऐसे चारित्र को वर्णन करते हुए सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—अकिञ्चनोहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥ ११० ॥

अर्थ—मैं अकिञ्चन हूं यानी मेरा कुछ भी नहीं है ऐसी भावना कर तिष्ठ क्योंकि ऐसी भावना किये तीन लोक का स्वामी होय है। यह योगीश्वरों के जानने लायक ऐसा जो परमात्मा का रहस्य सो तुझे कहा है।

भावार्थ—अज्ञानता में पर विषे ममत्व है। सो पर किसी प्रकार कर भी अपना नहीं होय है इसी कारण यह जीव ऐसी हीन दशा को प्राप्त हो रहा है। और जब ऐसी भावना होय कि कोई भी परद्रव्य मेरा नहीं है तब यह रहस्य कि जिस को योगीश्वर जाने हैं सो हमने तुझ को कहा है। तूभी ऐसी ही भावना कर ऐसी हमने शिक्षा दी है। आगे तप आराधना के स्वरूप को अनुक्रम के अर्थ दुर्लभ इत्यादि सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायु।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम् ॥१११॥

अर्थ—मनुष्य पर्य्याय है सो दुर्लभ है अपवित्र है सुख रहित है जिसका मरण समय नहीं जानिये है ऐसा है। और परम आयु भी जिस का अल्प है और तप है सो इस मनुष्य पर्याय विषे ही होय है। और मुक्ति है सो तप ही कर होय है इसलिये मनुष्य पर्य्याय पाय कर तुझ को तप ही करना योग्य है।

भावार्थ—आत्मा का हित मोक्ष है। तिस की प्राप्ति तप विना नहीं होय है क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पूर्वक तप को करे तो साक्षात् मोक्षमार्ग मिले है। और तप है सो मनुष्य पर्य्याय विषे ही होय है। सो अन्यत्र भी ऐसा कहा है॥

उक्तं च—देवाविसयपसत्ता णारया तिव्वदुःक्खसन्तत्ता।
तिरया विवेयवियुला मणुयाणं धम्मसम्पत्ती॥

अर्थ—देवता तो विषयों में आसक्त हैं और नारकी तीव्र दुःख कर तप्तायमान हैं और

तिर्य्यञ्च विवेक रहित हैं इसलिये मनुष्यों के ही धर्म्म की प्राप्ति है । और मनुष्यपर्य्याय वारम्बार पावना अतिदुर्लभ है, इसलिये इस पर्य्याय को पाय कर भी जो तप न करे तो फिर अनन्तानन्त काल भये भी मनुष्य पर्य्याय पावना दुर्लभ है। और जो देववत् यहां सुख होय तो तौभी सुख को छोड़ कर तप करना दुर्लभ होय। सो यहां तो केवल शारीरक और मानसिक दुःख ही की मुख्यता है। दुःख को छोड़ कर तप करने विषे क्या खेद है। और जो मनुष्य का सुन्दर शरीर होय तो उस के बिगाड़ने का भय होय सो यह तो धातु उपधातु कर उपज्या महा अपवित्र है इस को तप विषे लगावने में भय क्या है और देववत् मरण का निश्चय होय तो कितनेक काल तो निश्चिन्त रहिये पीछे ही तप करिये सो मनुष्य के मरण का निश्चय ही नहीं कि यह कब मरे। और जो उत्कृष्ट आयु भी बहुत होय तो मेरा उत्कृष्ट ही आयु होगा ऐसा भ्रम कर विलम्ब करिये सो तो उत्कृष्ट आयु भी थोड़ाही है इसलिये तुझ को प्रमादी न होना सावधान होय तप ही करना योग्य है। आगे तहां द्वादश प्रकार तप विषे मुक्ति के निकट साधन जो ध्यान रूप तप है उस का ध्येय फल आदि दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता

क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्म्मणाम्।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनःसाधनं
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किंवा समाधौ बुधाः॥११२

अर्थ–समाधि विषे तीन जगत् का गुरु जो भगवान् सो तो आराधना है। और सन्तन कर सराहीये ऐसी प्रवृत्ति करनी। और उस भगवान् के चरणों का स्मरण करना इतना ही क्लेश है और कर्म्मों का प्रकंपने नाश होना यह खरच है। और साधने का फल मोक्षसुख है और काल कितनायक परिमाण लीये थोड़ा और मन का साधन करना। सो तुम है ज्ञानी पुरुषो मन विषे नीकै विचार करो कि समाधि विषे क्या कष्ट है॥

भावार्थ–कोई जानेगा तप विषे कष्ट है। कष्ट सहा जाता नहीं तिस को कहिये है। सम्पूर्ण तपों विषे उत्कृष्ट तप ध्यान है। तिसही विषे क्या कष्ट है सो तू कह प्रथम तो नीच का सेवन करने से लज्जादिक का खेद होय है। सो तो ध्यान विषे तीन लोक का नाथ अरहन्तादिक वा तीन लोक का ज्ञायक आत्मा का अराधन करना है। और जो आप को नीच कार्य्य करना पड़े तोभी खेद होय। सो जिस वृत्ति को महन्त पुरुष भी प्रशंसैं ऐसी वृत्ति

अङ्गीकार करनी है। और अराधने विषे कुछ क्लेश होय तो खेद उपजै सो सेवन इतना ही है कि भगवान् या आत्मा के चरण या आचरण का स्मरण करना है। और साधन करते कुछ अपना जाता होय तौभी दु:ख होय सो जिसका नाश किया चाहिये ऐसा जो कर्म्म उसही का नाश होय है, अपना कुछ भी खर्च होता नहीं। और जो साधन का तुच्छ फल होय तो कुछ कार्यकारी नहीं सो ध्यान का फल सर्व्वोत्कृष्ट मोक्ष है। और बहुत काल पर्य्यन्त साधन करना होय तहां भी खेद उपजै सो थोड़े ही काल ध्यान किये फल पाइये है। और जो साधन पराधीन होय तौभी खेद होय सो अपने मन ही का साधन करना। अन्य विचार से छुड़ाय भगवन्त विषे लगावना है। सो ऐसा जो ध्यानरूप तप तिस विषे खेद कहां, सो तू ही विचार तप करने विषे अनादर मत करै। कोऊ कहेगा ध्यान विषे तो कष्ट नहीं परन्तु अनशनादि तप विषे कष्ट है।

—:(तिस का उत्तर):—

अनशनादि तप विषे कष्ट तब होय जब उस को अपने मन से करना न चाहै सो यहां तो जैसे अपना परिणाम प्रमादी न होय और क्लेश रूपभी न होय तैसे ध्यान की सिद्धि के अर्थ अभिलाषा कर अनशनादि करिये है। इसलिये तहां भी कष्ट न होय है। आगे धनादिक की निन्दा करते हुए तप की महिमा दिखावें हैं :—

छन्दः–द्रविणपवनप्राध्माताना सुखं किमिहेक्षते
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः।
चरणमपि किं स्प्रष्टुं शक्ताः पराभवपांशवो
वदत तपसोप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम्॥ ११३॥

अर्थ–धन सम्बन्धी विचार सोई भया पवन उस कर धमाये हुये तप्तायमान भये जो जीव उन को यहां सुख कहा देखिये है। यह दुष्ट काम रूप अहेड़ी आत्मा को कुछक दुष्ट करे है। और कष्ट रूपी जो धूलियां हैं सो वह कहा चारित्र के स्पर्शने को समर्थ हैं अपितु नहीं हैं सो तुम बतावो कि मन वाञ्छित अर्थ के सिद्ध करने वाला तप के सिवाय और कौन पदार्थ मानने योग्य है॥

भावार्थ–जो जीव धन कर युक्त हैं और काम कर पीड़ित हैं और तप के करने को कष्ट मानें हैं उन को संसार में कदापि सुख नहीं हो सकता सुख तो केवल तप करने में ही है। क्योंकि तप करने से ससारिक विषयों की वासना के दूर होने से यहां इस लोक में सुख

प्राप्त होय है, और आगामिकाल में निर्वाणपद पाने कर अनन्त सुख प्राप्त होवे है। इसलिये तप के समान इस लोक और परलोक में कोई भी वस्तु सुख दायक नहीं है, आगे इस ही अर्थ को पुष्ट करे हैं :-

छन्दः—इहैव सहजान् रिपून्विजयते प्रकोपादिकान्
गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति।
पुरुषश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात् स्वयं पायिनी,
नरोन रमते कथं तपसि तापसंहारिणि॥ ११४॥

अर्थ—तप के होते संते यहां ही अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए जे क्रोधादिक वैरी तिन को तत्काल जीतिये हैं। और जिन को यह पुरुष अपना प्राण देकर भी चाहे है ऐसे जो गुण ते परिणमें हैं अर्थात् प्रगटे हैं। और आगामि काल विषे शीघ्र ही पुरुषार्थ जो मोक्ष उस की सिद्धि स्वयमेव प्राप्त होय है। इसलिये आताप का संहार करनहारा जो तप तिस विषे कौन विवेकी पुरुष नहीं रमें अपितु रमे ही रमे॥

भावार्थ–यह जीव तो जिस कार्य्य में आगामि अवगुण होय तत्काल गुण होय, अथवा तत्काल अवगुण होय आगामि गुण होय। उस कार्य्य विषे भी अनुरागी होता देखिये है। और यह तप है सो तत्काल भी गुण करे और आगामि भी गुण करे। सो ऐसे तप को कौन विवेकी न करे। अपितु करे ही करे। तहां इस तप का तत्काल गुण तो इतना है। जो प्रत्यक्ष दु:ख दायक अनादिसे लगे जो क्रोधादिक तिनका तो अभाव होयहै, और अपना प्राण खोए भी प्राप्ति होय तौभी जिनको चाहे,ऐसे जे प्रत्यक्ष ज्ञानादिक गुण वा ऋद्धि सन्मानादिक सो अतिशय से स्वयमेव प्रगट होय हैं। और आगामि गुण ऐसा है कि तप के फल से पुरुष जो आत्मा ताका अर्थ जो प्रयोजन मोक्ष उसकी शीघ्र ही सिद्धि होय है। ऐसे इस लोक विषे तप को गुण कर्त्ता जान कर इस विषे रति करनी योग्यहै। आगे तप विषे रत जो जीव सो आयु और शरीर को कैसे सफल करे है। उसको सराहतेसंते सूत्र कहे हैं ॥

छन्द:–तपोवल्ल्यां देह: समुपचितपुण्यार्जितफल:
शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलित:।
व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपय:,

स धन्यः सन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ॥११५॥

अर्थ–जैसे फूल कच्चा फल उपजाय कर आप समय पाय गिर पड़े है तैसे जिस का शरीर तप रूपी वेल विषे पुण्य रूपी फल उपजाय कर आप काल पाय नष्ट होय है और जैसे अग्नि विषे जल दूध को बचा कर आप जले है तैसे जिसकी आयु "समाधिहै अन्तिम दशा जिसकी" सो धर्म्म को बचाय कर आप सन्यास रूप अग्नि में जले है सो पुरुष धन्य है ॥

भावार्थ–जैसे बेल विषे फूल लगे सो कच्चा फल उपजाय कर आप झड़ पड़े है तैसे जिनका शरीर तप विषे प्रवर्त्या है सो पुण्य को निपजाय कर काल पाय आप नष्ट होय है। और जैसे अग्नि के संयोग से जल है, सो दूध को राख आप जले है। तैसे संन्यास के होते जिन का आयु है सो धर्म्म को राख आप शोषित होय है। ऐसे शरीर और आयु जिनका सफल है, वे पुरुष धन्य हैं। आगे परम वैराग्य कर संयुक्त जीव अपवित्र और दुःखदायक जो शरीर उस विषे रह कर उसका पालना करते हुए तप करें हैं तिसका कारण दोय छन्दों कर कहे हैं :–

छन्दः–अमी प्ररूढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत् ।
तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ॥ ११६ ॥

अर्थ–यह उत्कृष्ट वैराग्य जिनके पाइये ऐसे जीव जो शरीर को भी पाल चिरकाल पर्यन्त तप करे हैं, सो यह ज्ञान की ही महिमा है ॥

भावार्थ–जिससे उदास होइ उसका पालना विरुद्ध है। परंतु जो बुद्धिमान् उसके पालने से ही अपना प्रयोजन सधता जाने तो अपना प्रयोजन जैसे सधै तैसे ही उसको पाले है परंतु अनुराग कर उस को अधिक नहीं पोषे है। सो महामुनि शरीर से उदास भये हैं और इन के ऐसा ज्ञान है, कि मनुष्य शरीर रहे ही तप होय है। इसलिये इसको आहारादिक देकर अपने प्रयोजन के अर्थ राखे हैं। अनुराग कर इसको बहुत नहीं पोषे हैं। ऐसे शरीर को राख बहुत काल पर्यंत तप करना सो यह ज्ञानही का माहात्म्य है। ज्ञान न होय तो अति उग्रता कर शरीर का नाश करे। पीछे देवादिक पर्य्याय पावै तहां संयम का अभाव होय, सो ज्ञानी ऐसे नहीं करे है:-

छन्दः–क्षणार्द्धमपि देहेन साहचर्य्यं सहेत कः।
यदि प्रकोष्टमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः ॥ ११७ ॥

अर्थ–यदि ज्ञान हाथ का पहौंचा पकड़ कर रोकने वाला न होय तो कौन मुनि आधा चण मात्र भी शरीर के साथ रहना चाहे अपितु कोई भी रहना न चाहे ॥

भावार्थ-जैसे किसी के साथ पहले तो मित्रता थी, पीछे जब उसका दुष्टपना जाना तब उस से लड़कर उस के साथ को तत्काल छोड़ना चाहा तहां कोई बुद्धिमान् पुरुष उस के हाथ का पहौंचा पकड़ कर उसको समझावै कि ऐसे तो लड़े यह आगामि दुःखदायक होगा। इसलिये कोई दिन इसको साथ में राख निर्बल कर जैसे इसका सत्ता नाश होय, तैसे कार्य्य करना योग्य है। तैसे आत्मा का शरीर के साथ अनुराग था, जब इस को दुख का कारण जाना, तब इस को उग्र आचरण से नाश किया चाहे। तहां जिन वाणी जनित ज्ञान से यह विचार आया कि ऐसे करने से तो फिर देवादि पर्य्याय पावना होगा तहां दुःख उपजेगा। इसलिये कितनेक काल इसको साथ में रख निर्बल कर जैसे फिर शरीर धरना न होय तैसे कार्य्य करना योग्य है ऐसे ज्ञान रोकन हारा न होय तो कौन मुनि शरीर का साथ करे। जो बुरा जान कर भी प्रयोजन के अर्थ शरीर को साथ रखिये है। सो यह ज्ञान ही की महिमा है। आगे इसही अर्थ को दृष्टान्त कर दृढ़ करते सन्ते समस्त इत्यादि दोय श्लोक कहे हैं :-

छन्दः-समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्
तपस्यन्निर्म्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान्।

किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोपि सुचिरं
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्य्यवशतः ॥ ११९ ॥

अर्थ—जब श्री ऋषभनाथ स्वामी भी समस्त बडे राज्य को तृण की न्याईं छोड़ कर तप करते हुए मान रहित भूखे दीनवत् भोजन के अर्थी होकर बहुतकाल पर्य्यन्त भोजन को न पावते सन्ते भी पर घर नित्य प्रति भ्रमते भये। तब यहां केवल अपने कार्य्य के वश से अन्य पुरुषों को क्यों परीषह न सहना अपितु कार्य्य के अर्थ सहना ही योग्य है॥

भावार्थ—जो कार्य का अर्थी होय सो थोड़ा बहुत कष्ट सहना होय तो कष्ट भी सहे। परन्तु अपने कार्य्य की सिद्धि करे। ताका उदाहरण देखो स्वामी ऋषभनाथ जी सर्व्व राज्य को छोड कर अन्तराय के होते हुए भी भोजन के अर्थ जैसे भूखा दीन पर घर जाय तैसे पर घर फिरते भये। जब ऐसे २ महान् पुरुषों ने भी ऐसा किया तो अन्य पुरुषों को क्या लज्जा है। और अन्य को कैसे सुगम सिद्धि होवे इसलिये मोक्ष रूपी कार्य्य के अर्थ थोड़ा बहुत कष्ट सह कर भी मोक्ष का साधन करना योग्य है :—

छन्दः—पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव

स्वयं स्रष्टा सृष्टेः पतिरथनिधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् सकिल पुरुरप्याट जगती
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघ्यं हतविधेः॥ ११९॥

अर्थ–गर्भ से पहिले ही इन्द्र है सो किंकरवत् जोड़े हैं हाथ जिसने ऐसा होता भया और आप स्टष्टि जो कर्म्म भूमि उसका करन हारा भया। और अपना पुत्र है, सो निधि का स्वामी चक्रवर्त्ती भया ऐसा पुरुष जो श्री आदिनाथ स्वामी सो भी छह मास पर्य्यन्त क्षुधावन्त होय पृथिवी प्रति भ्रमता भया, सो बड़ा आश्चर्य्य है कि इस संसार विषे निकृष्ट जो विधाता कर्म्म उस का विलास जो चरित्र है सो अतिशय कर अलंघ्य है अर्थात् कोई भी इस के मेटने को समर्थ नहीं है॥

भावार्थ–कोई जानेगा कि मैं सुख सामग्री को मिलाय कर दुःख का कारण दूर कर सुखी होजाऊंगा सो संसार विषे ऐसा किसी का भी पुरुषार्थ नहीं है जो कर्म्म का उदय आवे। और उसको दूर करे, जब श्रीवृषभनाथ देव कि जिन के इन्द्र समान तो किंकर और आप सर्व रचना का कर्त्ता ऐसा पुरुषार्थ कर संयुक्त और पुत्र चक्रवर्त्ती ऐसी सामग्री होते भी अन्तराय

के उदय से छह मास पर्य्यन्त भोजन के अर्थ भ्रमण करता भया तब औरन की क्या वार्त्ता इस लिये जो कर्म्म के उदय से थोड़ा वा बहुत कष्ट उपजै तो उसको सह क्योंकि संसार विषे तो कर्म्म ही बलवान् है। और जैसे संसार अवस्था का अभाव होय और अपना हित सधै तैसे निश्चय कर उसका साधन करना। आगे सम्यग्दर्शनादिक जो तीन आराधना हैं सो शास्त्र ज्ञानादिक की प्रधानता कर प्रवर्तने से उनके प्रयोजन की सिद्धि होय है, अन्यथा नहीं। इस लिये अब ज्ञान आराधना के दिखावने को अनुक्रम करते हुए (सिलसिलेवार) प्राक् इत्यादि सूत्र कहे हैं :—

छन्दः—प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम्।१२०

अर्थ—जो संयमी है सो पहिले तो दीपकवत् प्रकाश है प्रधान जिस में ऐसा होवे पीछे तेज और प्रकाश इन कर सूर्य्य समान देदीप्यमान होवे॥

भावार्थ—मोक्ष का साधक है सो प्रथम अवस्था विषे तो दीपक समान होय है। जैसे दीपक तैलादि सामग्री के बल से घट पटादिक का प्रकाशन हारा है। तैसे शास्त्रादिक के बल से जीवादिक पदार्थों का जानने वाला होय है। फिर पीछे उस को सूर्य्य समान होना योग्य है,

जैसे सूर्य्य स्वभाव ही से घने पदार्थों का प्रकाश ने वाला है। और प्रताप का धारण हारा है। तैसे वह पुरुष स्वभाव ही से पदार्थों का विशेष जानने वाला होय है और तपश्चरणादिक का धारण हारा होय है ऐसा अनुक्रम जानना। आगे ज्ञान आराधना का आराधक जो जीव है, सो दीपक समान होता हुआ इस कार्य्य को करे है ऐसा कहे हैं:—

छन्दः—भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमन्कर्म्मकज्जलम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—जो यह ज्ञानवान् जीव है सो दीपक समान होय कर ज्ञान चारित्र से देदीप्यमान होता हुवा कर्म्म रूपी काजल को वमता सन्ता आपा पर को प्रकाशे है ॥

भावार्थ—जो ज्ञान आराधना का अराधक है, सो दीपक समान है। जैसे दीपक दीप्ति सहित प्रकाशता हुवा काजल को वमे है। और आपको और पर जो घट पटादिक पदार्थ उनको प्रकाशे है। तैसे ज्ञानी ज्ञानचारित्र सहित देदीप्यमान होय है। और कर्म्म की निर्ज्जरा करे है। ऐसा होता हुवा आप आत्मा को और पर शरीरादिक को यथावत् जाने है। आगे उस पूर्व्वोक्त प्रकार ज्ञान आराधना का अराधक जो जीव है सो शास्त्र ज्ञान से भया जो विवेक

(तल्लीन) उस कार पूर्व क्रम से अशुभ परिणाम को छोड़ शुद्ध परिणाम को आश्रय कर मुक्त होय है ऐसे दिखावते संते सूत्र कहे हैं :–

छन्दः–अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥ १२२ ॥

अर्थ–जैसे सन्ध्या अवस्थाको नहीं प्राप्त हुआ ऐसा जो सूर्य उस कै अन्धकारपना प्रगट नहीं होय है। तैसे यह जीव शास्त्र ज्ञान कर अशुभसे छूट शुभ को प्राप्त होताहुआ शुद्धहोय है॥

भावार्थ–जैसे सन्ध्या सम्बन्धी लाली अवस्था को न प्राप्त होता सन्ता जो शुद्ध सूर्य है, उस कै अन्धकार प्रगट नहीं होय है। तैसे जो अशुभ राग रहित आत्मा है। सो क्रम से शुभ राग रूप होय शुद्ध केवल दशा को प्राप्त होय है उसके अज्ञानादिक का उपजना न होयहै। यदि यहां कोई यह प्रश्न करे कि ज्ञान आराधना रूप परिणमे हुये जीव के तो तप शास्त्रादिक विषे शुभ-रूप अनुराग से सरागीपना होय है इसलिये उसके मुक्तपना कैसे होय ऐसे प्रश्नका उत्तर कहे हैं :–

छन्दः–विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥

अर्थ–जैसे सूर्य्य के प्रभात सम्बन्धी रक्तता है सो उदय के अर्थ है, तैसे दूर किया है अज्ञानरूपी अन्धकार जिस ने ऐसा जो जीव उसके तप शास्त्रादिक सम्बन्धी जो राग भाव है सो कल्याण के उदय ही के अर्थ है ॥

भावार्थ–जैसे सूर्य्य के अस्तसमय जैसी लाली होय है तैसी ही प्रभात समय होय है। परन्तु प्रभात समय विषे रात्रि सम्बन्धी अन्धकार का नाशकर जो लाली भई है सो आगामि सूर्य्य के शुद्ध उदय का कारण है। तैसे जीव के जैसा विषयादिक विषे राग होय है तैसा ही तप, शास्त्रादिक विषे राग होय है। परन्तु तप शास्त्रादि विषे मिथ्यात्व संबन्धी अज्ञान का नाश कर जो राग भया है सो जीव के आगामि शुद्ध केवल दशा रूप उदय का कारण है। आगे इस से विपरीत राग विषे दोष कों दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं ॥

छन्दः–विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः ।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥ १२४ ॥

अर्थ–जैसे सूर्य्य अपने व्याप्त हुए हुए प्रकाश को छोड़ कर और अन्धकार को अग्रगामी कर लाली को प्राप्त होता हुआ पाताल को चला जाय है, अर्थात् अस्त हो जाय है तैसे

ही यह आत्मा अपने व्याप्त ज्ञान भाव को छोड कर अज्ञानभाव को अग्रगामी कर राग को प्राप्त होता सन्ता नरक में चला जाए है ॥

भावार्थ–जैसे अस्त होता हुआ सूर्य्य है सो अपने फैले हुए प्रकाश को तो छोड़े है और अन्धकार को आगामी होनहार करे है। और सन्ध्या समय विषे जो उसका लाल रङ्ग होय है, उसको प्राप्त हुआ हुआ ज्योतिष मत की अपेक्षा या दृष्टि आवने की अपेक्षा पाताललोक को प्राप्त होय है। तैसे भ्रष्ट अवस्था को प्राप्त होता आत्मा है, सो अपने फैले हुए ज्ञानभाव को तो छोडे है। और अज्ञान आगामी होनहार भया है। तिस समय विषे जो हिंसादिक पापरूप होय है। उसको प्राप्त भया जो आत्मा सो पाताल विषे जो पाइये है, नरकादिक वा नीच दशा रूप निगोदादिक पर्य्याय उन को प्राप्त होय है। ऐसे यद्यपि अशुभ शुभ दोउ रागभाव होय हैं। परन्तु नीचे की दशा विषे शुभ राग तो कथञ्चित् आगामि शुद्धता का कारण है इसलिये थोड़ा होय है। परन्तु जो अशुभ राग है सो तो केवल आगामि कुगति ही का कारण है, सो अधिक होय है। इसलिये इसका तो अवश्य त्याग करना। आगे ऐसे चार प्रकार अराधना विषे निष्कपट मन कर प्रवर्त्तै है जो मोक्षाभिलाषी जीव उसकौ मोक्ष की प्राप्ति निर्विघ्न होय है। ऐसे दिखावते संते सूत्र कहे हैं ॥

छन्दः—ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलं
चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गाः गुणा रक्षकाः।
पन्थाश्च प्रगुणं शमाम्बु बहुतः छायादयोभावना
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ॥१२५॥

अर्थ—ज्ञान तो जहां आगे चलने वाला और लज्जा साथ चलने वाली और तप रसते का खरच (तोशा) और चारित्र पालकी और बीच में रहने के लिये स्थान स्वर्ग और गुण रखवाले (निघेवान) और सूधा रसता जिस विषे उपशम रूपी बहुत जल पाइये है। और दयारूप छाया और भावना रूपी गमन, ऐसा जहां समाज मिले सो ऐसा समाज तिस मुनि कों उपद्रव बिना भी इष्ट स्थानक को प्राप्त करे है॥

भावार्थ—कोई पुरुष किसी नगर को चले, तहां आगवाणी आदि सामग्री मिलै तो निरुपद्रव नगर को पहुंचे। यहां कोई भव्य मोक्ष को चाहे। तहां ज्ञानादिक सामग्री मिले तो निरुपद्रव मोक्ष को प्राप्त होय। तहां जैसे अगवाणी मार्ग बतावे तैसे ज्ञान तो मोक्षमार्ग विषे

हेयोपादेय तत्वन का निश्चय करावे है और जैसे साथ स्त्री होय तो मार्ग विषे सुखसों चले तैसे साथ धर्म्म सम्बन्धी लज्जा है उस कर मोक्षमार्ग विषे सुख सो प्रवर्तें है और जैसे मार्ग का खरच (तोशा) साथ होय शिथिलता न होय। तैसे तप का साधन कर शिथलता न होय। और जैसे चढ़ने को पालकी होय तो चलने में खेद न होय। तैसे निष्कषाय रूप चारित्र भाव कर मोक्षमार्ग विषे प्रवर्त्तें तो खेद न होय है। और जैसे मार्ग विषे वसने को स्थान चोखे होयें तो तहां विश्राम होय। तैसे मोक्षमार्ग विषे वसनें को स्थान स्वर्ग हैं, तहां विश्राम होय है। और जैसे रखवाले साथ होयें तो कोई न लूटै तैसे क्षमादिक गुण रखवाले हैं। इसलिये क्रोधादिक नहीं लूटें हैं। और जैसे मार्ग सीधा होय तो सुख सें गमन होय तैसे मोक्षमार्ग सरल कपट रहित है। इसलिये सुख से तहां प्रवृत्ति होय है। और मार्ग विषे जल घना होय तो तृषा दु:ख न होय। तैसे मोक्षमार्ग विषे उपशम भाव है। उस कर तृषा का दु:ख न होय है। और जैसे मार्ग विषे छाया होय तो आताप न होय। तैसे मोक्षमार्ग विषे स्वदया परदया है। इसलिये सन्ताप न होय है। और जैसे गमन करै तो नगर को पहुंचे। तैसे यहां शुद्ध भावना भावै है। उस कर मोक्ष को पावै है। ऐसे ऐसी सामग्री मिलने से पथिक

इष्ट नगर को पावे है। तैसे मोक्षमार्गी इष्ट मोक्ष पद को पावे है। आगे तिस चलने विषे जो उपद्रव हैं। उनको पांच श्लोकों में कहे हैं ॥

छन्दः—मिथ्यादृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो दृष्टंतदासुस्फुटं
यासामर्द्धविलोकनैरपि जगद्दन्दह्यते सर्व्वतः।
तास्त्वय्येव विलोमवर्त्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमतस्तद्गोचरं मास्मगाः॥१२६॥

अर्थ—सर्प्पों को जो दृष्टिविष जातिके बतावे है,सो झूठ है। क्योंकि हमने तो इन स्त्रियों विषे सो दृष्टिविष मना देखा है, कैसी हैं स्त्रियें जिन के कटाक्षरूप आधे अवलोकन कर भी लोक सर्व्वाङ्गपनै दाह रूप होय हैं। और तिन के त्याग से प्रतिकूली भया जो तू सो तुझ विषे क्रोधवन्त हुई, वह स्त्रियां तुझे भ्रष्ट करने के अर्थ अतिशय कर भ्रमे हैं। सो स्त्री रूप यह केवल विष हैं, इसलिये तू उनके सन्मुख मत प्राप्ति हो॥

भावार्थ—लोकविषे कोई सर्प्प ऐसे सुनिये हैं कि जिनको देखते ही विष चढ़े है सो यह तो अलंकार करके झूठ बताया और स्त्रियों के कटाक्ष कर तत्काल विष समान आतापकारी

काम विकार उत्पन्न होय है इसलिये स्त्रियों कौ दृष्टि विषपना कहा है। और यहां मुनि को यह शिक्षा दी है कि और तो सर्व स्त्रियों के किंकर हैं। और तू तिनका त्यागी भया है। सो इसलिये वह स्त्रियां तेरे भ्रष्ट करने को कारण हो रही हैं। सो तू उन के विषयगोचर मत हो। मोक्षमार्ग विषे स्त्रियों के वशीभूत होना सोई बड़ा उपद्रव है॥

छन्दः—क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगा दृष्ट्वैव काले क्वचित्
तेषामौषधयश्च सन्ति बहवः सद्योविषव्युच्छिदः।
हन्युः स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा
योगीन्द्रानपि तान्निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च।१२७

अर्थ—जो सर्प्प हैं वह तो क्रोधवन्त हो कर किसी काल विषे डस कर ही प्राणी को हरें है, सो ऐसी औषधियां बहुत पाइये हैं। कि उनके विष को फौरन दूर करें परन्तु स्त्रीरूपी जो सर्प्प है वह क्रोधवन्त भये भी और प्रसन्न भये भी परलोक विषे और इस लोक विषे बारम्बार उन योगीश्वरो कों उनको देखने से या आप देख कर हनें हैं अर्थात् घाते हैं। कैसे हैं वह स्त्री रूपी सर्प्प कि जिन के विष की कोई भी औषध नहीं है॥

भावार्थ—लोक विषे सर्पों को अतिअनिष्ट जान कर उन से डरिये है और स्त्रियों को बहुत दुष्ट जान इनका विश्वास करिये है, सो यहां स्त्रियों से राग छुडावने के अर्थ सर्पों से भी स्त्रियों कै अधिकता दिखाई है। क्योंकि सर्प्प तो क्रोधवान् हुवा ही मारे है और स्त्री क्रोधवन्त हुई तो किसी उपाय कर और अप्रसन्न हुई तो आकुलता वधाय कर जीव को हने है। और सर्प तो डस कर ही प्राणों को हरे हैं। और स्त्रिये देखी हुई वा आप देखकर भी जीव का घात करे हैं। और सर्प्प के विष दूर करने के लिये तो अनेक औषधियां हैं। परन्तु स्त्रियों से भया जो काम का सन्ताप उसकी कोई भी औषधि नहींहै। ऐसे स्त्रीरूप सर्प्प मोक्ष मार्गियों को भी भ्रष्ट करें हैं। इसलिये इन का विश्वास नहीं करना॥

छन्द:—एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि।
तां त्वं संस्कुरु वर्ज्जयान्यवनितावार्त्तामपि प्रस्फुटम्
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः॥१२९

आत्मा श्लो० १७०

अर्थ–यह मुक्तिरूपी लक्ष्मी मनोहर स्त्री उत्तम नायिका है, सो सामान्य जनों कर वर्जित है। हर एक कै इस की प्राप्ति न होय सके है। और जगत् की प्यारी है, अर्थात् यह ऐसी है कि जो इसका स्वरूप जानें वह सर्व इसको चाहें। औरगुणों विषे स्नेहवती है। यह ऐसी है कि जिस विषे गुण होंय उस ही को इस की प्राप्ति होय है। और इस के प्राप्त होने के अर्थ जो तेरी इच्छा है तो तू इस मोक्ष लक्ष्मी ही को रत्नत्रयादिक से आभूषित कर। और प्रगटपने अन्य लौकिक स्त्रियों की वार्त्ता को छोड़। और उस मोक्षलक्ष्मी विषे ही अनुराग को वधाय, ऐसे तुझे उस मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होगी क्योंकि स्त्रियें अकसर करकै ईर्षा सहित होय हैं॥

भावार्थ–यहां अलंकार करके मोक्षलक्ष्मी को स्त्री कहा। सो जैसे कोई पुरुष किसी स्त्री को अपने वश किया चाहे तो वह दूसरी स्त्रियों की वार्त्ता भी न करे उसी विषे अनुराग वधावे। और आभूषणादिक से उस को प्रसन्न करे। तो तिस स्त्री को पावे तैसे ही तू मोक्ष लक्ष्मी को चाहे है, तो लौकिक स्त्रियों की वार्त्ता मत कर। उसी ही विषे प्रीति वधाय और रत्नत्रयादिक से उस का साधन कर यह ही सच्चा उपाय है। चूंकि स्त्रियों में परस्पर ईर्षा पाईये है इसलिये विरक्त हुई हुई जो होय स्त्रियें उन विषे एक ही का साधन होगा, इसी प्रकार लौकिक स्त्रियों को छोड़ कर मुक्तिलक्ष्मीका साधन कर॥

छन्दः–वचनसलिलैर्हासस्वच्छैस्तरङ्गसुखोदरै
र्वदनकमलैर्वाह्यरम्याः स्त्रियः सरसीसमाः ।
इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेपि पिपासवो
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गताः ॥१३०॥

अर्थ–स्त्रियें सरोवरी समान हैं। क्योंकि हास्य रूपी निर्मलता और वक्रोक्ति (ठठा) आदि सुखकारी तरङ्ग जिन के पाइये ऐसे वचनरूपी जल और मुखरूपी कमल तिन कर वाह्य विषे रमणीय हैं। सो इन स्त्री रूपी सरोवरियों विषे वहुत से मूर्ख जीव तटही तट विषे तृष्णा वन्त हुए हुए विषय रूपी भयानक नाकू कर ग्रसे हुए फिर नहीं निकसे हैं॥

भावार्थ–जैसे किसी सरोवरी विषे निर्म्मल तरङ्ग लिये जल और कमल पाइये हैं। उन कर वह रमणे योग्य भासे है। और तिस के मध्य विषे नाकू जलचर जीव वसे हैं सो कोई मूर्ख पुरुष तृष्णावन्त भया हुआ तहां जाय कर तट ही विषे खड़ा रहा, सो यह तो तृषा दूर करने को गया था। परन्तु वहां उसको तन्दवा नामा जलचर अपनी तन्तुनियों से खैंच कर

निगल गया और वह निकसा नहीं मरण ही को प्राप्त भया। तैसे यह स्त्रियें है, इन विषे हास्य वा युक्ति लिये वचन और मुख की शोभा पाईये है, तिन कर यह वाह्य रमने योग्य भासे हैं। और इन विषे काम सेवन रूप विषय का कारण पना पाईये है। तहां कोई अज्ञानी मदोन्मत्ततृष्णावन्त हुआ२ तहां जाय कर दूरही से अवलोकन करने लगा, सो यह तो अपनी चाह मिटावने को गया था, परन्तु वहां काम है, सो उसने अपनी विषय रूप सामग्री से विह्वल कर भ्रष्ट किया फिर यह चेता नहीं। स्थावरादि पर्य्याय ही को प्राप्त भया। इसलिये इन स्त्रियों का विश्वास न करना॥

छन्दः—पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्ज्वाल्य रागानलं
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संवा(संत्रा)सिताः सर्व्वतः।
हन्तैते शरणैषिणोजनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्म्मितम्
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधाधिपस्याकुलाः॥१३१॥

अर्थ—हाय हाय यह बड़ा दुःख है कि पापी और क्रोधी जो इन्द्रिय रूप अहेड़ी तिन कर

शिकार के स्थानक के चौगिरद राग रूपी अग्नि को जलायकर सभ तरफ से डराये हुए ऐसे जो मनुष्य रूपी हिरण वह आकुलतावन्त भये शरण को चाहते हुए काम रूपी अहेड़ियों के स्वामी का जो स्त्री रूपी कपट कर निपजाया मारनेका स्थान उस में जाय हैं।

भावार्थ–जैसे कोई प्रधान अहेड़ी के किंकर शिकार करावने के अर्थ जहां हिरण होंय वहां चौगिरद अग्नि जलावें और एक शिकार करने का स्थानक बनावें। तहां हिरण हैं सो अग्निके भयसे भाग कर उस स्थानको पहुचे कि यहां हम बचेंगे और वहांप्रधान अहेड़ी तिष्टै वह उन को शस्त्रादि से मारे। तैसे प्रधान जो विकार रूपी काम उसके इन्द्रियरूपी जो किंकर वह इस जीव को भ्रष्ट करने के लिये वर्णादिक विषयों विषे रागादि उपजावेहैं। और एक स्त्री रूपी पदार्थ लोक विषे पाईये है। तहां यह जीव राग भाव जनित आकुलता से पीड़ित होय प्राप्त होयहै कि यहां हम निराकुल होवेंगे। सो यहां तो प्रधान काम विकार वसेहै सो उन जीवन को अपने कुचेष्टा रूप बाणों कर भ्रष्ट करे है। तहां वह जीव परम आकुलता को पावें हैं। इसलिये स्त्रियों का विश्वास न करना। आगे ऐसे वाह्य उपद्रव के कारणों विषे प्रवृत्ति को निषेध कर अब अन्तरंग उपद्रव के कारणों विषे प्रवृत्ति को निषेधते सन्ते सूत्र कहे हैं।

छन्दः—अपत्रपतपोग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं
शरीरमिदमर्द्धदग्धशववन्न किं पश्यसि ।
वृथा व्रजसि किं रतिं ननु भीषयस्यातुरो
निसर्गतरलाः स्त्रियस्तदिह ताः स्फुटं बिभ्यति ॥१३२॥

अर्थ—हे निर्लज्ज तेरा यह शरीर तप रूपी अग्नि कर अधजले मुरदे के समान भय और जुगुप्सा (नफरत) का स्थानक होय रहा है। इस को क्या तू न देखे है। वृथा आसक्तता को क्यों प्राप्त होय है। हे भ्रष्ट तू तो आतुर (रोगी) हुआ हुआ स्त्रियों को नहीं डरावे है। संग किया चाहे है। परतु इस लोक विषे वह स्त्रियें सहज ही चंचल और कायर हैं वह तुझ से प्रगट पनें डरे हैं तेरी भयानक मूर्ति देख भागें हैं।

भावार्थ—कोई दीक्षा धार कर काम विकार से स्त्रियों विषे अनुरागी होय है। उसको यहां शिक्षा दी है कि यह तेरा शरीर तो तप कर भयकारी और घिनावना ऐसा भया जैसे अधजला मुरदा होय। और तू स्त्रियों का संग चाहे। सो उनका यह स्वभाव है कि जिस का शरीर

सुहावना देखें उस से हास्य करें और जिसका शरीर असुहावना देखें उससे दूर भागें। सो हे निर्लज्ज तेरे उनका संग नहीं होना तूं वृथा ही आपा किस लिये विसारे है। इस पदवीको पाकर तुझ को अपना भला ही करना योग्य है। आगे जिस स्थान विषे तू रति करे है सो कैसा है यह दिखावते संते उत्तुङ्ग इत्यादि तीन छन्द कहें हैं ॥

छन्दः—उत्तुङ्गसंगतकुलाचलदुर्गदूर
मारान्वलित्रयसरिद्विषमावतारम् ।
रोमावलीकुसृतिमार्गमनङ्गमूढाः
कान्ताकटीविवरमेत्य न केऽत्र खिन्नाः ॥१३३॥

अर्थ—काम विकार से मूर्ख भए ऐसे कौन से जीव हैं जो स्त्री का कटि छिद्र जो योनिस्थान उसको प्राप्त हो कर खेदखिन्न न होय हैं। अपितु सर्व ही तत्काल वा आगामि महाखेद को पावें हैं। कैसा है वह स्थान। ऊंचे और परस्पर भिड गए ऐसे जो दो कुच वही भए पर्व्वत रूप गढ़ उन कर दुःप्राप्य है अर्थात् बहुत दुःख से पाइए है और ऐसा है अतिशय कर त्रिवली रूप

नदी उन कर विषम है पार उतरना जहां । और रोमन की जो पंक्ति वही ठहरे वृक्ष उन कर गमन करने का मार्ग खोटा होरहा है ॥

भावार्थ–जैसे जिस स्थानक के मार्ग विषे ऊंचे मिले हुए पर्व्वत होंय और जिस से कठिनता से पार उतरिए ऐसी नदी होय और वृक्षन की सघनता से दुर्गमता होय ऐसे स्थानक को पहोंचने विषे खेद होय ही होय। तैसे योनिस्थानक रमने के पहिले ऊंचे मिले हुए तो कुच हैं। और उस से खेद कर छूटना होय ऐसी त्रिवली है और रोमनि करि दुर्गमता पाइए है ऐसे स्थानक को प्राप्त होने विषे खेद होय ही होय। यह जो प्रत्यक्ष खेद को सुख माने हैं। सो जैसे दुःखिया अपना सिर फोडने विषे सुख माने तैसे काम कर पीडित हुआ यह जीव खेद होने विषे सुख कल्पे है। इस लिये काम विकार मिटावना योग्य है ॥

छन्दः–वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य
नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्व्वतस्य ।
प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्र

माहुर्बुधा जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः ॥ १३४ ॥

अर्थ–जो ज्ञानी हैं वह सुदती जो अच्छे दांतों वाली स्त्री उस का जघन रन्ध्र जो योनि रूप छिद्र उसको ऐसा कहे हैं कि यह विषयी पुरुषों के विष्टाका घर है अथवा काम का जो शस्त्र उस का घाव है वा विषम रूप पर्व्वत ताका आच्छादित खाडा है वा कामरूप बडे सर्प्प का बिल है ॥

भावार्थ–यह जो योनि छिद्र है सो जैसे विष्टा फैंकने का स्थानक होय तैसे कामी पुरुषों के वीर्य्य क्षेपने का स्थानक है । अथवा जैसे शस्त्र का घाव होय तैसे यह काम का शस्त्र जो लिङ्ग उसका घाव है अथवा जैसे पर्व्वत के आडा छिपा हुआ खाडा होवे जो तहां न जानेका कारण होय तैसे यह मोक्ष के आडा ज्ञानी जिस को बुरा जानैं ऐसा तहां न जाने का कारण है । अथवा जैसे जिस बिल विषे सर्प्प रहता होय तहां जो जाय उसको वह सर्प्प डसे तैसे इसविषे काम वसे है । जो यहां रति माने उस को काम मोहित करे है । ऐसे अनेक उपमा कर यह योनिछिद्र अनिष्ट है इसलिये यहां राग न करना ॥

छन्दः–अध्यास्यापि तपोवनं वत परे नारीकटीकोटरे
व्याकृष्टा विषयैः पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा ।

**प्रोचे प्रीतिकरीं जनस्य जननीं प्राग्जन्मभूमिं च यो
व्यतान्तस्य दुरात्मनो दुरुदितैर्म्मन्ये जगद्वञ्चितम् ॥१३५॥**

अर्थ–हाय हाय धर्म्म से अलग होकर कोई जीव तप करने का स्थानक जो वन उस को प्राप्त होकर भी विषयों कर प्रेरे हुए जैसे हाथी कपट कर बनाये हुए खाडे विषे पड़े है तैसे विषयी पुरुष स्त्री के कटिछिद्र विषे पड़े हैं सो मैं ऐसे मानू हूं कि यह योनि पहिले तो मनुष्य की जन्मभूमि है इस लिये इस की माता है। और इसको जो कुकवि प्रीति करन हारि बतावें हैं सो ऐसे दुष्ट जीवों के दुष्ट वचन कर यह जगत् ठगा गया है ॥

भावार्थ–जैसे हाथी वन विषे स्वाधीन रहे है उसको पकड़ने को कोई कपट की खाडी बनावे तहां विषय सेवन का लोभी हुआ वह हाथी तिस खाडे विषे पड़कर नाना कष्ट सहे तैसे मुनि वन विषे स्वाधीन हैं इन के भ्रष्ट करने को कारण स्त्री की योनिस्थान है तहां विषय सेवन के लोभ से उस योनि विषे रमते हुए पुरुष घनें कष्ट सहे हैं, यहां आचार्य्य कहे हैं कि इस जीव कै काम विकार तो था ही परन्तु कोई शिक्षा देने वाला मिले तो काम विकार घटे सो खोटे कवीश्वर अनेक युक्तियों करि स्त्री के अंगन को रमणीक दिखाय विकार बधावें हैं सो

उन के वचनों कर ठिगाए हुए जीव बचते नहीं और देखो कुकवियों की ढीठता कि जिस योनिस्थान विषे अपना जन्म भया उसही को रमणे का स्थान बतावे हैं यहां यह शिक्षा दी है कि कुकवियों के बहकाने से स्त्री की योनि विषे रागी मत होउ क्योंकि रागी होने से महा कष्ट पावोगे, आगे विष विषे जो अमृत बुद्धि कराय कर प्रवृत्ति करावे सो ठग कहिये है सो स्त्री तो महन्त पुरुषों के भी सन्तापादिक दुःख का कारण होय है इस लिये यह बड़ा विष है ऐसा कहे हैं॥

छन्दः—कण्ठस्थः कालकूटोपि शम्भोः किमपि नाकरोत्।
सोऽपि दन्दह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विषमं विषम्॥१३६॥

अर्थ—रुद्र के कण्ठ विषे तिष्ठता हुआ जो कालकूट विष है सो कुछ भी न करता भया। परन्तु ऐसा भी रुद्र है तौभी स्त्रियों कर संतापित कीजिए है। इसलिये स्त्री अन्य विषों से भी विषम विष है॥

भावार्थ—लोक विषे ऐसा कहे हैं कि कालकूट विष समान और निरुपाय अनिष्ट नाहीं। सो यह स्त्रियें हैं ते उस से भी विषम हैं अर्थात् अत्यन्त निरुपाय अनिष्ट हैं। देखो महादेव कालकूट विष को कण्ठ विषे राखता भया उसको वह कुछभी अनिष्ट न करता भया परन्तु स्त्रियों

ने उस को भी कामपीड़ित कर आताप उपजाया। इसलिये कालकूट से भी स्त्री का विषम पना जान कर जो विष को अमृत बतावें हैं ऐसे ठगों से भी जे स्त्री विषे अनुराग करावे हैं (वह) महा ठग जानने उनके वचनों से स्त्रियों विषे अनुराग न करना॥

नोट—यहां महादेव के काल कूट विष का जो दृष्टांत दिया है यह वैष्णवमत की अपेक्षा से दिया है वैष्णवमत मे महादेव के कंठ में कालकूट विष बतावे हैं सो यहां केवल दृष्टांत मात्र जानना इसके सच्च या झूठ से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि दृष्टांत में हमेशा दृष्टांत के जिस गुण से अपना प्रयोजन सिद्ध होय है उसका वह ही गुण ग्रहण किया जाया करता है शेष गुणों से कुछ प्रयोजन नहीं होता चूंके यह ग्रंथ श्री गुणभद्र स्वामी ने अनुमान संवत ६०५ विक्रम में रचा है और वैष्णवमत की कहावतें इनसे पहले की हैं इसलिये इन्होंने जो यहां यह कालकूट विष का दृष्टांत दिया है इस का कुछ डर नहीं है यह केवल समझाने के वास्ते है इस के झूठ सच्च से कुछ प्रयोजन नहीं है। (बाबू ज्ञानचन्द्र जैनी)

आगे स्त्री के शरीर विषे चन्द्रमादिक के गुण स्थापने से जो प्राणियों के आसक्तता होए है सो अयुक्त है ऐसा कहे हैं॥

छन्दः—तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे
रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत्।

ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी
मदनमधुमदान्धे प्रायशः कोविवेकः ॥१३७॥

अर्थ–हे प्राणी सर्व्व दोषन का पात्र असा जो स्त्री का शरीर तिस विषे चन्द्रमा आदि पदार्थन के समान गुण मानने से जो तेरे प्रीति पाईये है। सो यह चन्द्रमा आदि पदार्थ शुचि हैं और शुभ हैं। इन ही विषे प्रीति करनी भली है परन्तु कामरूपी मदिरा का मद कर जो तू अंध भया है सो उस विषे क्या विवेक है ॥

भावार्थ–हे प्राणी खोटे कवि स्त्री के मुखादि अंग विषे चन्द्रमा कमल आदि पदार्थों की उपमा देकर अनुराग करावें हैं सो तू काममदिरा कर अंध भया है और तुझे कुछ भी सूझे नहीं क्योंकि इन हाड़ मास के बने हुए अंगों कै चन्द्रमादिक के समान पना कैसे बने और यदि तेरी बुद्धि विषे अनुराग है तो चन्द्रमादिक विषे क्यों न करे परन्तु जेसे कीड़ा विष्टा विषे रतिमानें हैं तैसे तू काम से अंध हुआ हुआ स्त्रियों के अंगों विषे ही रतिमाने है क्यों कि कामांध को भले बुरे का विवेक नहीं होता इसलिये कामांध पने को छोड़ कर विवेकी होना योग्य है। आगे स्त्री के शरीर विषे जो प्रीति है सो मन पूर्व्वक है और मन नपुंसक है सो जो

ज्ञानी पुरुष हैं उनको यह नपुंसक मन जीत नहीं सके है ऐसा दिखावे हैं॥

**छन्दः—प्रियामनुभवत्स्वयं भवति कातरं केवलं
परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ह्लादते।
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते॥१३९॥**

अर्थ—मन है सो स्त्री को भोगता हुआ आप तो केवल कायर होय है किसी प्रकार भी उस को भोग नहीं सकता और दूसरे जो विषयी इन्द्रिय अर्थात् स्पर्शादिक इन्द्रिय उनके तिस स्त्री को भोगते सते यह हर्ष प्रगट करे है इसलिये यह जो मन है सो केवल शब्द ही से नपुंसक नहीं है। बलकि अर्थ से भी नपुंसक ही है और जो पुरुष भली बुद्धि का धनी ज्ञानी है सो दोनों प्रकार शब्द से भी और अर्थ से भी पुरुषलिंगी है सो इस मनकर कैसे जीता जाय अपितु न जीता जाय॥

भावार्थ—कोई कहे कि यदि मन विकारी होजाय तो तब विवेकी क्या करे उसको युक्ति कर समझाइये है, मनस् ऐसा शब्द व्याकरण विषे नपुंसक लिंगी कहा है सो यह मनः शब्द केवल शब्द

ही से नपुंसक लिंगी नहीं है बलकि अर्थ से भी नपुंसक ही है जैसे नपुंसक स्त्री के भोगने को तो चाहे परन्तु आप भोग सके नहीं अन्य पुरुष भोगे तिनकी क्रीडा देख आप हर्ष करे तैसे यह मन स्त्री के भोगने को चाहे परन्तु आप भोग कर सके नहीं। स्पर्शादि इन्द्रिय भोग करें तिन की क्रीड़ा देख आप हर्ष करे है। ऐसे यह मन शब्द से और अर्थ से दोनों प्रकार नपुंसक है और जो पुरुष सुबुधी है सो सुबुधीः ऐसा शब्द व्याकरण विषे पुरुष लिंगी है इसलिये शब्द से भी पुरुष है। और सुष्टु बुद्धि जिसके पाइये ऐसा इसका अर्थ है सो स्त्रीका धनी पुरुष ही होय है, स्त्री का धनी स्त्री बने नहीं। इसलिये वह सुबुधि अर्थ से भी पुरुष है सो सुधी पुरुष पुरुषार्थ को न सम्भारे तो मन नपुंसक से भी हारे। वरना मन नपुंसक इस सुधी पुरुष को कैसे जीते, इसलिये मन को बलवान् मान अपना पुरुषार्थ न छोड़ना। पुरुषार्थ कर मन विकार का अभावही करना योग्य है। आगे तिस पूर्वोक्त कारण से मनके जीतने के लिये पुरुषों को भला तप करना योग्य है तिस तप को करते हुए जीव के परम पूज्यपने की सिद्धि होय है ऐसा कहे हैं ॥

छन्दः—राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरु तपः पूज्यमत्रापि यस्मात्
त्यक्त्वा राज्यं तपस्यन्नलघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यम्।

राज्यात्तस्यात्प्रपूज्यं तपइति मनसालोच्य धीमानुदग्रं
कुर्य्यांदार्य्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ॥ १३९ ॥

अर्थ–सुजनता कहिये नीति तिस सहित तो राज्य और शास्त्र ज्ञान सहित तप यह दोनों पूज्य हैं और इन विषे भी जो राज्य को छोड़ तप करे है सो लघु नहीं होय हैं अर्थात् उच्चपना पावे है परन्तु जो तप को छोड़ कर राज्य करे है सो अत्यन्त लघु होय है अर्थात् नीचपना पावे है इसलिये तप राज्य से भी अधिक पूज्य है सो जो बुद्धिमान् आर्य्य पुरुष हैं वह ऐसे मन से विचार कर पाप से भयभीत होय सर्व प्रकार संसार भय को दूर करने वाले उत्तम तप को करे हैं ॥

भावार्थ–लोक विषे दोनों प्रधान हैं। एक तो नीति सहित राज्य और दूसरा ज्ञान सहित तप, सो जो पुरुष राज्य को छोड़ कर तप करे है सो तो वंदनीय होय है और जो तपको छोड़ कर राज्य करे है सो अतिनिंद्य होय है इसलिये यह निश्चय है कि राज्य से भी तप अधिक प्रधान है सोई प्रत्यक्ष देखिये है कि राजा तपस्वी को वंदे है और तपस्वी राजा को वंदे नहीं सो ऐसे विचार कर संसार से डरा हुआ ज्ञानी जन राज्य को पाप रूप सं-

सार का कारण जान कर और तप को संसार के दुःखका हरण हारा जान कर तप ही को अंगी-कार करे है। आगे तपरूपी गुण के नाश से लघुपना होय है इसको दृष्टांत द्वारा दिखावें हैं॥

छन्दः—पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि।
पश्चात् पादोपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद्गुणक्षतिः॥१४०॥

अर्थ—पहिले सुगंधादिक गुणों के होते हुए फूल देवताओं कर भी मस्तक पर धारिए हैं पीछे सुगंधादिक गुणों के जाते रहने से उन फूलों को चरण से भी नाहीं छूवे हैं सो यह न्याय ही है कि गुणों का नाश लघुता को ही करे है॥

भावार्थ—लोक विषे गुण ही कर महिमा है सो देखो जिस फूल को सुगंधादिक गुण होतें महन्त पुरुष भी अपने मस्तक पर रखते थे तिस ही फूल को गुण गए पीछे कोई पगन की ठोकर भी देता नहीं सो यहां भी यही अर्थ समझना कि ज्ञान सहित तप के होते जिसको देव भी पूजते थे उस ही को तप से भ्रष्ट भए पीछे कोई छूवे भी नहीं है सो गुण का नाश लघुपना करे ही करे। इसलिये गुण की रक्षा ही करनी योग्य है और भी यहां इतना और जानना कि कुल के वा पद के और भेषादिक के संबंध से जो बड़ापना मानिये है सो भ्रम है।

क्योंकि एक ही जीव जो पहले गुण होने से वंदनीय था सोई गुणों के गए पीछे निंद्य भया सो पूर्वले अन्य पुरुष तो गुणवान् भए थे और यह आप भ्रष्ट भया तब उनके गुणों से यह कैसे वंदनीय होवे इसलिये ऐसा निश्चय करना कि अपने वर्तमान गुणों से ही पूज्यपना होय है। आगे बहुत गुण होते हुए दोष का अंश भी न रहे और दोष के अंश के रहने से तो दोषमय होना ही भला है ऐसा अन्योक्ति अलंकार कर दिखावते संते सूत्र कहे हैं॥

छन्दः—हेचन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं
तद्वान् भवेः किमिति तन्मयएव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नाऽसि लक्ष्यः॥१४१॥

अर्थ—हे चन्द्रमा तू कालिमारूप कलंक सहित क्यों भया यदि कलंक सहित ही होना था तो सर्व कलंक मय ही क्यों न भया रे चन्द्रमा अतिशय कर तेरे मल को बतावती हुई ऐसी जो अब शेष रही ज्योति अर्थात् चांदनी उस कर क्या सिद्धि है यहां यह विचार कि यदि तू राहु

वत् ही सर्व काला होता तो किसी के भी टोकने योग्य न होता। यहां अन्योक्ति अलंकार कर चंद्रमा को उलाहना दिया है सो जो मुनि ऊंची पदवी धार तिस विषे दोष लगावे हैं उसको यह उलाहनां जानना जैसे चन्द्रमा उज्ज्वल पदवी का धारक है और उसके किंचित् कालिमा दीखे है उस कर उसको कलंकी कह कर सर्व टोके हैं और जो राहु सारा ही काला है तो उस को वैसा ही जान कर कोई भी टोके नहीं तैसे तू निर्मल ऊंची मुनिपदवी का धारक भया है और तेरे में कोई कुछ दोष भासे है उस से तुझे कलंकी मान सब ही टोके हैं और जो नीचे की गृहस्थ पदवी का धारक सर्व मल युक्त है उसको ऐसा ही जान कर कोई भी टोके नहीं इस लिये चन्द्रमा के मिस कर इस को शिक्षा दी है कि तू दोष सहित क्यों भया क्योंकि यदि दोष सहित ही होना था तो सर्व दोष युक्त ही क्यों न भया ऊंची मुनिपदवी धारे विना नीचली गृहस्थ पदवी ही अंगीकार रखनी थी रे तू कई एक ऊंची मुनिपदवी की क्रियाओं को जो दोष सहित साधे है सो इन कर क्या सिद्ध होय है यह ही तेरे दोष को प्रगट करे है जो तू भी गृहस्थी होता तो अन्य गृहस्थीवत् किसी कर भी तू टोकने योग्य न होता इसलिये हमारी यह शिक्षा है कि यदि ऊंचे मुनिपद को धारे है तो दोष को मत धारे और जो दोष को धारे है तो मुनिपद को मत धारे आदि पुराण विषे भी ऐसा कथन है कि ४ हजार मुनि आदिनाथ स्वामी

को साथ दीचाली। पीछे जब भ्रष्ट भए तब तिनको देवता कहते भए कि इस पदवी विषे ऐसा भ्रष्ट आचरण करोगे तो हम दण्ड देवेंगे हां इस पदवी को छोड कर जैसी इच्छा हो वैसे प्रवर्त्तो यहां कोई कहै कि लोक तो जैसे कहै तैसे कहै परन्तु फल तो जितना गुण दोष होता है उतनाही लगे है

-(ताका समाधान)- षट्पाहुड विषे ऐसा कहा है:-

गाथा-जह जायरूव सरिसो तिलतुसमित्तं णगहदि अच्छेसु।
जइ लेइ अप्प बहुयं तत्तो पुणजाइणिग्गोय॥

अर्थ-जो यथा जात रूप सदृश नग्न मुनि है सो पदार्थों विषे तिल के तुषमात्र भी ग्रहण न करै है यदि थोड़ा बहुत भी ग्रहण करे तो तिस से निगोद जाय सो यहां देखो गृहस्थ तो बहुत परिग्रह का धारी थोड़ा सा भी धर्म साधै तो भी शुभगति पावे और मुनि थोड़ा सा भी व्रतभंग करै तो निगोद जाय इसलिये जो दोष को छिपावे वह गुरु नहीं हैं और जब दुर्जन थोड़े से दोषों को भी देखकर उनको बहुत कहकर प्रगट करै तब धर्म्मात्मा पुरुष अपना दोष जानकर उस के नाश करने को उद्यम करैं हैं ऐसे दोष का प्रगट करना उपदेश के समान गुणकारी होय है इस लिये जो दोषों के कहने वाला दुर्ज्जन है सो इस की अपेक्षा गुरु समान कार्य्यकारी है इसलिये जो धर्म्मात्मा हैं सो दोष छिपावने वाले गुरु से भी अपने दोष कहने

वाले दुर्ज्जन को भला जाने हैं —:(यहां प्रश्न):— दोष प्रगट किये धर्म्म का छेद करने से पाप भी तो होय है तिसका —:(समाधान):— जो ईर्षा कर बुरा करने के अर्थ दोष प्रगट करे उस को तो पाप ही होय है परन्तु जो दयावान् होय कर दोष छुड़ावने के अर्थ दोष प्रगट करे उस को पुण्य ही होय है —:(यहां प्रश्न):— जो दुर्ज्जन तो पापी होय है उसको गुरु कैसे कहा —:(तिस का उत्तर):— दुर्ज्जन तो पापी ही है परन्तु यहां दोष छिपावने वाला गुरु दुर्ज्जन से भी बुरा है। इसलिये यहां प्रयोजन के वश से अलंकार कर गुरु कहा है परमार्थ से गुरु नहीं है इस प्रकार धर्म्मात्मा जन दोष कहने वाले को इष्ट ही माने हैं ॥

छन्दः—विकाशयन्ति भव्यस्य मनो मुकुलमंशवः ।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः ॥ १४२ ॥

अर्थ—जैसे कठोर जो सूर्य्य की किरणें वह कमल की कलियों को प्रफुल्लित करे हैं तैसे कठोर भी गुरु के वचन भव्य जीव के मन को प्रफुल्लित करें हैं ॥

भावार्थ—श्री गुरु दोष छुड़ावने को और गुण ग्रहण करावने के लिये कदाचित्

असुहावने कठोर वचन भी कहैं तो भव्य जीव का मन तिन वचनों से आनन्दित ही होय है अर्थात् उसके चिन्ता और खेद न होय है । जैसे सूर्य्य की किरणें औरों को तो आताप उपजावें हैं परन्तु कमल उन से प्रफुल्लित ही होय है तैसे ही श्रीगुरों का कठोर वाक्य धर्म्मात्माओं के मन को आनन्द ही उपजावे है जब श्रीगुरु धर्म्मात्माओं को दवा २ कर उपदेश देवें तब वह आपको धन्य माने हैं और न्याय भी ऐसेही है कि देखो अनशन तप धारि अन्न का एक दाणा भी ग्रहे तो पापी होय और अनशन व्रत न धरे और अब मौदर्य्यविषे तिस से घना भी भोजन करे तो धर्म्मात्मा ही है इस से यह बात सिद्ध भई कि दोष सहित ऊंची पदवी से नीचली पदवी ही भली है। इसलिये दोषलगाय ऊंची पदवीको बिगाड़ना योग्य नहीं। आगे दोष के विद्यमान् होतैं उस को प्रकाश करने वाला और आच्छादित करनेवाला ऐसे दुर्ज्जन और आचार्य्य उनके हितकारी और अहितकारीपना से अराधने और न अराधने के योग्यपना को दिखावते संते सूत्र कहे हैं ॥

छन्दः—दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्त्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं
सार्द्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्।

तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्चस्फुटं
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोयंखलः सद्गुरुः १४३

अर्थ–यदि कोई गुरु प्रवृत्ति राखने के अर्थ शिष्य के दोषों को छिपायकर राखे और वह शिष्य उन दोषों सहित शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो जाय तो पीछे वह गुरु क्या करे इस लिये ऐसा गुरु मेरा गुरु नहीं है बलकि जो दोष देखने विषे जैसे प्रवीण होय तैसे निरन्तर अच्छी तरह देख कर मेरे थोड़े से दोषों को भी बहुत से वर्णं वधाय कर प्रगट कहे है। ऐसा यदि दुर्ज्जन भी है तो भी मेरा भला गुरु है॥

भावार्थ–पूर्व सूत्र विषे दोषवान् की निन्दा करी थी तहां कोई कहे कि अवगुण ग्राही होना युक्त नहीं आपको तो गुण ही का ग्रहण करना योग्य है उस को कहिये है कि जो आप दोष को तो धरे है और अपना ऊंचापना राखा चाहे है सो उसको तो दोष प्रगट करनेवाला बुरा मालूम होय है परन्तु जो धर्म्मात्मा अपनी अवस्था से ऊंचापना नहीं प्रगट किया चाहते हैं और यदि जो कोई उन विषे दोष होय तो उस को दूर किया चाहे हैं इनको दोष प्रगट करनेवाला बुरा नहीं भासे है सो यहां धर्म्मात्मा ऐसे विचारे हैं कि गुण दोष का ज्ञान तो गुरु के उपदेश

से होय है और जो गुरु प्रवृत्ति करावने के लोभ से जैसे अपना संप्रदाय बधै तैसे कीया चाहे और दोषों को न कहे तो तब शिष्य को अपने दोषों का ठीक न होने से वह अपने दोषों को छोड़े नहीं। और जो गुरु तो ऐसे विचारे कि पीछे इस के दोष छुड़ावेंगे । और वह शिष्य शीघ्र ही दोष सहित मर कर कुगति को प्राप्त होय तब गुरु क्या करे। यहां कोई कहे कि कठोर उपदेश से पापी तो दुःख पावे —:(तिसका उत्तर):— जिसको तीव्र कषायी (पापी) जानें उसको कठोर उपदेश नहीं देवैं । तहां मध्यस्थ भावना भावे है, यहां तो शिष्य को यह शिक्षा है कि श्रीगुरु भला होने के अर्थ कठोर वचन कहे हैं कुछ उनके ईर्षा प्रयोजन नहीं हैं इसलिये उन को इष्ट जान कर उन का आदर ही करना योग्य है आगे तैसी वाणी कर धर्म्म के कहने वाले और अंगीकार करनेवाले ऐसे इस काल विषे थोड़े हैं ऐसा कहे हैं :—

छन्दः—लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुञ्च सुलभाः पुरा।
दुर्लभाः कर्त्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुञ्च दुर्लभाः॥ १४४

अर्थ—पहले काल में तो दोनों लोकों विषे हितकारी ऐसा जो धर्म्म उस के कहने वाले

और सुनने वाले बहुत थे परन्तु करने वाले दुर्लभ थे। लेकिन अब इस काल विषे कहने वाले और सुनने वाले भी दुर्लभ हैं॥

भावार्थ—जो धर्म्म इस लोक और परलोक विषे जीव का भला करे ऐसे धर्म के कहने वाले और सुनने वाले पूर्व अर्थात् चौथे काल विषे घने थे परन्तु अङ्गीकार करने वाले तब भी थोड़े ही थे। क्योंकि संसार विषे धर्म्मात्मा थोड़े ही होय हैं लेकिन अब यह पञ्चम काल ऐसा निकृष्ट है कि जिस विषे सच्चे धर्म्म के कहनेवाले और सुननेवाले भी थोड़े ही जीव पाइये हैं। कहनेवाले तो अपने लोभ और मानादिक के अर्थी भये इसलिये यथार्थ कहैं नहीं। और सुननेवाले जड वक्र भए इसलिये परीक्षा रहित हठग्राही हुवे हुवे यथार्थ को सुने नहीं। सो जब कहना और सुनना ही दुर्लभ भया तो तब अंगीकार करने की क्या बात। इस प्रकार इस काल विषे धर्म्म दुर्लभ भया है सो यह न्याय ही है कि यह पञ्चम काल ऐसा निकृष्ट है कि जिस विषे सर्व ही उत्तम वस्तुओं की हीनता होती हुई चली जाय है सो धर्म्म भी तो उत्तम है इस की वृद्धि कैसे होय इसलिये ऐसे निकृष्टकाल विषे जिस को धर्म्म की प्राप्ति होय है वह धन्य है। आगे कोई यह सन्देह करे कि दोनों लोक विषे हितकारी ऐसा जो धर्म्म उस के कहनेवाले जो श्रीगुरु सो वह शिष्य के दोष प्रगट करके उन से उसको निवृत्त करें सो ऐसा करने से तो शिष्य

को अपने दोष प्रगट होने से अनिष्ट संयोग भया इस कारण से वह आर्त्तध्यानी होय कर कुछ भी भले मार्ग विषे न प्रवर्त्तै सो ऐसे संदेह के दूर करने को सूत्र कहे हैं :-

छन्दः--गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीतये ।
कृतं किमपि धार्ष्ट्यतः स्तवनमप्यतीर्थैर्षचते
न्न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता ॥ १४५

अर्थ-गुण और दोष के विवेक सहित जो सत्पुरुष हैं उन कर अपने दूषण अत्यन्त प्रगट किये हुए भी बुद्धिमान् जीवों को जैसे भला उपदेश प्रीति उपजावे तैसे अत्यन्त प्रीति के अर्थ होय हैं और धर्म्म तीर्थ के न सेवनेवाले ऐसे जीवों कर ढीठपने से कुछ किया हुआ गुणानुवाद भी उन बुद्धिमानों के मनों को संतोष नहीं उपजावे है उन को अन्यथा ही भासे है इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानता खेदकारणी ही है ॥

भावार्थ-जो जिस का हित चाहे सो जैसे उस का भला होय तैसे ही करे। इस लिये

सत्पुरुष जीव के बुरा होने का कारण जो दोष उसके छुड़ावने के अर्थ दोष भी प्रगट करे हैं। यदि यह दोषों को प्रगट न करें तो अज्ञानी जीव अपने दोषों को कैसे जानें। और विना जाने दोषों को कैसे छोड़ें। और जो जिस से अपना लोभादिक प्रयोजन साध्या चाहें सो जैसे उस को प्रसन्न होता जानें तैसे ही करें। इसलिये उस जीव के दोषों को भी ढीठपने से गुण ठहराय कर बड़ाई ही करें हैं, यदि यह बड़ाई न करें तो अज्ञानी जीवों का मान कैसे वधे क्योंकि विना मान वधाये वह उनका प्रयोजन किस लिये साधें इसलिये अधर्म्मी बड़ाई भी करे हैं और सत्पुरुष दोष भी प्रगट करे हैं, तहां मूर्ख को तो दोष कहना अनिष्ट भासे है और गुण कहना इष्ट भासे है परन्तु जो विवेकी है वह ऐसे जानें है कि जो मेरा भला होने के अर्थ मेरे दोष प्रगट करे है सो यह दोष का प्रगट करना मुझ को भली शिक्षा है ऐसे विचार कर तहां इष्टपना माने है और जो अपने प्रयोजन साधने के लिये मेरे दोषों को गुण ठहरावे हैं वह ठग हैं इन की यह बड़ाई मेरा बुरा होने का कारण है ऐसे विचार तहां अनिष्टपना माने है। इसलिये दोष कहे विवेकियों के आर्त्तध्यान होने का भ्रम न करना। आगे ऐसा कहे हैं कि दोष प्रगट किये दोष देखने से दोष का त्याग करना और गुण के देखने से गुणका ग्रहण करना यह बुद्धिमानों के करने योग्य कार्य्य है :—

छन्दः--त्यक्ताहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषांवरः॥ १४६॥

अर्थ–दूर भई हैं अन्य प्रयोजन की आवश्यकता जिन विषे और गुण दोष ही कारण हैं जहां ऐसे जो ग्रहण और त्याग जिस जीव कै पाइये सोई अज्ञानियों विषे प्रधान जानना।

भावार्थ–किसी को ग्रहण करना किसी को त्याग करना ऐसी जीवों के प्रवृत्ति पाइये है सो जहां सम्यग्दर्शनादिक गुण जिन कर निपजैं तिनका तो ग्रहण करना और मिथ्यात्वादिक दोष जिन कर निपजैं तिन का त्याग करना ऐसे गुण और दोषकी अपेक्षा लिये जिन कै ग्रहण और त्याग पाइये हैं अन्य कुछभी विषय कषायादिकका प्रयोजन न पाइये वह ही जीव उत्कृष्ट ज्ञानी जानने क्योंकि यह अपना हित साधे हैं और जो अपना हित साधना सोई बुद्धिमानों को करने योग्य कार्य्य है। आगे अन्यथा ग्रहण त्याग विषे दूषण कहे हैं॥

छन्दः–हितं हित्वा हिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम्।
विपर्य्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः॥ १४७॥

अर्थ—हे जीव तू हित को छोड़ अहित विषे तिष्टकर दुर्बुद्धि होता हुआ आप को दुःखी करे है इसलिये तू सुबुद्धि होकर उस से उलटा भाव जो अहित को छोड़ हित विषे तिष्टना तिस विषे बुद्धि को प्राप्त हो ऐसे तू आप को सुखी करेगा ॥

भावार्थ—हे जीव तैं सम्यग्दर्शनादिक हितकारी गुण रूप जो कार्य्य उस का तो त्याग किया और मिथ्यादर्शनादिक अहितकारी जो दोष रूप कार्य्य उस को ग्रहण किया सो ऐसे त्याग ग्रहण से तो तू अनादि ही से दुःखी भया है। सो तू ही अपनी अवस्था को विचार कि मैं कैसे परणमा और उस का फल मुझे क्या भया और यदि तू उस से उलटा परणमें अर्थात् गुण को ग्रहण करे दोष को तजे तो तू अवश्य सुखी होय क्योंकि कारण उलटा भये कार्य्य भी उलटा होय है जैसे जल को छोड़ अग्नि का सेवन किये आताप होय है और अग्नि को छोड़ जलका सेवन करे तो शीतलता होय है तैसे यहां भी जिन अनादि परिणामों से दुःखी भया है उन से उलटा परिणमै तो सुखी होय सो अनादि से तो गुण को छोड़ दोष को सेवन कीया इस लिये अब तुझे दोष को छोड़ कर गुण को ही ग्रहण करना योग्य है। आगे कहे हैं कि कारण सहित गुण और दोष जानने से बुद्धिमान् पुरुष क्या करे हैं ॥

छन्दः—इमे दोषास्तेषाम्प्रभवनममीभ्यो नियमितो
गुणाश्चैतास्तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः।
त्यजंस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजन्
स विद्वान् सद्वृत्तः सहि सहि निधिः सौख्ययशसोः॥१४९

अर्थ—यह जो दोष हैं सो निश्चय कर इन कारणों से उपजे हैं और यह जो गुण हैं सो इनका उपजना इन कारणों से होय है ऐसे जान कर जो पुरुष त्यागने योग्य कारणों को तो शीघ्र ही छोड़े है और हित के कारणों को ग्रहण करे है सोई जीव ज्ञानी है और सोई सम्यक्चारित्री है और सोई सुख और यश का निधान है॥

भावार्थ—जो विवेकी पुरुष है सो पहिले तो दोषोंको और गुणोंको पहचाने है फिर विचार करने से मिथ्यात्वादिक तो दोष ही भासे हैं क्योंकि यह आत्मा को दुःखी करे हैं और सम्यक्त्वादिक गुण ही भासे हैं क्योंकि यह आत्मा को सुखी करे हैं तथा दोषों के और गुणों के कारणों के पहचानने से और तहां विचार करने से कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रादिक वा विषयादिक सामग्री

यह सर्व दोषों के कारण हैं और सुदेव सुगुरु और सुशास्त्रादिक वा व्रत संयमादिक गुणों के कारण हैं ऐसा निश्चय भये तजने योग्य जे दोषों के कारण उन को तो तजे हैं और ग्रहण के योग्य जो गुणों के कारण उन को ग्रहण करे हैं। सो तहां दोष गुण और तिन के कारण इन को जो निश्चय कर जानना सो तो सम्यग्दर्शन सहित सम्यक्ज्ञान है और सर्व्व दोषों के कारणों को छोड़ कर जो गुणों के कारणों को ग्रहण करना सो सम्यक्चारित्र है ऐसे यह तीनों मिल कर मोक्षमार्ग होय है इन का फल जो मोक्ष सो प्राप्त होय है। तहां अनन्त सुख को अनुभवे है। और उस की सर्व्व प्रकार महिमा होय है। इस लिये प्रथम ही गुणों और दोषों के कारणों को जानना योग्य है। आगे ऐसा कहे हैं कि विवेकी जीव कर हित की वृद्धि और अहित का नाश यह दोनों कार्य्य करने योग्य हैं। क्योंकि विवेकी विना अन्य जीवों के वृद्धि और नाश समान हैं॥

छन्दः—साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्म्मयोगात्।
धीमान्सयः सुगतिसाधनवृद्धिनाश

स्तद्धात्ययाद्विगतधीरपरोभ्यधायि ॥ १४६ ॥

अर्थ-पूर्व्व जन्म विषे सञ्चय किये हुए पुण्य और पाप रूपी कर्म्मों के संयोग से शरीरादिक का बढ़ना और घटना तो सर्व प्राणियों के समान है परन्तु बुद्धिमान् पुरुष वह ही है कि जिस के सुगति के कारण वृद्धि और नाश पाइये हैं और निर्बुद्धि जीव वही है कि जिसको दुर्गति के साधन वृद्धि और नाश पाइये हैं ऐसा श्रीगुरु ने कहा है॥

भावार्थ-लोक विषे धनादिक की वृद्धि भये और दरिद्रादिक के नाश भये जो जीव को बुद्धिमान् मानिये है और दरिद्रादिक की वृद्धि भये और धनादिकका नाश भये जीवको निर्बुद्धि मानिये है सो यह मिथ्या है क्योंकि पूर्व उपार्ज्जित पुण्य और पाप के उदय से जो कार्य्य होयहै सो सर्व जीव के स्वयमेव होय है ऐसी वृद्धि और नाश विषे जीव का कुछ कर्त्तव्य नहीं है सो प्रत्यक्ष देखिये है कि कोई बहुत बुद्धिमान् भी दरिद्री है और कोई सर्व प्रकार मूर्ख भी धनवान् है। और एकही जीव जिस बुद्धिसे घना धनवान् भया वह ही जीव उस ही बुद्धि से निर्धन होता देखिये है इसलिये ऐसी वृद्धि और नाश विषे तो बुद्धि का कुछ भी प्रयोजन नहीं है यहां पुरुषार्थ मानना निरर्थक है। परन्तु सम्यक्तादिक धर्म्मरूप भावन की वृद्धि भये जो बुद्धि मानिये

सो सत्य है, क्योंकि ऐसी बुद्धि नाश विषे जीव का कर्त्तव्य है। जैसा अपनी बुद्धि का विचार होवे तैसा कार्य्य जीव का किया हुआ किसी ही जीव के होय है। सो प्रत्यक्ष कोई तो तिर्य्यं-चादिक भी अपनी बुद्धि से धर्म्म साधन कर स्वर्गादिक को प्राप्त होय है और कोई राजा-दिक भी निर्बुद्धि होकर अधर्म्म साधन कर नरकादिक को प्राप्त होय है। इसलिये इस ही बुद्धि नाश विषे बुद्धि का प्रयोजन जान यहां ही पुरुषार्थ करना योग्य है॥ आगे ऐसा दिखावते सन्ते सूत्र कहे हैं कि जे सुगति के साधन धर्म्म रूप भाव हैं उन की बुद्धि के कारण हारे जीव थोड़े हैं॥

छन्दः—कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनप्रदोस्त्याश्रमवताम्।
नतानामाचार्य्या न हि नतिरताः साधुचरिता
स्तपस्तेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः॥ १५०

अर्थ—इस कलिकाल विषे नीति ही दण्ड है क्योंकि दण्ड ही से न्याय मार्ग चले है और सो दण्ड राजाओं कर दिया जाय है क्योंकि राजा विना और कोई भी दण्ड देने को समर्थ

नहीं है और सो राजा धन के अर्थ न्याय करे हैं क्योंकि धन आवने के प्रयोजन विना राजा न्याय नहीं करे हैं और यह धन आश्रमी मुनियों कै नहीं पाइये क्योंकि उन का भेष धनादिक रहित है इसी कारण से भ्रष्ट भए मुनियों को राजा न्याय मार्ग विषे चलावते नहीं। और जो आचार्य हैं वह आप को विनय नमस्कारादिक करावने के लोभी होने के कारण नम्री भूत भये जो मुनि उनको न्याय मार्गविषे प्रवर्त्तावें नहीं इसलिये इस कलिकाल विषे तपस्वी जो मुनि उन विषे भी मुनि का भला आचरण जिन कै पाइये ऐसे शोभायमान उत्कृष्ट रत्नरूप मुनि थोड़े हैं॥

भावार्थ–इस पञ्चम काल विषे जीव जड़ (मूर्ख) वक्र (कुटिल, शरारती) उपजे हैं सो दण्ड के भय बिना न्याय विषे नहीं प्रवर्त्तें हैं सो दण्ड देने वाले पुरुष लोकपद्धति विषे तो राजा हैं और धर्म्मपद्धति विषे आचार्य हैं तहां राजा तो जहां धन का प्रयोजन सधै तहां न्याय करे है, सो मुनियों के धन नहीं है इसलिये राजा मुनियों को न्याय मार्ग विषे चलावें नहीं जैसे उनकी इच्छा हो तैसे प्रवर्त्तें और जो आचार्य हैं वह विनय के लोभी भए दण्ड देवें नहीं सो भय बिना मुनि स्वच्छन्द भए हैं इसलिये कोई विरला मुनि ही यथार्थ धर्म्म के साधन करनेवाला पाइये है। आगे ऐसा कहे हैं कि जो मुनि आचार्य को नहीं नमै हैं उन की आज्ञा नहीं मानें हैं और स्वच्छन्द होय प्रवर्त्तें हैं उन मुनियों की सङ्गति करनी योग्य नहीं:–

छन्दः-एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणै
रङ्गालग्न शरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः ।
सन्धर्त्तुं बिषयाटवीस्थलतले स्वान्क्वाप्यहो न क्षमाः
मावाजीन्मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान् ॥ १५१

अर्थ-हे भव्य जो मुनि स्त्रियों के कटाक्ष रूपी दृष्टियों से ग्रसे हुए अङ्ग में लगे हुए बाण से दुःखी भए हिरण के समान विषय रूपी जङ्गल के स्थल में कहीं भी अपने आपको रखने को असमर्थ व्याकुल हुए २ फिरें हैं और वायुसे उड़ाए हुए बादलों के समान चंचल हैं तौभी अपने आपको मुनि मानेहैं तू ऐसे मुनियोंकी सङ्गति मतकर क्योंकि यह यथार्थ से मुनि नहीं हैं।

भावार्थ-जैसे हिरण के अङ्ग विषे बाण लगा होय और वह उस की पीड़ा से व्याकुल हुवा हुवा कूदता फिरे कहीं भी वन भूमि विषे स्थिर रहने को समर्थ न होय तैसे ये भ्रष्ट मुनि वृथा आप को मुनि माने हैं क्योंकि इन के अन्तरङ्ग विषे तो स्त्रियों का कटाक्ष रूपी अवलोकन सोई भया काम का बाण सो लगा है सो यह उस की पीड़ा से व्याकुल हुए हुए भ्रमें हैं।

क्योंकि काम की तीव्रता कर धर्म्म साधन करना तो दूर ही रहो परन्तु देखना सूंघना सुनना इत्यादि विषयन विषे भी मन को स्थिर नहीं कर सके हैं। सो जैसे पवन कर उड़ाए हुए बादल चञ्चल होय हैं तैसे विकार भाव कर भ्रष्ट किए हुए यह भ्रष्टमुनि चञ्चल होय हैं। सो उनका तो होनहार ही ऐसा है। परन्तु हे भव्य तेरै कुछ धर्म्म वृद्धि है इसलिये तुझे शिक्षा देवें हैं ऐसे भ्रष्ट मुनियोंकी सङ्गति करेगा तो तू भी उनका साथी होई दुर्गति को प्राप्त होगा। यहां यह भाव है कि भ्रष्ट मुनियों की सङ्गति करनी योग्य नहीं है। आगे भ्रष्ट मुनियों की संगति को न पावता हुआ तू ऐसी सामग्री पाय कर याचना रहित हुवा तिष्टिऐसीसीख देते हुए सूत्र कहे हैं:—

छन्दः—गेहं गुहा परिदधासि दिशोविहायः
संयानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धिः।
प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणाः कलत्र
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम् ॥१५२॥

अर्थ—हे आगम के अर्थ को जाननेवाले प्राणी तेरा गुफा तो मंदिर है और दिशाओं को

तू पहरे है। आकाश तेरी असवारी है और तप का जो बढ़ना सोई तेरा इष्ट भोजन है और गुण ही तेरी स्त्री है इसप्रकार तू ऐसा भया की तेरीवृति याचना करने योग्य नहीं हैं अर्थात् तुझे किसी से कुछ भी मांगने की आवश्यकता नहीं है सो अब तू वृथा ही याचना करे है तुझे दीन होना योग्य नहीं है ॥

भावार्थ–लोक विषे इतनी वस्तुओं की इच्छा भए याचना करिए है । प्रथम तो धन को याचिये है सो तूने आगम का जोअर्थ सोई भया सर्व मनोरथ का साधनहारा अटूट धन सो पाया है फिर मंदिर को याचिये है सो गुफा आदि स्वयमेव बने हुए तेरे मंदिर पाइये हैं और फिर वस्त्र को याचिये है सो तू दिशा रूपी वस्त्र को पहरे है अर्थात् दिगम्बर भया है फिर असवारी को याचिये है सो आकाश रूपी असवारी तेरे पाइये है जहां इच्छा होय तहां गमन कर। फिर भोजन को याचिये है सो तप का वधना सोई तेरे तृप्ति का उपजावनहारा इष्ट भोजन है फिर स्त्री को याचिये है सो क्षमा आदि गुण वही तेरी रमावनहारी स्त्री है इस प्रकार तेरे सर्व ज़रूरी सामग्री पाइये है सो अब तुझे किस वस्तु की आवश्यकता है कि जिसके लिये तू याचना करे तेरी तो दीनता रहित सर्वोत्कृष्टवृति भई है इसलिये तू याचना रहित तिष्ट ऐसी शिक्षा तुझे दी है। आगे जो याचना करे है सो छोटा है और जो याचना न करे है सो

बडा है ऐसे दिखावते हुए सूत्र कहे हैं॥

छन्द:—परमाणोः परं नाल्पं नभसो न महत्परम्।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥१५३॥

अर्थ—परमाणु से अन्य कोई छोटा नहीं और आकाश से अन्य कोई बड़ा नहीं ऐसा कहने वाला जो पुरुष है क्या उसने दीन और अभिमानी को देखा नहीं था॥

भावार्थ—परमाणु से तो कोई छोटा नहीं और आकाश से कोई बड़ा नहीं यहां यह मालूम होय है कि ऐसा कहने वाले पुरुष ने दीन और अभिमानी को देखा नहीं क्यों कि जो दीन को देखता तो परमाणु से भी दीन को छोटा कहता और अभिमानी को देखता तो आकाश से भी अभिमानी को बड़ा कहता। यहां यह भाव है कि जो याचना करने वाला दीन पुरुष है सोधर्म्म वा मानादिक के घटने से सबसे छोटा है और याचना न करे ऐसा जो अभिमानी है सो धर्म वा मानादिक के बढ़ने से सर्व से बड़ा है —:(यहां प्रश्न):— जो दीन के मानादि घटे तहां धर्म्म कैसे नहीं और अभिमानी के मानादिक वधे तहां धर्म्म कैसे होय क्योंकि कषाय के और धर्म्म के तो प्रतिपक्षीपना पाईए है —:(ता का समाधान):— किसी कषाय की तीव्रता

करकोई कषाय घटे तो तहां धर्म्म नहीं। सो दीन के लोभ कषाय की तीव्रता कर मानादिक घटे है इसलिये इसके धर्म्म नहीं पाप ही उपजे है और मानी के सर्व कषाय घटने से भ्रम कर कोई अवस्था कषायी कैसीभी भासे तहां धर्म्म ही है सो यहां मान कषाय वाले का नाम अभिमानी नहीं है लोभ से किसीको याचै नहीं तिसका नाम अभिमानी है सो इसके सर्व कषायमंद होने से लोभ कर पापी जीवों को नमे नहीं है इसलिये भ्रम कर अभिमानी के समान भासे है परन्तु अभिमानी नहीं है इसलिये इसके धर्म्म ही है ऐसे जानकर दीनता न करनी। आगे कोई यह पूछे है कि याचक का गौरवपना कहां गया जिस कर उसके लघुपना भया है ऐसे प्रश्न का उत्तर कहे हैं।

छन्दः—याचितुर्गौरवं दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा ॥१५४॥

अर्थ—मैं ऐसा मानूं हूं कि याचक का गौरव दातार के विषे मिल गया क्यों कि ऐसा न होय तो याचना के काल विषे याचना रूप और देनें रूप हैं अवस्था जिन की ऐसे यह दोनों बड़ा और छोटा कैसे होवें।

भावार्थ—उत्प्रेक्षा अलंकार कर आचार्य्य कहे हैं कि हम को ऐसे भासे है कि पहिले

तो दोनो पुरुष समान थे फिर जिस समय यह याचक याचना करे और दातार देवे तिस समय याचक का वड़ापना निकस कर दातार विषे मिल गया इसलिये तत्काल याचक तो लघु होय है और दातार महंत होय है जो ऐसे न होय तो तिस समय याचक संकोचादि रूप कर हीन कैसे भासे और दातार प्रफुल्लितादि रूप कर महंत कैसे भासे। इसलिये दीनपना निपिद है। यहां कोई कहे है कि ऐसे है तो मुनि भी तो दान लेवे हैं। उन को भी हीन कहो। (इसका उत्तर) मुनि हैं सो याचना कर दीन होय दान नहीं लेवे हैं। जैसे कोई राजा की भेट करे तैसे भक्त पुरुष विनय से विना मांगे ही दान देवें हैं। तहां भी वह मुनि लोभ से आसक्त होय ग्रहण नहीं करें हैं इसलिये यह हीन नहीं हैं। क्योंकि जो लोभ से दीनता कर लीया चाहे सोई पुरुष हीनता को प्राप्त होय है। आगे लेनेवाले और देने वाले की गति विशेष को दिखावते हुए सूत्र कहे हैं॥

छन्दः—अधोजिघृक्षवोयान्ति यान्त्पूर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वानामोन्नामौ तुलान्तयोः॥१५५॥

अर्थ—जिन कै ग्रहण करने की इच्छा पाईए है ऐसे जे जीव हैं वह अधोगति को प्राप्त

होय हैं और जिन के ग्रहण करने की इच्छा नहीं है ऐसे जो जीव हैं वह ऊर्द्धगति को प्राप्त होय हैं सो तराजू के दोनों पलड़े तिनका नीचा ऊंचा होना मानो स्पष्ट प्रगट करे हैं ॥

भावार्थ—तराजू के दोनों पलड़े समान हैं तहां जो अन्य वस्तु ग्रहण करे सो तो नीचा होय है और जो अन्य वस्तु न ग्रहण करे सो ऊंचा होय है सो यह पलड़े ऐसे ऊंचे नीचे होते हुवे मानों यह वतावे हैं कि जैसे हमारी दशा होय है तैसे ही जो लोभ कर ग्रहण करेगा सो तत्काल ही नीचा होगा अर्थात् आगामि नरकादिक नीची गतिकों प्राप्त होगा और जो लोभ छोड़ ग्रहण न करेगा सो तत्काल भी ऊंचा रहेगा और आगामि स्वर्ग मोक्ष ऊंची गतिको प्राप्त होगा। ऐसे युक्ति करि यह प्रयोजन दिखाया है कि दीनता कर हीनता और दुर्गति होय है। इस लिये दीनता न करनी। यहां कोई पूछे कि दीनता विषे ऐसा क्या पाप है —:(तिसका उत्तर):— दीन पुरुष के लोभ कषाय ऐसा तीव्र होय है कि जिस कर अन्य कषाय भी निर्ब्बल हो जाय हैं लोक लज्जा भी मिटजाय है धर्म्म को भी गिने नहीं वहुत कहां तक कहिये जो सर्व्वोत्कृष्ट है उसका भी अपमान कराय अपना प्रयोजन साधा चाहे है इसलिये दीनता महापाप है। आगे याचकों के मनोवाञ्छित अर्थ की सिद्धि न करै ऐसा जो ईश्वरपना है उस से तो दरिद्रीपना ही भला है ऐसा दिखावते हुए सूत्र कहे हैं ॥

छन्दः—सस्वमाशासते सर्व्वे न स्वं तत्सर्व्वतर्पियत्।
अर्थिवैमुख्यसंपादि सस्वत्वान्निःस्वता वरा ॥ १५६ ॥

अर्थ—सस्व कहिये धनादिक सहित जो पुरुष हैं उनको सर्व्व ही याचे हैं और इतना धनादिक नहीं होय जो सर्व्व की तृप्ति करे इसलिये याचकों को विमुख करनेवाला ऐसा जो धन सहितपना है तिस से तो धन रहितपना ही भला है ॥

भावार्थ—कोई जानेगा कि धनवान् भए याचकों के मनोरथ पूर्ण करिये हैं इसलिये धनवान् होना भला है। सो ऐसा धनवान्पना किसी कै भी न होय कि जिस करि सर्व अर्थियों के मनोरथ पूर्ण कर सके। यहां किंचित् धनवान् पना होय है सो जब सर्व्व याचक याचना करें और उन की आशा पूर्ण होय नहीं तब वह अर्थी इस से दुःखी होय विमुख होय हैं इसलिये ऐसे धनवान् पना से निर्धनपना ही भला है क्योंकि निर्धन भए कोई भी इस की आशा न करे सो प्रत्यक्ष देखो कि धनवान् के राजा, मित्र, स्त्री, पुत्र, याचक आदि सर्व्व लागू होय हैं और निर्धन के कोई भी लागू न होय इसलिये दातार होने के अर्थ जो धनवान् होने की चाह करिए है सो योग्य नहीं है। तहां लोभ और मान की अधिकता जाननी जो स्वयमेव धनवान् हो और सर्व्व

त्याग न कर सके तो तहां दान देने में जितना लोभ का त्याग होय है उसका उतना ही भला होय है। इस लिये उस को दान देना कहा है। आगे जो धनवान् को याचे हैं उन की आशा रूपी खान कैसी अगाध है सो कहे हैं॥

छन्दः--आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या।
सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम्॥ १५७॥

अर्थ-हे जीव जो तेरे आशा रूपी खान निधियों से भी अत्यन्त अगाध थी अर्थात् जो ऐसी गहरी थी कि जिसका भरना असम्भव था सो भी जिस धन से पूर्ण होगई सो वह तेरे पास तेरा मान रूपी अधिक धन है॥

भावार्थ-धनादिक की जो वांछा उसका नाम आशा है सोई भई खान सो नव निधियों से भी अथाह है क्योंकि निधियों में से धनादिक काढ़ने से निधान नहीं टूटता परन्तु कदाचित् उन का तो थाह आवे। लेकिन इस आशा रूपी खान विषे जो धनादिक की वांछा पाइये है। इस का थाह ही नहीं है क्योंकि नवनिधि मिले भी आशा बढी ही रहे है, इसलिये यह निश्चय भया कि निधियों से भी इस के अथाहपना है। और हे प्राणी जो तेरे यह सन्तोष वृत्ति कर

याचनादि रूप नम्रता न पाइये है इसी का नाम मान है और मान का परिमाण इतना बड़ा है, कि जिस कर ऐसी आशा रूपी खान भी भर जाय है। अर्थात् पूर्वोक्त मान रूपी धन भये आशा की अधिकता का अभाव होय है इसलिये नवनिधियों से भी मान रूपी धन को बड़ा जान सन्तोष रूप होय धनादिक के अर्थ याचना करनी योग्य नहीं। क्योंकि आशा मेटने के अर्थ धनादिक याचिये हैं सो जब निधियों के मिलने से भी आशा न मिटे तो फिर स्तोक धनादिक के अर्थ नम्री भूत होना योग्य नहीं ऐसे परिणामों कर आशा का अभाव होय है। इसलिये ऐसाही परिणाम उपादेय है। आगे कहे हैं कि आशा रूपी खान मान रूपी धन से कैसे पूर्ण होय :-

छन्दः—आशाखनिरगाधेयमधःकृतजगत्त्रया।
उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता॥ १५८

अर्थ—यह आशारूपी जो खान है सो अथाह है। कैसी है यह खान नीचे कीए हैं तीनभवन जिसने। सो तिस आशारूपी खान विषे जो धनादिक विद्यमान हैं सो यह बड़ा आश्चर्य है कि सत्पुरुष उस आशा रूपी खान से उन धनादिकों को काढ़ काढ़ कर उस खांन को पूर्ण करे हैं॥

भावार्थ—जैसे पाषाणादिक की खान से पाषाणादिक काढ़ कर उस खान का अन्य

भूमि समान बराबर करना ही कठिन देखिये है। तैसें यह बड़ा आश्चर्य है कि जिसने तीन लोक तो अपने नीचे किये हैं अर्थात् तीन लोक की सम्पदा से भी आशा पूर्ण नहीं होय है। इसलिये आशा अत्यन्त बड़ी है। सो ऐसी आशा रूपी जो अथाह खान उस में तिष्टते पदार्थों को काढ़ काढ़ कर सत्पुरुष उसे पूर्ण करे हैं। यहां यह मतलब है कि आशा विषे अनेक पदार्थों की वांछा पाइये है। तहां जो सत्पुरुष है वह त्याग भाव कर सर्व वाञ्छा को छोड़ आशा को मिटाय समान भाव जो बीतराग भाव तिस रूप प्रवर्ते है। आगे निर्ग्रन्थ महाव्रती मुनियों के परीग्रह के त्याग से आशा का अभाव दिखावते सन्ते दो छन्द कहे हैं:–

छन्दः–विहितविधिना देहस्थित्यै तपांस्युपबृंहय
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं क्वचित् कियदिच्छति।
तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः
कथमयमहो गृह्णात्यन्यान्परिग्रहदुर्ग्रहान् १५९॥

अर्थ–मुनि तप को बधावता हुआ शरीर की स्थिति के लिये योग्य विधिकर गृहस्थियों

से भक्ति कर दिये हुए किञ्चित् मात्र भोजन को किसी काल विषे जो वांछे है सो भी इस महात्मा मुनि के अतिशय कर लज्जा का कारण है तो यह महात्मा मुनि अन्य परिग्रह को फिर कैसे ग्रहण करे अर्थात् सर्वथा ग्रहण न करै॥

भावार्थ—जो कोई अज्ञानी पुरुष मुनि कै भी किञ्चित् परिग्रह का ग्रहण माने तो उस को समझाइये है। कि मुनि कै अन्य सर्व आशा का अभाव भया है एक केवल आहार की वांछा पाइये है। सोभी शरीर रखने के लिये है क्योंकि बिना आहार मनुष्य का शरीर रहे नहीं। सो शरीर को भी तप के अर्थ रक्खें है। क्योंकि मनुष्य शरीर बिना तप नहीं हो सके है इसलिये भोजन कर शरीर को रख तप ही को बधावे है। प्रमादी नहीं होय है। और आचार शास्त्र विषे जैसी विधि वर्णन करी है तैसे ही आहार मिलै तो ग्रहण करे है आसक्त होयकर सदोष आहार को ग्रहण नहीं करे है। सो भी गृहस्थियों कर दिया हुआ आहार ग्रहण करे है। आप न बनावे है वा अदत्त नहीं ग्रहण करे है केवल भक्ति कर दिये हुए आहार को ग्रहण करे है। याचना कर दातार को दबाय कर नहीं ग्रहण करे है। सो ऐसे आहार को भी नित्य ग्रहण नहीं करे है योग्य काल विषे वा किसी उपवास के पारणे में ग्रहण करे है। सो भी सम्पूर्ण उदर भर आहार नहीं करे है। कुछ थोड़ा सा भोजन करे है ऐसे आहार के करने पर

भी महन्त मुनि कै लज्जा उपजे है सो जब ऐसे कार्य्य विषे भी जिस के लाज होय तो तब धन वस्त्रादिक दुष्ट परिग्रह जिन का तीव्र राग विना ग्रहण न होय तिन का ग्रहण कैसे करे सर्वथा न करे है, क्योंकि जिनागम विषे लंगोटमात्र परिग्रह राखे भी अणुव्रती ही कहा है अधिक परिग्रह होते मुनिपना कैसे मानिये। इसलिये मुनि कै वस्त्रादिक परिग्रह मानना मिथ्या है॥

छन्दः--दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदत्राशनं
गृह्णन्तः स्वशरीरतोपि विरताः सर्वोपकारेच्छया।
लज्जैषैव मनस्विनां ननु पुनः कृत्वा कथं तत्फलं
रागद्वेषवशीभवन्ति तदिदं चक्रेश्वरत्वं कलेः १६० ॥

अर्थ–इस मुनिधर्म्म विषे गृहस्थी तो दातार है और देने योग्य भोजन मात्र ही धन है और आप सर्व उपकार की इच्छा कर उस भोजन को ग्रहण करने वाले अपने शरीर से भी विरक्त हैं ऐसी जो क्रिया होय है सो भी बुद्धिमानों के लज्जा दायक है सो यह बड़ा आश्चर्य है कि मुनि उस भोजन को भेष का फल जान कर राग द्वेष के वशीभूत होय है। सो यह कलि-

काल का चक्रवर्त्तिपना है॥

भावार्थ—गृहस्थी तो अपनी भक्ति से दातार होय और मुनि पात्र होय और भोजनमात्र धन ही का दान है, अन्य धनादिक का दान नहीं है सो तिस को भी मुनि जैसे अपना वा दातार का वा अन्य जीवन का सर्व प्रकार भला होय तैसे ग्रहण करे है ऐसा नहीं है कि आहार लेकर प्रमादी होय अपना बुरा करे वा दातार की कषाय उपजाय उसका बुरा करे वा अन्य जीवन के दोषों का कारण होय उन का बुरा करे सो आहार ले तो भी अपने शरीर से विरक्त रहे है। और जाने है कि यह मुझे इष्ट नहीं है परन्तु इस कर तप साधन करना है इसलिये जैसे शरीर नष्ट न होय तैसे थोड़ा नीरस आहार करना स्वादादिक के लोभसे आहार नहीं करे है ऐसे मुनि आहार को ग्रहण करे है सोभी मुनि के लाज उपजावे है। आहार लेने से संकोच उपजे है आप की हीनता माने है। सो यह बड़ा आश्चर्य्य है कि इस कलिकाल में आहार के अर्थ ही मुनिपना अंगीकार करे हैं। इस भेष कर आजीविका की सिद्धि करें हैं। सो हमको ऐसे भासे है कि यह इस कलिकाल के चक्रवर्त्तिपने की महिमा है। जैसेचक्रवर्त्ति अपने क्षेत्र के वासी जो देवादिक तिन विषै भी आज्ञा मनावै तैसे यह कलिकाल अपनी मर्य्यादा विषै उपजे जो मुनि उन विषै भी विपरीतपनां प्रवर्त्तावे है। यहां कोई कहे कि यदि यह काल का

दोष है तो इस काल विषे ऐसे ही मुनि मानो -:(तिसका उत्तर):- जैसे कलिकाल विषे अन्याय प्रवर्त्ते है तो उस को न्याय तो न मानना परन्तु यह जानना कि यह अन्यायकी प्रवृत्ति काल के दोष से है तैसे ही कलिकाल विषे जो भ्रष्ट भेषधारी प्रवर्त्तें हैं उनको मुनि तो न मानना परन्तु यह जानना कि ऐसे भेष की प्रवृत्ति काल के दोष से हुई है जैसे लोक विषे यह कहावत है कि यह कार्य्य दुष्ट के उदय से भया है सो इसकी दुष्टवत् निन्दा जाननी। तैसे इस प्रकरण में यह कार्य्य कलिकाल से भया है तो कलिकालवत् तिस कार्य्य की निन्दा करी है, इस लिये जो मुनि भेष धर भोजनादिक के अर्थ रागी द्वेषी होय हैं उन की निन्दा करने के अर्थ यहां कलिकाल की महिमा कही है। आगे आहारादिक की लम्पटता को दूर करते हुये कर्म्म को निर्मूल करने का उपदेश देवे हैं :-

छन्दः—आमृष्टं सहजं तव त्रिजगतीबोधाधिपत्यं तथा
सौख्यं चात्मसमुद्भवं विनिहतं निर्मूलतः कर्म्मणा।
दैवात्तद्विहितैस्त्वमिन्द्रियसुखैः सन्तृप्यसे निस्त्रपः

स त्वं यच्चिर यातनाकष्टप्नैर्बद्धास्थितिस्तुष्यसि १६१

अर्थ–हे जीव कर्म्मं ने तेरा स्वाभाविक जो तीन जगत् का ज्ञान उस का जो स्वामित्वपना सो नष्ट किया और तैसे ही आत्म जनित जो सुख उस को भी मूल से नष्ट किया है। सो तू निर्लज्ज हुवा हुवा जो दीनपने से उन कर्म्मों कर निपजाये हुए जो इन्द्रियों के सुख उन में तृप्त होय है और चिरकाल तक उपवासादिक कष्ट सह कर भी पीछे से मिले जो कुत्सित नीरस आहार उन से अपना निर्वाह करता हुवा सन्तुष्ट होय है॥

भावार्थ–जैसे किसी बड़े राजा को कोई वैरी राज से भ्रष्ट करे और वह राजा दीन हो उस ही का दीया जो किञ्चित् भोजनादिक उससे प्रसन्न होय। तहां तिस को निर्लज्ज कह कर धिक्कार दीजिये है तैसे ही हे जीव तू अनन्त ज्ञान सुख का स्वामी महन्त पदार्थ है सो ऐसे तेरे अनन्त सुख का नाश कर उस कर्म्म वैरी ने तुझे भ्रष्ट किया है और तू तो दीन होय उस कर्म्म वैरी के उदय से निपजाये हुए किञ्चित् विषय सुखों में संतुष्ट होय है। इस लिये हे निर्लज्ज तू धिक्कार देने योग्य है और जैसे उस राजा को वैरी का दिया भी महा कष्ट से बुरा भोजनादिकमिले और तहां वह राजा संतुष्ट होय तो बहुत ही निंद्य है तैसे ही हे भ्रष्ट मुनि

तेरे कर्म्म का दीया भी बहुत सुख नहीं । घनें उपवासादिक कष्ट सहे तब गृहस्थी के घर से जैसा तैसा आहार मिले और तहां तू अपनी आजीवका की स्थिरता भई मान कर संतुष्ट होय है इसलिये तू बहुत निंद्य है। और जैसे उस राजा को अपने वैरी के नाश करने का उपाय करना योग्य है तैसे तुझे भी कर्म्म का नाश ही करना योग्य है विषयासक्त होना योग्य नहीं। आगे ऐसा कहे हैं कि यदि तेरे इन्द्रिय सुख की ही अभिलाषा है तो तू धीरज धारण कर तुझे अधिक इन्द्रियों के सुख मिलेंगे :—

छन्दः—तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशये:॥१६२॥

अर्थ—हे भिक्षुक मुनि तेरे यदि विषय भोगों की वांच्छा है तो थोड़ा सा सहनशील हो अर्थात् कुछ देर सबर कर वह भोग स्वर्ग विषे हैं। रे मूर्ख पकते हुए भोजन को देख कर जलादिक ही को पीकर क्यों भोजन का नाश करे है॥

भावार्थ—जैसे कोई भूखा मूर्ख पकते हुए भोजन को देख कर जब तक भोजन पके तब तक धैर्य न धरे अर्थात् इतना काल भूख न सहे और कुछ भोजन सम्बन्धी जलादिक ही

को पी कर भोजन का नाश करे तैसे ही रे मूर्ख तू विषयों का ऐसा अभिलाषी भया है कि धर्म्मसाधन से जो थोड़े ही काल में मनुष्य की आयु पूर्ण भए पीछे स्वर्ग का सुख मिले है जहां अत्यन्त विषय सुख पाइये है सो जब तक मनुष्य का आयु पूर्ण होय तब तक अपनी विषय वांछा को रोक कर धीरज न धारे है। और कुछ सदोष भोजनादिक विषय ही को सेव कर स्वर्ग सुख का नाश करे है। सो ऐसा कार्य्य तुझ को करना योग्य नहीं। जो भोगों ही की वांछा है तो थोड़ा काल धैर्य्य रख कर धर्म्म साधन कर तिस से स्वर्ग विषे बहुत विषे मिलेंगे यद्यपि विषयाभिलाषी होना योग्य नहीं तथापि यहां भ्रष्ट होते हुवे जीव को लोभ दिखाय स्थिर किया है ऐसा भाव जानना। आगे यह दिखावे हैं कि कर्म्म मुनियों का कुछ भी नहीं कर सकता:—

छन्दः—निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्॥ १६३

अर्थ—जिन कै निर्धनपना तो धन है मरणा जीवितव्य है और ज्ञानही है एक नेत्र जिन का ऐसे जो सत्पुरुष हैं उन का विधाता जो कर्म्म है सो कुछ भी नहीं कर सकता॥

भावार्थ—जो महामुनि ज्ञान नेत्र कर यथार्थ पदार्थों को अवलोके हैं तिन के धनादि

रहित जो निर्ग्रन्थ पना सोई धन है। जैसे अन्य जीव धन से सुखी होय तैसे मुनि निर्ग्रन्थपन से सुखी होय है और उनके मरना सोई जीवना है जैसे अन्य जीव प्राण धरने से सुखी होय हैं, तैसे यह मुनि इन्द्रियादिक प्राण छूटने से सुख माने हैं ऐसे जो मुनि हैं तिन का कर्म्म क्या करे अर्थात् कुछ भी कर सकता नहीं क्योंकि कर्म्म का तो वश इतना ही है कि जब यह अनिष्ट रूप प्रवर्त्ते तब निर्धनपना वा मरण होय है सो इन से तो मुनि दुःखी होय ही नहीं। इस लिये इन का कर्म कुछ भी नहीं कर सका। आगे कहे हैं कि यदि ऐसे है तो विधाता कर्म्म किस को अपना विधातापना दिखावे है :—

छन्दः—जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां येषां आशा निराशता॥१६४

अर्थ—जिन के जीवने की और धन की आशा है उन के ही कर्म्म विधाता है। और जिन की आशा ही नष्ट भई उन का विधाता क्या कर सकता है, अपितु कुछ भी नहीं कर सकता॥

भावार्थ—यहां विधाता नाम कर्म्म का है सो जो अज्ञानी जीव पाप रूपी जीवने की और धन को चाहे हैं उन के जो कर्म्म है सो कार्य्य निपजावने को समर्थ होता हुवा विधाता नाम

धरावे है वह जीव कर्म्म से डरे हैं ताकि हमारा मरण मत होवे। हमारे निर्धनपना मत होवे ऐसी आशा से कर्म्म उन को दुःखी करे है। और जिन की आशा का नाश भया और धनादिक को भी छोड़ बैठे। और मरण के कारणों के सन्मुख भये हैं उन का कर्म्म कुछ नहीं कर सके है यह मुनि कर्म्म से नहीं डरे हैं मरण होवे तो होवे पर्य्याय छोड़ने का भय नहीं है। और निर्धनपना को निराकुलता का कारण जानकार स्वाधीनपने से ही धनादिक को छोड़े हैं सो जिन की ऐसे आशा छुटी है उनको कर्म्म कैसे दुःखी करे अपितु मोह हीन भये कर्म का उदय होना अथवा न होना समान है अर्थात् आत्मा को दुःखी करने रूप कार्य्य का कर्त्ता न होय है। आगे कोई तो बड़े राज्य को छोड़ आशा का नाश करे है और कोई तप को छोड़ राज्य को अंगीकार करे है तिन का फल दिखावते हुए दो श्लोक कहे हैं :–

छन्दः—परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपोविषयाशया ॥ १६५ ॥

अर्थ–दो पुरुषोंकी सबसे बढ़ कर क्रमसे स्तुति और निन्दा होयहै एक तो वह जो चक्रवर्त्ति पने को छोड़ तप को अंगीकार करे है और दूसरा वह जो तप को छोड़ विषय सेवन करे है ॥

भावार्थ—इस लोक विषे कितने ही जीव तो स्तुति योग्य हैं और कितने ही जीव निन्दा योग्य हैं उन सब में जो चक्रवर्त्ति पद को छोड़ कर मुनिपद को धारे है वह तो सर्व्वोत्कृष्ट पने स्तुति करने के योग्यहै। क्योंकि प्राप्त भए चक्रवर्त्तिपने की संपदा को छोड़ कर मुनिधर्म्म रूप दुर्द्धर तप को आचरे है इसलिये इस की महिमा सर्व में उत्कृष्ट पने स्तुति करने योग्य है। और जो ग्रहण कियेहुवे मुनिपद को छोड़ कर विषयों की वांछा से राज पद को अङ्गीकार करे है, सो सर्व्वोत्कृष्टपने निन्दा करने योग्य है। क्योंकि छोटी भी प्रतिज्ञा भङ्ग किये भी बहुत निन्दा होय है सो इसने तो मुनिपद अङ्गीकार कर भङ्ग किया है इसलिये इस का भ्रष्टपना उत्कृष्ट पने निन्दा करने योग्यहै। यहां कोई यह कहे कि निन्दा किसी की भी करनी योग्य नहीं –:(तिसका उत्तर):– ईर्षा कर द्वेष बुद्धि से निन्दा करनी योग्य नहीं है, लेकिन पाप आचरण को बुरा जतावने के लिये निन्दा करने में दोष नहीं है क्योंकि ऐसे न होय तो पापी जीवों की निन्दा शास्त्रों विषे किसलिये करियेहै :–

छन्दः—त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं
सुखमनुपमं स्वोप्तं (त्थं) नित्यं ततोन तदद्भुतम्।

इदमिह मद्दच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ॥ १६६

अर्थ–क्योंकि तप का फल अनौपम्य आत्मजनित शाश्वत सुख है। इसलिये यदि चक्रवर्त्ति राजा तप करने के लिये अपने चक्रवर्त्ति पद को छोड़ दे तो कुछ आश्चर्य की वार्ता नहीं है परन्तु इस लोक विषे यह बड़ा आश्चर्य है कि सुबुद्धि होकर भी कई पुरुष छोड़े हुवे विषय रूप विष को फिर भोगने के अर्थ महान् तप को छोड़े हैं॥

भावार्थ–इस लोक विषे विशेष सुख के लिये बहुत से जीव जो किञ्चित् सुख को तजे हैं सो यह त्याग कुछ आश्चर्यकारी नहीं है लेकिन जो सर्व्वथा दुःख दायक विष को छोड़ कर फिर उस के खाने के अर्थ बड़े पद को छोड़े हैं सो यह बड़ा आश्चर्य है इसलिये जो यहां भी मोक्ष सुख के अर्थ चक्रवर्त्ति अपने चक्रीपद को छोड़े तो क्या आश्चर्य है लेकिन सर्व्वथा दुःख दायक जो विषय उनको छोड़ कर फिर उन के सेवने के अर्थ त्रिलोक पूज्य मुनि पद को छोड़े तो यह बड़ा आश्चर्य है। ऐसा अनर्थ कैसे बने। आगे तप तजने वालों का फिर आश्चर्य करते हुए सूत्र कहे हैं :–

छन्दः—शय्यातलादपि तुकोपि भयं प्रपाता-
तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडाम्।
चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गा
द्धीमान्स्वयं न तपसः पतनाद्बिभेति ॥ १६७ ॥

अर्थ—बालक भी अपने तांई पीड़ा होती जान कर ऊंचे शय्यातल से पड़ने मे डरे है। परन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि बुद्धिमान् पुरुष तीन लोक के शिखर समान अतिशय कर ऊंचा जो तप उस से भी गिरने से नहीं डरे है॥

भावार्थ—बालक जो विचार रहित है वह भी थोड़ी सी ऊंची जो शय्या तिस से पड़ने से भयवान् होय है उस कै भी इतना विचार है कि यहां से पड़ने पर मेरै पीड़ा उपजेगी। और यह जो तप है सो तीन लोक के शिखर समान ऊंचा है। क्योंकि तीन लोक के जीव तप को बड़ा पूज्य माने हैं। इस लिये इस को ऊंचा जानना सो यह बडा आश्चर्य है कि यह मुनिलिंग का धारी विचारवान् होने पर भी इस तप से भ्रष्ट होता हुआ भय नहीं करे है। आप ही भ्रष्ट होय

है इतना नहीं विचारे है कि मुझे इस तप से भ्रष्ट होने पर इस लोक विषे तो हास्यादिक रूप पीड़ा होगी और पर लोक विषे चिरकाल पर्य्यन्त नरक निगोदादिक के दुःख भोगने पड़ेंगे। देखो लोक विषे तो ऊंचा पद पाकर पीछे पराधीनपने से भी नीचा होने से लज्जा उपजे है तहां अपघातादिक करना विचारे है परन्तु यह ऐसा निर्लज्ज भया है कि मुनि पद सारिखा ऊंचा पद पाकर भी आप ही स्वाधीन भ्रष्ट होय कर नीचा होय है। सो ऐसा असम्भव कार्य देखने से कैसे आश्चर्य न होय अपितु होय ही होय। यहां आश्चर्य कहने का यह भाव है कि भ्रष्ट होता हुआ मुनि मुनियों की लोकरीति को उलङ्घन कर निन्दा का स्थान भया है। आगे ऐसा कहे हैं कि जिस तप कर महापाप का नाश होय है तिस तप को भी नीच पुरुष मलिन करे हैं :-

छन्दः—विशुद्धाति दुराचारः सर्व्वोऽपि तपसः ध्रुवम्।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरोपरः॥ १९८॥

अर्थ—जिस तपकर सर्व्व ही कियाहुआ जो दुराचार है सो शुद्ध होयहै अर्थात् नष्ट होय है परन्तु जैनमत से बाह्य सर्वसे निकृष्ट ऐसा जो निन्द्य जीवहै सो तिस तपको भी मैला करे है॥

भावार्थ–जैसे जल कर मल धोइये है सो जो धोवने का कारण जो जल उस ही में मल मिलावे तो उस को नीच कहिये। तैसे तप कर पाप दूर होय है सो बहुत पापी भी होय और तप करै तो पाप को दूर करै। परन्तु जो पाप दूर करनेका कारण तपहै उस विषे ही पाप लगावे तो वह सर्वोत्कृष्ट नीच है। यहां यह भाव है कि जो पापही करता है वह तो नीच ही है परन्तु पाप मेटने का कारण जो मुनिलिंग धारे और उस विषे दोष लगावे सो उत्कृष्ट नीच है, सो अन्यत्र भी ऐसा न्याय है कि अन्य स्थान विषे किया जो पाप सो धर्म्मस्थान विषे दूर होय है परन्तु धर्म्मस्थान विषे किया जो पाप वह कहां दूर होय अर्थात् वह वज्रलेप समान होय है इस लिये गृहस्थपद का उपजाया पाप तो मुनि पद विषे दूर होय। परन्तु मुनि पद विषे किया जो पाप सो कहां दूर होय अपितु नहीं होयहै वह वज्रलेप समान होय है। ऐसे निश्चय कर मुनिलिंग विषे दोष लगावना योग्य नहीं। आगे आश्चर्य्य के बहुत कारण हैं परन्तु तिन विषे तप को छोड़ने वाले के अति आश्चर्य्य के कारणपना को दिखावते हुए सूत्र कहे हैं :–

छन्दः–सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किन्तु
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः।

पीत्वामृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः
संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति ॥ ९९ ॥

अर्थ– तीन जगत विषे सैंकड़ों कौतूहल पाइये है परन्तु इन विषे हम को तो यह ही कार्य्य हो अत्यंत आश्चर्य्य उपजावन हारे है एक तो वह भाग्यहीन पुरुष जो अमृत पीकर उस को वमै है। और दूसरा वह जो संयम रूप निधि को पाकर छोड़े है॥

भावार्थ–जहां असम्भव कार्य्य भासे तहां आश्चर्य्य मानिये है। सो लोगों को तो अनेक कौतुक रूप कार्य्य आश्चर्य्य उपजावै है। परन्तु हम को तो इन दो कार्य्यों ही का आश्चर्य्य है कि एक तो वह कि जिस ने महाभाग्य से ऐसा अमृत पान करके कि जिस से फिर जरादिक रोग न होय उस को वमे और दूसरा वह कि जिस के कोई काल लब्धि से ऐसा संयम निधान का ग्रहण हुआ कि जिस कर जन्म मरणादि दुःख का नाश होय फिर उस को छोड़े सो यह बड़ा आश्चर्य्य है। यहां जो दो आश्चर्य्य कहे हैं उन में पहिला तो दृष्टान्त रूप है दूजा दार्ष्टान्ति रूप जानना। जैसे अमृत पान कर उसका वमन करना विपरीत है तैसे संयम ग्रहण कर उस का त्याग करना विपरीत है। इस लिये विवेकी पुरुष ऐसा कार्य्य

नहीं करे हैं। आगे उस पूर्वोक्त कारण से जो संयम निधान को नहीं छोड़ते ऐसे जो विवेकी जीव हैं वह सर्व्व परिग्रह का त्याग कर रागादिक को निर्म्मूल से नाश करने के अर्थ यत्न करो। ऐसी सीख देते हुए कहे सूत्र हैं :—

छन्दः—इह विनिहितबह्वारम्भवाह्योरुशत्रो
रुपचितनिजशक्तेर्नापरः कोऽप्यऽपायः।
अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः
कुरु तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥ १७० ॥

अर्थ—इस मुनिलिंग विषे नाश किये हैं वहुत आरम्भादि पापकर्म्म रूप वाह्य वैरी जिस ने और बढ़ाई है अपनी शक्ति जिसने ऐसा जो तू सो तेरै और कोई भी दूसरा नाश करने वाला विघ्न नहीं रहा परन्तु अन्तरंग वैरियों के नाश करने का अभिलाषी होकर भोजन करना सोना, चलना, तिष्टना इत्यादि क्रियाओं विषे सावधान हुआ २ तू अपनी रक्षा कर यह हमने शिक्षा दी है॥

भावार्थ–जैसे राजाओं के शत्रु दो प्रकार के होय हैं। एक तो वहिरंग और एक अन्तरंग तहां जो अन्य राजादिक अपने स्थान से वाह्य हैं वह तो प्रगट वैरी वहिरंग शत्रु है और जो खान पानादिक के साधक किंकरादिक अपने पास में रहैं हैं वह अन्तरंग शत्रु हैं। तहां जो राजा अपने वहिरंग शत्रुओं का नाश करे उस के राज भ्रष्ट होने का कारण नहीं। परन्तु जो खान पानादि क्रियाओं विषे मावधान नहीं प्रवर्त्तै तो अन्तरंग शत्रुओं कर वह राजा मरण को पावे इसलिये अन्तरग शत्रुओं से भी जैसे अपनी रक्षा हो सके तैसे अपने खान पानादि क्रियाओं विषे सावधान रहना योग्य है। तैसे मुनियों के शत्रु भी दो प्रकार के हैं। एक तो वहिरग और एक अन्तरंग। तहां जो हिंसादिक रूप आरम्भादिक अपने मुनिलिङ्ग से वाह्य प्रगट विपरीत भासें वह तो वहिरंग शत्रु हैं। और जो खान पानादिक क्रियाओं विषे रागादिक प्रमाद रूप मुनि लिंग विषे विपरीत भाव सो अन्तरंग शत्रु हैं। तहां जो मुनि वहिरग आरम्भादिक का त्याग करे उसके मुनि पद भ्रष्ट होने का कारण रहा नहीं परन्तु जो खान पानादिक क्रियाओं विषे प्रमादी होय अर्थात् सावधान न प्रवर्त्तै तो अन्तरंग रागादि भावों कर मुनि पद का नाश करे इस लिये अन्तरग रागादि शत्रुओं से भी जैसे अपने मुनिपद की रक्षा होय तैसे खान पानादिक क्रियाओं विषे सावधान रहना योग्य है। यहां यह भाव है कि वाह्य आर-

स्नानादिक ही का त्याग कर निश्चिंत न होना। मुनि लिंग विषे खान पानादिक क्रिया शेष रही हैं तहां भी रागादिक न करना। आगे कहे हैं कि मन को रोकने से आत्मा की रक्षा और रागादिक का नाश होय है इस लिये मन को रोकना योग्य है :-

छन्दः—अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम् १७१

अर्थ—अहो बुद्धिमान् इस मन रूपी वन्दर को सदाकाल शास्त्र रूपी वृक्ष विषे रमाओ कैसा है यह शास्त्र रूपी वृक्ष अनेकान्त स्वरूप जो आत्मा रूपी पदार्थ वही भए फूल और फल उनके भार से अतिशय कर नीचे को झुका हुवा है और वचन रूपी पत्तों से भरा हुआ है और फैली हुई नय रूपी सैंकड़ों डालियों कर सयुक्त है भले प्रकार ऊंचा है और अच्छे विस्तार वाली बुद्धि इस की जड़ है॥

भावार्थ–यहां कोई यह कहे कि मन तो वन्दर के समान चञ्चल है। जो सावधान रहने पर भी रागादि रूप परिणमे तो क्या करिये उस को समझाइये है जैसे वन्दर खाली रहे तो कुछ न कुछ विगाड़ ही करे है इसलिये उस को यदि वृक्ष विषे रमा दीजिए तो अपना भी विगाड़ न करे और वह भी प्रसन्न रहे तैसे ही मन जो निरालम्ब रहे तो रागादि रूप प्रवर्त्तै ही प्रवर्त्तै इसलिये उसको यदि शास्त्राभ्यास विषे लगा दीजिये तो रागादि रूप न प्रवर्त्तै और प्रसन्न भी रहे। यहां वाह्य शास्त्रों का पठन पाठन करना उस ही का नाम शास्त्राभ्यास न जानना वल्कि शास्त्र के अनुसार स्वरूप ध्यानादिक करना सो भी शास्त्राभ्यास ही है। क्योंकि शुक्लध्यान विषे भी वितर्क सहित ध्यान कहा है सो वितर्क नाम श्रुत का है, इसलिये जवतक केवलज्ञान न होय तव तक शास्त्र विषे ही मन लगा कर रागादिक को हीन करिये है सो यह शास्त्र मन वन्दर के रमावने को वृक्ष समान कहा। जैसे वृक्ष विषे सारभूत फूल फल होय हैं उस के भार कर यह झुके है तैसे शास्त्र विषे सारभूत जो स्याद्वाद रूप अर्थ उन को अतिशय कर ग्रहण करिये है और जैसे वृक्ष में पत्ते होय हैं उन कर सघन शोभे है तैसे ही शास्त्र विषे युक्ति वाले वचन पाइये हैं उन कर भरा हुवा शोभे है और जैसे वृक्ष विषे जो डाली होय हैं उन के आश्रय पत्र फूल फल पाइये हैं तैसे शास्त्र विषे अनेक नय हैं तिन के आश्रय वचन रचना वा अर्थ निरूपण

करिये है। और जैसे वृक्ष ऊंचा शोभे है तैसे त्रिलोक पूज्य शास्त्र सर्व से ऊंचा शोभे है। और जैसे वृक्ष के जो विस्तार रूप जड़ होय सोई कारण भूत है तैसे शास्त्र के विषे विस्तार लिये जो बुद्धि पूर्वक अर्थ सोई कारण भूत है। ऐसे वृक्ष समान शास्त्र विषे मनरूपी बन्दर को रमावो। आगे कहे हैं कि शास्त्ररूपी वृक्ष विषे मन को रमावता जीव ऐसे तत्व को भावे :—

छन्दः—तदेव तदऽतद्रूपं प्राप्नुवन्न विरंस्यति।
इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित्सदा॥ १७२

अर्थ—समस्त तत्त्वों का जानन हारा जो ज्ञानी जीव है सो अनादि निधन समस्त जीवादि तत्वों को ऐसा चिन्तवे है कि यह वस्तु विवक्षित (कहने योग्य) स्वरूप को और उस से प्रतिपक्षी (उलटे) स्वरूप को प्राप्त होता हुआ नाश नहीं होय है॥

भावार्थ—शास्त्र के अभ्यास करने वाला जो ज्ञानी जीव है सो केवल व्याकरण अलंकारादिक शास्त्रों विषे ही मन को नहीं रमावे है बल्कि ऐसे वस्तु स्वरूप को चिन्तवे है कि एक कोई जीवादिक वस्तु है सो नित्य भी है और अनित्य भी है सत्तारूप भी है, असत्तारूप भी है एक भी है अनेक भी है इत्यादि, तिस रूप भी है। और तिस रूप नहीं भी है। इस

लिये ऐसे भाव को प्राप्त होते हुए जो जीवादिक वस्तु हैं सो नाश को प्राप्त नहीं होय हैं अपने स्वभाव रूप रहे हैं। ऐसे ही अनादि निधन समस्त जीवादिक पदार्थ पाइये हैं और ऐसे ही शास्त्र द्वार कर तत्वज्ञानी जीव चिंतवे है। सो ऐसे चितवन करने से वस्तु का यथार्थ स्वरूप भासे है तिस से सम्यग्दर्शनादिक को पाय कर अपना कल्याण करे है। आगे यदि कोई यहां यह आशंका करे कि ऐसा ज्ञान तो भ्रमरूप होगा उस का भ्रम दूर करने को सूत्र कहे हैं :-

छन्दः—एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम्।
अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः ॥ १७३ ॥

अर्थ—एक ही वस्तु एक ही काल विषे ध्रौव्य अर्थात् कायम उत्पाद अर्थात् पैदा हुई हुई व्यय अर्थात् नष्टरूप सधे है क्योंकि यदि ऐसे न हो तो एक ही वस्तु में यह प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से अखण्डित दो विरुद्ध प्रतीतियें "कि यह अन्य है" और "यह वही है" कैसे सधैं॥

भावार्थ—यदि एक ही वस्तु को एक ही की अपेक्षा से ऐसे कहिये कि यह तिस रूप है और तिस रूप नहीं भी है तो यह भ्रम है। परन्तु अन्य २ अपेक्षा से कहिये तो विरोध नहीं। जैसे किसी पुरुष को एक ही पुरुष का पिता और पुत्र कहिये तो भ्रम है। परन्तु और का पिता

और अन्य का पुत्र कहिये तो विरोध नहीं। अब यहां वस्तु के स्वरूप को साधे हैं पहिले जो एक ही वस्तु को नित्य और अनित्य कहा था उसका उदाहरण कहे हैं जैसे कोई एक पुरुष पहिले रङ्क था फिर वह राजा भया तहां अवस्था पलटने की अपेक्षा पहिले रङ्क था अब राजा भया। ऐसा उस पुरुष में अन्यपना भासे है। इसलिये यह अन्य है ऐसा मानिये है। और मनुष्यपने की अपेक्षा पहिले भी वह मनुष्य था अब भी वह मनुष्य ही है ऐसे उस विषे एकपना भासे है इसलिये यह वही है ऐसा मानिये है। सो ऐसी प्रतीतिये प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से खण्डित नहीं हैं। ऐसे वस्तु स्वरूप भासे है। इसलिये वह ही पुरुष एककाल विषे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पने को धारे है। जैसे जिस समय रङ्क से राजा भया उस ही समय राजापने का तो उत्पाद भया रंकपने का व्यय हुआ और मनुष्यपना ध्रौव्य है। ऐसे ही कोई जीव मनुष्य से देव भया तहां मनुष्यपना देवपना की अपेक्षा से अन्य है ऐसी प्रतीति करिये है। और जीवन की अपेक्षा यह सोई है। ऐसी प्रतीति करिये है। इसलिये मनुष्य से देव होने के समय देवपने का उत्पाद मनुष्यपने का व्यय और जीवनपने का ध्रौव्य ऐसे एकही काल विषे तीनों भाव पाइये हैं। इसी प्रकार सर्व्व जीवादि वस्तु एक समय विषे स्थूल पर्य्यायों वा सूक्ष्म पर्य्यायों कर उत्पाद व्यय और ध्रौव्यपने को धारे हैं। इसलिये एकही वस्तु विषे नित्य और अनित्यपना सिद्धभया, ऐसे

ही स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भाव, की अपेक्षा सत्तापना और परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नास्ति-
पना मानना। जैसे एकही वस्तु को ऐसा मानिये है कि यह पुरुष वह पुरुष है और यह पुरुष वह पु-
रुष नहीं है और वह पुरुष इस क्षेत्र विषे तो है और उस क्षेत्र विषे नहीं है इस काल विषे है और
उस काल विषे नहीं है ऐसे स्वरूप वाला है वैसे स्वरूप वाला नहीं है इस प्रकार एक ही वस्तु एक
ही समय में सत्ता और असत्ता रूप है। और एक ही वस्तु को अंगी की अपेक्षा एक और अंगों की
अपेक्षा अनेक मानिये है जैसे एक ही पुरुष को सर्व शरीर की अपेक्षा से एक कहिये है और हस्त
पादादिक अंगों की अपेक्षा से अनेक रूप मानिये है इसलिये एक ही वस्तु युगपत् एक और
अनेक रूप है। ऐसे ही तिस रूप है और तिस रूप नहीं है ऐसा तत्त्व भासे है। सो यथा योग्य
शास्त्र द्वार कर प्रमाण के अनुकूल सम्यक् ज्ञानी जीव तैसे ही विचारे है। आगे कोई यह तर्क
करे कि जो वस्तु के ध्रौव्य आदि तीन स्वरूप कहे हैं वह असत्य हैं क्योंकि वस्तु के तो सर्व
प्रकार नित्यादिक एक स्वरूप ही पाइये है सो ऐसी आशंका के दूर करने को सूत्र कहे हैं:-

छन्द:—न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं
नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात्।

तत्त्वं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूप
माद्यन्तहीनमखिलं च तथा यथैकम्॥ १७४ ॥

अर्थ–वस्तु सर्वथा नित्य स्थिर भी नहीं और क्षण विनश्वर भी नहीं। ज्ञानमात्र भी नहीं और अभाव रूप भी नहीं क्योंकि अखण्डित भासने का निरोध है अर्थात् ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती कि जिस का खण्डन न हो सके। इसलिये वस्तु हर समय तिसरूप भी है और तिसरूप नहीं भी है ऐसा ही अनादिनिधन है। सो जैसे उक्त रीति से एक पदार्थ भासे है तैसे ही सर्व पदार्थ जानने॥

भावार्थ–वस्तु का स्वरूप सर्व्वथा एक रूप नहीं है नाना अपेक्षा से नानारूप है सांख्य नैयायिक आदि मत वाले तो वस्तुकोसर्व्वथा नित्य ही माने हैं। बौद्धमती क्षणविनश्वर ही माने हैं जो बौद्धमती ज्ञानाद्वैतवादी हैं वह तो एक ज्ञान ही है और वाह्य कोई वस्तु नहीं ऐसा माने हैं, और जो बौद्धमती शून्यवादी हैं वह सर्व वस्तु का अभाव ही माने हैं इत्यादि एकांत रूप जो वस्तु को माने हैं सो ऐसे नहीं है क्योंकि विचार कीये ऐसे एकांत विषे विरोध भासे है। जब एक ही वस्तु की अवस्था पलटने से उसमें अन्य अन्य अर्थ और अन्य अन्य क्रिया की

सिद्धि होय है तो तब उस वस्तु को सर्वथा नित्य कैसे मानिये और अन्य अन्य अवस्था बदलने से भी उस वस्तु में कोई भाव का नित्यपना कर वह वस्तु सर्वदा एक भासे है इसलिये वस्तु को सर्वथा क्षण विनश्वर ऐसा कैसे मानिये और ज्ञान भी भासे है और बाह्य पदार्थ भी भासे हैं सो यदि भासते हुए बाह्य पदार्थों को न मानिये तो प्रमाण और अप्रमाण ज्ञान का विभाग कैसे होय इसलिये सर्वथा ज्ञान मात्र ही है ऐसा कैसे मानिये और प्रत्यक्ष पदार्थ भासे है सो जो उसका अभाव माने हैं उनका उपदेश भी तो शब्द रूप पदार्थ है सो उस का भी अभाव ठहरे परन्तु प्रत्यक्ष को झूठ कहे सो कदापि बने नहीं इसलिये वस्तु सर्वथा अभाव रूप नहीं है। ऐसे वस्तु को जो एकांत रूप माने हैं सो मिथ्या है तो फिर कैसे है सो कहिये है, वस्तु तिस रूप भी है और तिस रूप नहीं भी है। द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नित्य है पर्याय पलटने की अपेक्षा से वही वस्तु क्षणविनश्वर है ज्ञान विषे भासने की अपेक्षा से ज्ञानमात्र है और वस्तु सत्ता रूप है इस की अपेक्षा से ज्ञानमात्र नहीं है क्योंकि बाह्य वस्तु भी है पर द्रव्य क्षेत्रकाल विषे यह नास्ति है इस अपेक्षा से अभाव है। स्वद्रव्य क्षेत्रकाल विषे अस्ति है इस अपेक्षा से अभाव नहीं अर्थात् सद्भाव है। ऐसे ही अनेकांत रूप अनादिनिधन वस्तु का स्वरूप है। सो एक पदार्थ विषे विचार कर देखो कि जैसे एक जीव चेतनत्वादि भाव की अपेक्षा से नित्य

ही है और नर नरकादि पर्य्याय की अपेक्षा से अनित्य ही है। ज्ञान विषे प्रतिभासा जो जीव का आकार सो ज्ञानमात्र भी है और पुद्गलादिक के द्रव्य क्षेत्र काल भाव विषे जीव का अभाव ही है। जीव के द्रव्य क्षेत्र काल भाव विषे जीव का सद्भाव ही है ऐसे ही अनेकांत रूप जैसे जीव एक पदार्थ है। तैसे ही सर्व्व पदार्थ अनादिनिधन अनेक अपेक्षा कर तिस रूप भी हैं और तिस रूप नहीं भी हैं। दृष्टान्त विषे कल्पना कर जैसा है तैसा ही मानने से सम्यग्ज्ञान होय है इसलिये ऐसा ही मानना योग्य है। आगे जो सर्व्व वस्तुओं का साधारण (समान अर्थात् जो अन्य में भी पाइये) स्वरूप ऐसा है तो आत्मा का असाधारण (जो एक में ही पाइये अन्य में नहीं) स्वरूप कैसा है जो भासा हुआ तिस आत्मा की मुक्ति को साधे ऐसे पूछे कहे हैं :—

छन्दः—ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकाङ्क्षन् भावयेद् ज्ञानभावनाम् ॥ १७५॥

अर्थ—कैसा है आत्मा ज्ञान है असाधारण स्वभाव जिसका ऐसा है और स्वभाव अर्थात् निज स्वरूप की जो प्राप्ति सो विनाश रहित है। इसलिये विवेकी जीव अविनाशी अवस्था को वांछता हुआ ज्ञान भावना को भावे ॥

भावार्थ–पहिले जो वस्तु के नित्य अनित्य आदि धर्म्म कहे थे वह तो सर्ववस्तु विषे समान रूप साधारण हैं। और यह जो ज्ञान है अर्थात् जानना है सो आत्मा ही विषे पाइए है। इस लिये यह ज्ञान आत्मा का असाधारण स्वभाव है इसही लक्षण कर परद्रव्य से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का निश्चय होय है। और यह नियम है कि वस्तु का अस्तित्व होते उस के स्वभाव का अभाव न होय है क्योंकि लक्ष्य का नाश भये लक्षण का अस्तित्व कैसे रहे। जैसे जो पुरुष अपने धन ही का धनी होय कर प्रवर्त्ते तो उसकी एकसी दशा रहे है और जो परधन का धनी होय कर प्रवर्त्तै तो उस की एकसी दशा नहीं रहे तैसे आत्मा का स्वभाव ज्ञान है सो जो जीव अपने ज्ञान ही का स्वामी होय कर प्रवर्त्तै कि यह पदार्थ जैसे परिणमें तैसे परिणमो मैं इनका जाननहारा ही हूं ऐसी भावना राखे तो उसकी अविनाशी अवस्था होय है। क्योंकि जो जानपना है वह तो इस का स्वभाव ही है उसका तो अभाव होय नहीं। और जानपने विना अन्यभावों का यह स्वामी होता नहीं इस लिये इसकी अवस्था कैसे पलटे। और जो जीव परद्रव्य के स्वभाव का स्वामी होय कर प्रवर्त्तै है अर्थात् जब शरीर धन स्त्री पुत्रादिक अपने स्वभाव रूप परिणमैं और यह तब उन को अपने जाने तो इसकी अविनाशी अवस्था रहे नहीं क्योंकि जिस के शरीरादिक की अवस्था पलटे उसकी अपनी अवस्था एक रूप रहे नहीं। और उनकी

अवस्था पलटी हुई माने तो तहां अविनाशी पना कैसे रहे। इसलिये जो विवेकी अविनाशी अवस्था को चाहे सो एक ज्ञानभावना ही को भावे। आगे कोई यह प्रश्न करे कि भिन्न भिन्न वितर्क भेद के लिये (तर्क के भेदों से रहित) शुक्लध्यान स्वरूप जो श्रुतज्ञान भावना रूप है स्वभाव जिस का ऐसे ज्ञानके होने पर क्या फल होय है। —:(ताका उत्तर कहे हैं):—

छन्दः—ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥१७६॥

अर्थ—निश्चय कर ज्ञान विषे ज्ञान ही फल है। सो सर्वथा सराहने योग्य है और अविनाशी है। सो यहां जो कुछ अन्य फल की वांछा करिये है सो बड़ा आश्चर्य है यह मोह की महिमा जाननी ॥

भावार्थ—श्रुतज्ञान कर पदार्थ को यथार्थ जानिये सो श्रुत ज्ञान का तत्काल फल तो पदार्थ का जानना ही है और श्रुतज्ञान का परंपरा फल केवल ज्ञान है तहां सर्व्व पदार्थों का जानपना होय है। ऐसे ज्ञान का फल ज्ञान ही है सो सर्व्व प्रकार प्रशंसा योग्य है। क्योंकि यथार्थ ज्ञान भए पदार्थ जैसे के तैसे भासे हैं इस से निराकुलता होय है और निराकुलता

सुख का लक्षण है सुख को सर्व्वं चाहे हैं। और इस सुख विषे पराधीनता आदिक कोई भी दोष नहीं है। और जो विषय सामग्री रूप फल को चाहते हैं सो यह मोह की महिमा है। जैसे खाज रोग भए खुजावने की सामग्री भली लागे है तैसे जब मोह से काम क्रोधादिक रूप भाव आत्मा के होंय तब इस को स्त्री शस्त्रादिक सामग्री भली भासे है। अर्थात् उनको चाहे है। और ज्ञानी जनको ज्ञान विना अन्य फलका चाहना आश्चर्य्य भासे है। जैसे भूत के चिमटनेसे पुरुष की चेष्टा का आश्चर्य्यं होय है तैसे मोही जीवों की चेष्टा का ज्ञानी को आश्चर्य्यं होय है। आगे श्रुतज्ञान की भावना विषे भव्य जीवों को प्रवर्त्तने से क्या फल होय है सो कहे हैं :—

छन्दः—शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः। अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत्॥१७७

अर्थ—भव्यजीव शास्त्र रूपी अग्नि विषे सच्चे पुष्पराग (मणि) रत्नवत् मलरहित हुवा हुवा विशुद्ध निर्म्मल शोभे है। और दुष्ट जीव आग के अङ्गारेवत् प्रकाशमान होता हुआ मल संयुक्त होय है तथा भस्म रूप होय है॥

भावार्थ—जैसे पद्मराग मणि के लगे हुए मैल का अग्निसे नाश होने से निष्पन्नता को

पाय कर शुद्ध स्वभाव रूप होता हुआ शोभायमान होय है और इन्धन का अङ्गार अग्नि कर प्रकाशमान तो होय परन्तु कोयलारूप मैला हो कर राख रूप होय है। तैसे जो धर्म्मात्मा भव्य जीव हैं वह तो शास्त्रके अभ्यास कर पदार्थोंको जानते हुए शुद्ध रूप होय हैं और जो दुष्टजीव हैं वह रागादिक दोषों कर मैले होयहैं॥ आगे ध्यान की सामग्री को दिखावतेहुए सूत्र कहेहैं :-

छन्दः--मुहुः प्रसार्य्य सद्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः १७८॥

अर्थ-आत्मा के अधिकार रूप अध्यात्म भाव के जानन वाला मुनि वारम्वार सम्यक् ज्ञान को फैलाय कर जैसे पदार्थ तिष्टैं तैसे उनको देखता हुआ राग द्वेषको दूरकर ध्यावेहै॥

भावार्थ-आत्मज्ञानी जीव ध्यान करेहै। तहां पहले तो आगमादिक (शास्त्रादिक) रूप सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों का निश्चय करे है। फिर यथार्थ श्रद्धान करता हुआ जैसे राग द्वेष न होय तैसे वाह्य साधन वा अन्तरङ्ग विचार कर राग द्वेषका नाश करे। ऐसी सामग्री भए ध्यानकी सिद्धि होय है। क्योंकि उपयोगकी निश्चलताका नाम ध्यानहै। सो जब राग द्वेष होते परद्रव्यों विषे उपयोग(विचार)भ्रमे तब ध्यान कैसे होय। और जीवादिक पदार्थनका निश्चय भए

बिना पर द्रव्य इष्ट अनिष्ट भासें तहां राग द्वेष कैसे दूर होंय। क्योंकि पदार्थों के जानने विषे अपना ज्ञान लगाए बिना पदार्थों का निश्चय कैसे होय; इसलिये ज्ञान को विस्तार कर पदार्थों का यथार्थ निश्चय कर राग द्वेष को मेट कर कोई एक पदार्थ को यथार्थ ध्यावता हुआ यह जीव अन्य सर्व चितवन को रोक कर ध्यान अवस्था को प्राप्त होय है। यह जो ध्यान है सो साक्षात् मोक्षमार्ग है इसके लिये भव्य जीवों को ऐसी सामग्री मिलावनी योग्य है। आगे यदि कोई यह कहे कि राग द्वेष का नाश ध्यान करने से पहले ही क्यों करिये है ऐसे प्रश्न का उत्तर कहे हैं क्योंकि संसार के कारण जो कर्म्म उन के उपजावने का कारणपना इन राग द्वेष में पाइये है इस लिये पहिले इन का नाश कर ध्यान करणा योग्य है ऐसा कहे हैं :-

छन्दः–वेष्टनोद्वेष्टने यावत् तावद्भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः॥ १७९॥

अर्थ–मन्थर (रई) के समान जो यह प्राणी है इस के यावत् बन्धना और खुलना पाइये है तावत् संसार समुद्र विषे गमन और आगमन कर भ्रमण होय है॥

भावार्थ–जैसे मांथनी विषे रई होय है उसकी रस्सीका बन्धना और खुलना जबतक

पाईए है। तवतक गमनागमन के होनेकर उसका परिभ्रमण होयहै तैसे संसारविषे यह जीवहै।
इसकै नवीनकर्म्म का वन्धन और पूर्व कर्म्मका उदय होयकर जवतक निर्ज्जरा(कर्मोंकाघटना)
पाईये है तवतक नर नरकादि पर्यायों विषे गमनागमन होने कर इसकै परिभ्रमण पाईए है।
औरपूर्व कर्म्म के उदय होने से इसकै रागादिक होय हैं। और रागादिक भावों से नवीन कर्म्म
वन्ध होय है। इसलिये संसार विषे भ्रमणका कारण रागादिक भाव जानने॥ आगे किसी प्राणी
कै तो कर्म्म का घटना भ्रमण और नवीन वन्धन का कारण होय है और किसी कै नहीं होय
है ऐसा दिखावते हुए सूत्र कहे हैं :-

छन्दः—मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्वन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथाऽसौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरवन्धनम्॥१८०

अर्थ—मन्थर जो रई उस सारिखा जो यह जीवहै इसकै खुलती जो फांसीउस कर भ्रमण
और वन्ध होय है सो यह फांसी ऐसे खोलनी जैसे फिर भ्रमण न होय और वन्धन भी न होय॥

भावार्थ—जैसे मांथनी विषे रई होय है और उसकै रस्सी की फांसी होय है उसका
खुलना दो प्रकार का है एक खुलना तो ऐसा होय है कि जिस कर नवीन तो वन्धन होता

जाय है और मांथनी विषे भ्रमण होय है और एक खुलना ऐसा होय है कि जिस कर नवीन बन्धन न होय है और मान्थनी विषे भ्रमण भी नहीं होय है। तैसे संसार विषे यह जीव है इस कौ कर्म्म रूपी फांसी पाइये है उसका निर्ज्जरा होना दो प्रकार का है। एक तो निर्ज्जरा ऐसी होय है। जिस कर नवीन बन्धन होता जाय है, और संसार विषे भ्रमण होय है। और एक निर्ज्जरा ऐसी होय है कि जिस कर नवीन बन्धन नहीं होय है और कर्म्म रूपी फांसी से रहित होकर मुक्त होय है। यहां ऐसा जानना कि जब पूर्व बांधा हुवा कर्म्म काल पाय अपना उदय रस देकर निर्ज्जरै है तब सविपाक निर्ज्जरा (ऐसी निर्ज्जरा कि जिस में कर्म्मों का फल भोगना कुछ शेष है अर्थात् कर्म्मों के फलवाली) होय है सो तो नवीन कर्म्म बन्धन का और संसार विषे भ्रमण का कारण है और जो पूर्व बन्धा हुवा कर्म्म है सो धर्म्म साधन से अनुभाग हीन होने कर अपना उदय रस दीये बिना ही निर्ज्जरै है तहां अविपाक निर्ज्जरा (ऐसी निर्ज्जरा अर्थात् कर्म्मों का झड़ना कि जिस में कर्म्मों का फल भोगना वाकी नहीं रहा) होय है सो नवीन कर्म्म बन्धन का और संसार विषे भ्रमण का कारण नहीं होय है। इसलिये कर्म्म रूपी फांसी की अविपाक निर्ज्जरा करनी योग्य है कि जिस से बन्धन और भ्रमण न होय॥ आगे जीव कौ बन्धन कैसे होय है और कैसे न होय है ऐसा कहे हैं :—

छन्दः—रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्षते मोक्षः ॥ १८१ ॥

अर्थ—राग द्वेषभावों कर करी हुई प्रवृत्ति और निवृत्ति से तो जीव के बन्ध होय है। और तत्वज्ञान कर करी हुई प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति (निवृति) कर जीव के मोक्ष होय है॥

भावार्थ—आत्मा जिस रूप होय प्रवर्त्ते है उस आत्मा के प्रवर्त्तने का नाम प्रवृत्ति है। और निवृत्ति अर्थात् अप्रवृत्ति नाम न प्रवर्तने का अर्थात् हट जाने का है। तहां जो मोहके उदय से रागी द्वेषी भाव निपजे हैं उन कर कदाचित् तो आत्मा के अशुभ कार्य्यों की प्रवृत्ति और शुभ कार्य्यों की अप्रवृत्ति होय है और कदाचित् शुभ कार्य्यों की प्रवृत्ति और अशुभ कार्य्यों की अप्रवृत्ति होय है सो ऐसी प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति कर तो आत्मा के बन्ध होय है और मोह का उदय क्षीण होने से जो तत्वज्ञान होय है उस कर ज्ञान मात्र शुद्धोपयोग की तो प्रवृत्ति और शुभ अशुभ भावों की अप्रवृत्ति होय है। सो ऐसी प्रवृत्ति अप्रवृत्ति कर आत्मा के मोक्ष होय है। इसलिये ऐसाही साधन करना योग्य है। आगे पूछे है कि जो बन्ध होय है सो पुण्यरूप और पापरूप होय है सो किस से निपजे हैं ऐसी आशंका का उत्तर कहे हैं:—

छन्दः—द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम्॥१८२॥

अर्थ—गुण और दोष विषे द्वेष और अनुराग रूप जो बुद्धि सो तो निश्चय कर पाप को करे है और इस से विपरीत अर्थात् गुण विषे अनुराग और दोष विषे द्वेष रूप बुद्धि सो पुण्य को करे है। और इन दोनों से रहित जो बुद्धि सो पाप पुण्य कर्म्मों से मोक्ष करे है॥

भावार्थ—बुद्धि नाम उपयोग और शुद्धोपयोग का है उपयोग के अर्थ बहुत हैं परन्तु इस स्थान में इसका अर्थ परिणाम अर्थात् चिन्तवन का है सो शुद्धोपयोग नाम शुद्धचिन्तवन का है। तहां जिस कर आत्मा का भला होय उसका नाम गुण है और जिस कर आत्मा का बुरा होय उस का नाम दोष है। सो धर्म्म रूप भावों से आत्मा का भला होय है इस लिये धर्म्म को सूचन अर्थात् प्रकाश करनेवाला जो भाव सो तो गुण है। और अधर्म्म रूप भावों से आत्मा का बुरा होय है। इस लिये धर्म्म से विरोधी जो भाव सो दोष है। सो जिस जीव के तीव्र मोह के उदय से गुण विषे द्वेष होय और दोष विषे अनुराग होय। अथवा तिस ही अभिप्राय से जिस विषे गुण होय वा जो गुण का कारण होय तिस विषे तो द्वेष होय और जिस विषे दोष

होय वा दोष का कारण होय तिस विषे अनुराग होय तिन जीवों कै अशुभोपयोग पाइये है उसकर पाप कर्म्म का बन्ध होय है। और जिस जीव कै मन्द मोह के उदय से गुण विषे अनुराग होय। और दोष विषे द्वेष होय, अथवा तिस ही अभिप्राय से जिस विषे गुण पाइये वा जो गुण का कारण होय उस विषे अनुराग होय। और जिस विषे दोष होय वा जो दोष का कारण होय उस विषे द्वेष होय उस जीव कै शुभोपयोग पाइये है उस कर पुण्य कर्म्म का बन्ध होय है। यहां कोई यह कहे कि द्वेषबुद्धि से पुण्य का बन्ध कैसे होय —(तिस का समाधान):—जो अपने कषाय का प्रयोजन लिये द्वेष करे तहां तो पाप बन्ध ही है। परन्तु जैसे कोई पुरुष मित्र के शत्रु विषे द्वेष करे तैसे जो धर्म्म के विरोधी विषे द्वेष करै तो तहां उसके अभिप्राय विषे धर्म्म का अनुराग होने से पुण्य का बन्ध ही होय है। तिसका उदाहरण (तमसील) एक शूर और एक सिंह दोनों लड़े तहां शूर तो मुनिराज की रक्षा के अभिप्राय से मर कर पांचवें स्वर्ग में देव भया और सिंह मुनिराज को मारने के अभिप्राय से मर कर पांचवें नरक विषे गया। और शास्त्रों विषे भी पाप अथवा पापी जीवों की निन्दा करिये है इसलिये कथंचित् द्वेष से भी पुण्य बन्ध सम्भवे है। ऐसे यह दोनों उपयोग राग द्वेष सहित प्रवर्ते हैं। इसलिये इनको अशुद्धोपयोग कहिए है। और जिस जीव कै मोह के अभाव से यह दोनों प्रकार के राग द्वेष न

पाइये। तिस जीव के शुद्धोपयोग है तिस कर पुण्य पाप कर्म्म का नाश ही होय है अर्थात् नवीन बन्धन न होय है पूर्व बन्ध की निर्जरा ही होय है। ऐसे तीन प्रकारका उपयोग होय है। सोई पुण्य पाप का बन्ध और उन दोनो के नाश का कारण जानना। आगे पूर्वोक्त प्रकार जिन राग द्वेषों से बन्ध का कारण होय है उन का उपजना कैसे होय है सो कहे हैं :—

छन्दः—मोहबीजाद्रागद्वेषौ बीजान् मूलाङ्कुराविव।
तस्माद्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥१८३

अर्थ—जैसे बीज से वृक्ष के जड़ और अंकुर होय हैं। तैसे मोह रूपी मूल से आत्माके रागद्वेष होय हैं। इस लिये जो जीव इन राग द्वेषों को दग्ध किया चाहे है। उसे उचित है कि ज्ञान रूपी अग्नि कर मोह को दग्ध करे॥

भावार्थ—अतत्व श्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव का नाम तो मोह है। और इष्ट अनिष्ट पदार्थन को मान कर उन विषे प्रीति अप्रीति करनी तिस का नाम राग द्वेष है। क्योंकि अतत्व श्रद्धान से पदार्थ इष्ट अनिष्ट भासे है इसलिये जैसे वृक्षके जड़ और अंकुरका मूलकारण बीज है तैसे राग द्वेष का मूलकारण मोह जानना। और जैसे कोई जड़ और अंकुर को दग्ध

किया चाहे तो वह उस के बीज को दग्ध करे। तैसे जो राग द्वेष का नाश किया चाहे तो वह मोह का नाश करे क्योंकि मोह का नाश भये राग द्वेष का नाश सहज ही होय है। परन्तु सम्यग्दृष्टि के मोह का नाश भये पीछे कदाचित् किञ्चित् राग द्वेष रहे भी है। जैसे उपाड़े हुए वृक्ष के जड़ और अंकुर केतेक काल हरे रहे हैं परन्तु शीघ्र ही सूकेंगे। तैसे राग द्वेष शीघ्र ही नाश को प्राप्त होयगें और किसी मिथ्या दृष्टि के मोह का सद्भाव होते राग द्वेष थोड़े भी वाह्य प्रगटे तो जैसे बीज होते जड़ और अंकुर थोड़े से भी वाह्य दीसै परन्तु शीघ्र ही वधेंगे। तैसे वह राग द्वेष शीघ्र वृद्धि को प्राप्त होयेंगे। इसलिये राग द्वेष का मूल कारण मोह को जान कर उस ही का नाश करना। क्योंकि जैसे बीज जलावने का कारण अग्नि है। तैसे मोह नाश का कारण ज्ञान है ज्ञान से जीवादि तत्वों के स्वरूप को यथार्थ जाने तो अतत्व श्रद्धान का नाश होय। इसलिये तत्व ज्ञान के अभ्यास विषे तत्पर रहना इतना किये सर्व्व सिद्धि स्वयमेव होय है॥ आगे इन राग द्वेषों का बीज रूप जो मोह वह कैसा है, और उस के नाश का कारण क्या है सो कहे हैं :—

छन्दः—पुराणोग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक्।

त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुद्ध्यति रोहति ॥१८४॥

अर्थ—मोह रूपी गूमड़ा अर्थात् फोडा कैसा है पुराणा है परन्तु गूमड़ा तो इसी काल में भया है और मोह रूपी गूमड़ा अनादि काल से भया है इसलिये यह पुरातन है और कैसा है यह ग्रहदोष से निपजा है। गूमडा तो मंगलादिक खोटे ग्रह की आनेसे निपजे है। और मोह है सो परद्रव्य का ग्रहण रूप परिग्रह उसके दोष से निपजे है। और कैसा है गम्भीर है, गूमडा तो ऊंघा होय है मोह है सो ऐसा गहरा है जाका थाह न पाइये है। और कैसा है, गति सहित है, गूमड़ा तो राधि रुधारादिक का गमन लिये है। मोह है सो नारकादिक गति का सद्भाव लिये है। और कैसा है पीडा सहित है। गूमडा तो पीडा देवे है और मोह आकुलता निपजावे है। ऐसा जो मोह रूपी गूमडा है सो त्याग और जात्यादिक (मलहम आदि) कर शुद्ध होय है और रोह (जखम का अंगूर बंधना) को प्राप्त होय है गूमडा तो रुधिरादिक का छोड़ना और जात्यादिक घृतादिक का लगावना इन उपायों कर शुद्ध होय है और चामड़ी रूप रोह को प्राप्त होय है। और मोह है सो परद्रव्यों को छोडना और निज जाति (आत्मस्वरूप) को ग्रहण करना इन उपायो कर शुद्ध होय है। और सम्यक्त्व रूप रोह को प्राप्त होय है॥

भावार्थ–जैसे गूमड़ा अपने शरीर ही विषे उपजे है। परन्तु आप को दुःखदायक है। तैसे जो मोह है सो अपने ही अस्तित्व विषे प्रगट होय है परन्तु आकुलता उपजावे है इस लिये उपाय कर इस मोहरूपी गूमड़े का नाश करना ही योग्य है। आगे कहे हैं कि जो जीव मोहरूपी गूमड़े को शुद्ध किया चाहे तो वह जीव नाश को प्राप्त भये भी कुटम्ब विषे शोक न करे :–

छन्दः–सुहृदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विषः।
सुहृदोऽपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृताः ॥१८५॥

अर्थ–जो आप को सुखी करे वह तो मित्र होय है और जो आप को दुःखी करे वह शत्रु होय है। सो जो मित्र भी थे वह भी दुःखी करने को मरे तो वह भी शत्रु भए तो वह शोक करने योग्य कैसे होयें ॥

भावार्थ–लोक विषे जो आप को सुख उपजावे सो तो मित्र कहिये और जो दुःख उपजावे सो शत्रु कहिये। और जो पहिले मित्र भी था और पीछे जो आप को दुःखदायक होय तो उस को भी शत्रु मानिये है और जिस को शत्रु मानिये उस का शोक नहीं करिये है इसलिये जो यहां अपने स्त्री पुत्रादिक हैं वह तेरे मानने में तो मित्र थे परन्तु जब वह मरण को प्राप्त

भये तब तो वह तुझ को दुःखदायक भये इस लिये वह भी शत्रु ही भये। अब उन का शोक क्या करना। सो प्रत्यक्ष देखो जैसे शत्रु का स्मरणादिक भी दुःख उपजावे है तैसे ही मूए पीछे स्त्री पुत्रादिक का स्मरणादिक दुःख उपजावे है,इस लिये इस शास्त्र न्याय कर स्त्री पुत्रादिक कभी भी हितकारी नहीं हैं और मरने के पीछे उन को हितकारी मानकर जो शोक करे है सो यह बड़ा मोह है। सो जो मोह को दूर किया चाहे है तो स्त्री पुत्रादिक का मरणादिक होतें भी उनका शोक नहीं करना॥ आगे स्त्री पुत्रादिक मित्रों के मरण से दुःखी भया जो तू सो क्या करे ऐसा कहे हैं :-

छन्दः—अपरमरणे मत्वात्मीयानलंघ्यतमे रुदन्।
विलपतितरां स्वस्मिन् मृत्यौ तथाऽस्य जडात्मनः।
विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा
कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेऽपि न केनचित्॥ १८६

अर्थ—जो मरण अतिशय कर अलंघ्य अर्थात् किसी प्रकार भी मेटा न मिटे सो अपने से

भिन्न स्त्री पुत्रादिकों के ऐसे मरण के होने पर उन स्त्री पुत्रादिकों को अपने जानकर उनके
अर्थ जो जीव रोता हुआ अतिशय कर विलाप करे है सो जीव अपनी मौत के आने के समय पर
भी वैसा ही अतिशय कर रोता हुआ विलाप करे है। सो ऐसे मूर्ख आत्माके भय रहित मरणके होने
पर उपजे जो बड़ा भारी यश वा उत्कृष्ट परलोक सो उस को कैसे प्राप्त होय अर्थात् कदापि न
होय हैं। इसलिये जो सुबुद्धि जीव हैं सो किसी के मरनेपर किसी प्रकार भी शोक नहीं करे हैं॥

भावार्थ—जो जीव स्त्री पुत्रादिक के मरण होते अत्यन्त शोक करे हैं वह अपने मरण
का भी अत्यन्त शोक करे हैं क्योंकि जबके एक इष्ट का वियोग होते भी शोक होय है तो
अपने मरण समय तो सर्व ही का वियोग होय है इस लिये जिस के पुत्रादिक के वियोग विषे
शोक होय है उस के मरण का भय रहित जो समाधि मरण सो नहीं होय और समाधि मरण से
इस लोक विषे तो यश होय है और परलोक विषे उत्कृष्ट पद प्राप्त होय है सो यह दोनों
उस मूर्ख जीव के कैसे प्राप्त होंय। इस लिये ज्ञानी जीव पहिले ही स्त्री पुत्रादिकों से मोह
को घटाकर समाधी की सिद्धि करे हैं। ऐसा करने से इस के यहां तो यश की प्राप्ति होय है
और आगामि स्वर्ग मोक्षादिक की प्राप्ति होय है। आगे यह शोक काहे से होय है और किस
कारण से होय है सो कहे हैं :—

छन्द:—हाने: शोकस्ततो दु:खं लाभाद्रागस्तत: सुखम्।
तेन हानावशोक: सन् सुखी स्यात् सर्वदा सुधी:॥१८७

अर्थ–इष्ट सामग्री की हानि से शोक निपजे है। और तिस शोक से दु:ख होय है। और इष्ट सामग्री की प्राप्ति से राग निपजे है। और तिस राग से सुख होय है। इस कारण से जो सुबुद्धि जीव है, सो हानि विषे शोक रहित होता हुवा सदाकाल सुखी होय है॥

भावार्थ–सर्व जीव सुख को चाहे हैं, सुख का घातक दु:ख है जब दु:ख होय है तब शोक होय है, सो इष्ट सामग्री का वियोग भये होय है। और जो ज्ञानी ऐसा विचार करे कि जो मैं मोह से पर वस्तु को इष्ट मानूं हूं सो यह इष्ट नहीं है और यह पर वस्तु मेरी कभी भी न होय है और मेरी राखी रहे नहीं। इसलिये पर के वियोग विषे शोक क्या करना ऐसे विचार से जो हानि होते भी शोक न करे तो उसके दु:ख कैसे होय। दु:ख भये विना सुखका अभाव न होय तब वह ज्ञानी सदाकाल सुखी ही रहे है। इसलिये जो सुखी रहा चाहे तो हानि भये भी शोक न करे। और जो कोई हानि न होने का उपाय कर सुखी रहा चाहे है तो संसार विषे कोई कोई सामग्री की हानि तो होय ही होय इसलिये यहां शोक न करना सो जो शोक का न

करना है सोई सुखी होने का उपाय है। आगे यहां जो सुखी वा दुःखी होय वह परलोक विषे कैसा होय सो कहे हैं :—

छन्दः—सुखी सुखमिहाऽन्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते।
सुखं सकलसंन्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ॥ १८९

अर्थ—इस लोक विषे जो सुखी है, सो परलोक विषे भी सुख को पावे है। और इस लोक विषे जो दुःखी है, सो परलोक विषे भी दुःख को पावे है। तहां जो सर्व परवस्तु का त्याग सो तो सुख है। और उससे उलटा अर्थात् पर वस्तु का जो ग्रहण सो दुःख है॥

भावार्थ—कोई जीव यहां ऐसा भ्रम करे कि यदि वर्त्तमान सुख को छोड कर कष्ट और दुःख सहिये तो परलोक विषे सुख होय सो परलोक तो परोक्ष है न जानिये तहां क्या होगा। इसलिये अब यहां सुख को छोड़ कर कष्ट और दुःख क्यों सहिये, ऐसे भ्रम करने वाले को समझाइये है। कि जो यहां दुःखी होय है सो परलोक विषे भी दुःखी होय है और जो इस लोक विषे सुखी होय वह परलोक विषे भी सुखी होय है। —(यहां फिर प्रश्न करे है):— कि शास्त्रों विषे तो यह प्रसिद्ध है, कि जो विषय सुख सेवे सो परलोक में दुःख को पावे और

जो यहां तपश्चरणादिक कष्ट को सहे सो परलोक में सुख को पावे तुम ऐसा कैसे कहो हो।

-:(तिस का उत्तर):- तू जो वाह्य सामग्री से सुख दुःख भया माने है सो तेरै यह भ्रम है। जो हम कहे हैं सो सुन, जो अपने परिणाम आकुलता रहित होंय, सो तो सुख है। और जो आकुलता सहित होंय सो दुःख है और जो आकुलता होय है सो मोह से परद्रव्य का ग्रहण किये होय है। क्योंकि यह तो परद्रव्य को ग्रहे है और परद्रव्य इसके होंय नहीं। सो तहां आकुलता उपजे इसलिये परद्रव्य का त्याग करके जो निराकुल होना है सोई सुख है। सो ऐसी दशा भये वर्त्तमान काल में भी सुखी होय है। और आगामि भी इस का फल परम सुख होय है और परद्रव्य का ग्रहण कर आकुलता करनी सो दुःख है। सो ऐसी दशा भये वर्त्तमान भी दुःखी होय है। और आगामि भी इस का फल दुःख ही है। और शास्त्र विषे भी विषय सुख सेवन का फल दुःख कहा है। सो जहां तृष्णा कर आकुलता लिये विषय सेविये हैं तिस का फल दुःख होय है। वरनः विषय सुख तो भोगभूमिया के वा इन्द्रादिक के घने पाइये हैं परन्तु वहां तृष्णा थोड़ी है। इसलिये वह कुगति को नहीं प्राप्त होय हैं, और रङ्कादिकों को विषय सुख नहीं मिले हैं। परन्तु तृष्णा कर आकुलित होय नरकादिक को पावे हैं। और जो तपश्चरणादिक कष्ट का फल सुख कहा है। सो वाह्य तो तपश्चरण करे और अन्तरङ्ग

विषे संक्लेश रूप दुःखी न होय तिस कै तप का फल सुख कहा है। और जो तपश्चरण कर दुःखी होय है तिस कै आर्त्तध्यान होने कर तिस का फल दुःख ही है। इस लिये जो जीव मोह के हनने से वर्त्तमान सुखी होय है। सोई आगामि भी सुख को पावे है। और जो मोह रूप बन्धने से वर्त्तमान दुःखी होय है। सोई आगामि काल में भी दुःख को पावे है। शास्त्र विषे भी दुःख शोकादिक से असाता का बन्ध कहा है असाता का उदय आए दुःखी ही होय है। सो तू ऐसा भ्रम करके कि दुःख का फल सुख है परलोक के सुख के उपाय से पराङ्मुख मत हो। और जो यहां विषय सुख छोड़िये हैं। सो मिश्री मिले जैसे गुड़ का स्वाद बुरा लगे, तैसे शान्त रस पाये विषय रस नीरस भासें हैं। इसलिये विषय सुख न भोगिये हैं और उन के छोड़ने विषे दुःखी न होइये है। इसलिये विषय सुख छोड़ने का भय मत कर, सांचा धर्म्म साधने से वर्त्तमान काल में भी सुख होय है और आगामि भी सुख होय है सो ऐसा ही कार्य्य करना योग्य है। आगे पुत्रादिक के मरण से जो शोक और तिन की उत्पत्ति से जो हर्ष होय है सो यह उत्पत्ति भी मरण ही है ऐसा दिखावें हैं :-

छन्दः—मृत्योर्भृत्यवन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम्।

तत्र प्रमुदितान्मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः ॥ १९०

अर्थ—इस संसार विषे देहधारी जीवों को एक मरण से अन्य मरण की प्राप्ति का नाम उत्पत्ति है। इस लिये जो तिस उत्पत्ति विषे हर्षवंत होय हैं। उन को मैं पीछे भया जो उन का मरण उस विषे पक्षपाती मानूं हूं॥

भावार्थ—पुत्रादिक के जन्म भये हर्ष करिये है। और तिन के मरे पीछे शोक करिये है, सो हर्ष का कारण जो पुत्रादिक का जन्म है, सो तिनका नवीन मरण ही है। क्योंकि आयु के नाश का नाम मरण है, सो समय२ आयु घटे है। इस लिये इनके सदा काल मरण ही पाइये है तहां पूर्व पर्याय सम्बन्धी मरण को छोड़ नवीन पर्याय सम्बन्धी मरण का जो प्रारम्भ तिसही का नाम जन्म है, ऐसे जन्म विषे जो हर्ष माने हैं, सो नवीन मरण के पक्षपाती अर्थात् अनुरागी हैं। और जो मरण के अनुरागी हैं सो उनका परस्पर हित सम्बन्ध कैसे मानिये यहां ऐसी युक्ति कर पुत्रादिक के जन्म और मरण विषे हर्ष विषाद करना छुड़ाया है। आगे सर्वसङ्ग कहिये परिग्रह उसका त्यागी और जन्म मरण विषे जिस के समान बुद्धि पाइये है और सर्व शास्त्रों का ज्ञाता और दुर्द्धर तप का करने वाला ऐसा जो मुनि है उस को शिक्षा देते हुए सूत्र कहे हैं:—

छन्द:-अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ।
च्छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वम्फलम् ॥ १९१ ॥

अर्थ-सर्व शास्त्र को पढ़ कर और चिर काल पर्यन्त घोरवीर तप को सेवन कर जो तू उन का फल इस लोक विषे ही लाभ बड़ाई आदिक चाहे है। सो तू शून्य अर्थात् विवेक रहित चित्त वाला होता हुवा भले तप रूपी वृक्ष के फूल ही को छेदे है। सो इस तप का जो ऐसे मीठे रस वाला स्वर्ग मोक्षादिक रूप पक्का फल उस को तू कैसे पावेगा ॥

भावार्थ-जेसे कोई वृक्ष उगावे तहां तिस कै पहिले फूल होय और पीछे फल लगे। सो जो फूल ही को छेद आप अङ्गीकार करे तो उस के मीठे पक्के फल की प्राप्ति न होय। तैसे जो जीव शास्त्राभ्यास बहुत करे और उत्कृष्ट तपश्चरण करे उसकै पहिले तो लाभ पूजादिक निपजैं भक्त पुरुष मनोरथ साधैं वा स्वयमेव ऋद्धि चमत्कारादिक उपजैं ऐसे तो लाभ होंय, और

महन्तता विशेष होय सर्व बड़ा मानें ऐसे पूजा होय इत्यादिक कार्य्य निपजैं पीछे स्वर्ग मोक्ष के फल की प्राप्ति होए और जो जीव लाभ पूजादिक को आप चाहकर अङ्गीकार करें लोभी होय कर भक्त पुरुषों से कुछ लिया चाहैं, वा उन का दिया धनादिक अङ्गीकार करैं वा ऋद्धि चमत्कारादिक को चाहैं और उन के प्राप्त होने पर संतुष्ट होयें। और मानी हो कर आप महन्तपना अर्थात् बड़ापना चाहैं,वा महन्तता बड़ाई भये मदवान् होय हैं सो ऐसे जीव इस किञ्चित् सांसारिक सुख रूप फूल को पाय कर परम सुख रूप रस लिये जो स्वर्ग मोक्ष रूप पक्का फल उस को न पावे हैं इसलिये यह शिक्षा है कि शास्त्राभ्यास वा तपश्चरण का साधन कर लाभ पूजादिक का अर्थी न होना। आगे कहे हैं कि शास्त्र को पढ़ कर मान बड़ाई की इच्छा मत कर बल्कि कषायों को जीत :-°

छन्द:—तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोकपङ्क्तिं बिना
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः।
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्

शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥ १९२

अर्थ–हे भव्य तू लोकों की पक्ति विना यहां तैसे निरन्तर शास्त्र को पढ़, और विस्तार लिये काय क्लेश कर शरीर को भी शोष जैसे दुर्ज्जय अर्थात् दुःख से जीतने के लायक यानि जिन का जीतना अति कठिन है ऐसे जो कषाय विषय रूपी वैरी हैं उन को तू जीते क्योंकि महा मुनि तप और शास्त्र का फल उपशम भाव ही कहे हैं ॥

भावार्थ–केवल शास्त्र का पढना और तप का करना ही कार्य्यकारी नहीं है। वल्कि कार्य्यकारी तो उपशम भाव है । तहां जो जीव शास्त्र को पढ कर तत्त्वज्ञान से कषायों को घटावे हैं। वा तपश्चरण कर इष्ट अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी राग द्वेष न करने से कषायों को घटावे हैं। तिन का शास्त्र पढ़ना, और तप करना सफल होय है। और जो जीव शास्त्र को पढ़ कर वा तपश्चरण करके विषय कषायों के कार्य्यों को साधे हैं । और मन रमावने के अर्थ वा मान बड़ाई के अर्थ वा भोजन धनादिक के अर्थ शास्त्र पढ़े हैं वा तप करे हैं सो जीव तो लोकों की पक्ति विषे बैठे हैं जैसे अन्य लोक विषयों के अर्थ व्यापार सेवादिक कार्य्यां को करे हैं तैसे इन्हों ने भी उपाय किया है। यहां तर्क। क्योंकि व्यापारादिक विषे तो हिंसादिक

होय हैं । इस उपाय विषे कोई हिंसादिक नहीं हैं। इसलिये व्यापारादिक से तो यह उपाय भला है। -:(तिस का उत्तर):- व्यापारादिक विषे तो बाह्य पाप विशेष दीखे है और इस उपाय विषे अन्तरङ्ग पाप बहुत होय हैं। इसलिये इस को व्यापारादिक से भी अति निन्द्य जानना। आगे कोई पूछे कि शृङ्गार सहित लोकों को अवलोकन कर विषयों की अभिलाषा जीवन कै उपजे है। सो कैसे विषय जीते जायें तब गुरु उत्तर कहे हैं :-

छन्दः—दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं
स्वल्पोऽप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम्।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥ १९३ ॥

अर्थ—जैसे अल्प सचिक्कण वस्तु का सेवन जो अयोग्य आचरण तिसके करने वाले रोगी कै दोष उत्पन्न होय है और जो घृतादि स्निग्ध वस्तु का सेवन नहीं करता उसकै दोष नहीं उपजे है तैसे हे भव्य ! यह अल्प विषयाभिलाषी पना भी तेरै महा अनर्थ उपजावे है और

यदि तू विषयाभिलाषी न हो तो तेरे कोई भी अनर्थ न होय है इसलिये तू लोगों को शृङ्गार सहित देख कर विषयाभिलाषी क्यों होय है अर्थात् तुझे विषयाभिलाषी होना योग्य नहीं।

भावार्थ–जैसे अज्ञानी जीव लोगों को शृङ्गारादिक सहित देख कर विषयों की वांछा करे हैं। तैसे तू कदाचित् मत कर क्योंकि यह अल्पभी विषयाभिलाष तुझे महा दुःख का कारण है। जैसे कोई रोगी सचिक्कण वस्तु का किञ्चित् सेवन भी करे तो उस के रोग की अति वृद्धि होय इसलिये रोगी को सञ्चिक्कण वस्तुका सेवन उचित नहीं तैसे विवेकी जीवों को विषयाभि-लाषी होना उचित नहीं। आगे कहे हैं कि सर्व जीवों कै दुःखदायक वस्तुओं में अरुचि होय है इसलिये तुझे दुःखदायी विषयों विषे अभिलाषा करनी योग्य नहीं :–

छन्दः–अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं
सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्योजहाति जनोप्ययम्।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे भवे
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः॥ १९४

अर्थ–जैसे कोई अहितियों में प्रीति करने वाला मनुष्य अपनी प्यारी स्त्री को भी उस का दुराचार सुन कर उस को तत्काल आप ही तजे है। तैसे आत्मकल्याण विषे सावधान जो विवेकी पुरुष वह इन विषयों का भव भव विषै प्रत्यक्ष दोष देख कर विषय रूपी विष वाले भोजन के ग्रासों का अभ्यास कैसे करे है अर्थात् जैसे कोई आत्महितैषी भोजन में विषादिक दोष देख कर उसके ग्रासों को नहीं भक्षण करे है तैसे आत्म कल्याण को चाहने वाला पण्डित विषयों का भव भव विषे दोष देख कर इन को तजे है॥

भावार्थ–जैसे किसी की स्त्री से अधिक प्रीति होय और वह उस की दुराचारणी सुने तो तब वह उस को तत्काल तजे। तैसे जो पण्डित विवेकी आत्मा हैं, वह भव भव विषे विषयों के दोष देख कर कैसे विषयानुरागी होंय अर्थात् सर्वथा न होंय और जैसे कोई आत्महितैषी पुरुष एक वार भी भोजन में विष देख कर उसके ग्रासों को वार वार नहीं भक्षण करे है, तैसे जो सुबुद्धि पण्डित पुरुष हैं वह एक वार भी इन विषयों का दोष देख कर इन को भव भव में दुःखदायी जान कर इन से अनुराग नहीं करे हैं। तथा जैसे विष सहित भोजन मीठा तो लागे। परन्तु प्राण हरे तैसे यह विषय रमणीक तो भासे हैं परन्तु अनन्तभवों में प्राण हरे हैं इसलिये यह विषय त्यागने ही योग्य हैं। आगे कहे हैं कि जिस समय तू विषयों का अ-

भ्यास(सेवन) करे है उस समय और जब इनसे रहित होय है तब तिस समय कैसा होय है :-

छन्दः—आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन्प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना १९५

अर्थ—हे आत्मन् आत्मज्ञान के लोपन हारे जो विषय कषायादिक उन में प्रवृत्ति कर तू चिरकाल से दुराचारी भया है और जब तू आत्मा के सम्पूर्ण कल्याण के कारण हारे जो ज्ञान वैराग्यादिक अपने निज भाव उन को अङ्गीकार करे तब तू उन के अङ्गीकार करने से श्रेष्ठ आत्मा ही को पावे है। और ऐसी जो परमात्मदशा उस को प्राप्त होता हुवा केवल ज्ञान स्वरूप भया आप कर उपजा जो आत्म सुख तिस विषे शोभायमान हुवा अपने शुद्धात्मा-भाव कर अपने अध्यात्म स्वरूप विषे तिष्टेगा॥

भावार्थ—जबलग तेरे बहिरात्म दशा है। तबलग विषय कषायों के सेवन कर दुराचारी है।

और जब सकल कल्याण रूप ज्ञान वैराग्यादिक का आचरण करे है, तब अन्तरात्मा होय कर परमात्म पद को पावेहै। तहां केवल ज्ञानरूप भया सन्ता अनन्त सुख विषे निश्चल तिष्टेहै। आगे कहे हैं, कि जीव कै सदा काल दुःख का कारण जो शरीर है, उस के अभाव के निमित्त शास्त्रोक्त विधि कर यत्न करना योग्य है :–

छन्दः–अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित
स्ततोऽनशनसामिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः।
क्रमेण विलयावधिस्थिरतपोविशेषैरिदं
कदर्थय शरीरकंरिपुमिवाद्य हस्तागतम् ॥ १९६ ॥

अर्थ–इस जगत् विषे इस शरीर ने तुझ को आगे अनन्त काल दास (गुलाम) की तरह भ्रमाया है। इसलिये अब तू उपवास और अल्पाहार तथा रस परित्यागादि विधिरूप तप के विशेष कर निरन्तर क्रम से (सिलसिलेवार कायदे से) मरण पर्यंत इस को क्षीण कर, जैसे कोई हाथ आये शत्रु को क्षीण करे तैसे तू इस शरीर रूपी शत्रु को क्षीण कर पहिले तुझे इस

शरीर ने अनन्तकाल तक दासवत् भव भव विषे भटकाया। और तूने इस के सम्बन्ध से अनेक दुःख पाये। इसलिये अब तू जैसे कोई हाथ आये वैरी को क्षीण करे तैसे तू नाना प्रकार तप कर इस शरीर को क्षीण कर। आगे कहे हैं कि इस ससार विषे जो कुछ अनर्थ की परम्परा है तिस का मूल कारण यह शरीर है :-

छन्दः—आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि
काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषमाश्च मान।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु
मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥ १९७ ॥

अर्थ—प्रथम तो शरीर की उत्पत्ति होय है, तिस शरीर विषे यह दुष्ट इन्द्रियें विषयों को वांछे हैं। और वह विषय महन्तता (मान) की हानि करे हैं। और महाक्लेश के कारण हैं। और भय के देन हारे हैं, और पाप के उपजावन हारे हैं, और नरक निगोदादिक कुयोनियों के दायक हैं, इसलिये यह शरीर ही अनर्थ की परम्परा का मूलकारण है॥

भावार्थ—संसार दशा विषे यह जीव पूर्व शरीर को त्याग नवीन शरीर को धारण करे है। सो शरीर विषे यह दुष्ट इन्द्रियें अपने अपने विषयों को वांछे हैं सो वह विषय अपमान के कारण क्लेश के कर्त्ता भयकारी पाप की उपजावन हारे कुगति के देन हारे हैं। इसलिये यह शरीर ही अनर्थ की परम्परा का मूल कारण जानना। आगे कहे हैं कि ऐसे शरीर को पोषण कर अज्ञानी जीव क्या करे हैं :—

छन्दः—शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम्॥१९८

अर्थ—अहो लोक में मूर्ख जीवों को क्या दुष्कर (मुशकिल) है शरीर को भी पोषें, और विषयों को भी सेवें, सो मूर्खों को कुछ भी विवेक नहीं विष से जीया चाहे हैं॥

भावार्थ—अविवेकियों को पापका भय नहीं, और विचार भी नहीं, बिना विचारे न करने योग्य जो कार्य्य होय सो भी करें परन्तु जो पण्डित विवेकी हैं वह शरीर से अधिक प्रेम न करे हैं और नाना प्रकार सामग्री कर इस को न पोषे हैं और विषयों को न सेवें हैं और अकार्य्य (बुरे काम) से डरें हैं और जो मूढ जन हैं वह शरीर को अधिक पोषे हैं और विषयों को सेवें हैं और न

करने योग्य कार्य्य में अयोग्यकी शङ्का न करे हैं सो जो विषयोंको सेवे हैं, वह विष खाय जिया चाहे हैं। आगे कहे हैं कि कलिकाल के दोष से मुनि शरीर को तपादिक कर पीड़ा उपजावते हुए पर्वत की गुफादिक जो काय क्लेश के स्थानक हैं उनको तज कर ग्राम के समीप आय वसे हैं:—

छन्दः—इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्य्यां यथा मृगाः।
बनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९९ ॥

अर्थ—जैसे मृगादिक वन में जहां तहां भ्रमण कर सिंहादिक के भय से रात्रि विषे वन से ग्राम के समीप आय रहे हैं तैसे कलिकाल विषे मुनि भी दिन विषे वन निवास कर रात्रि को ग्राम के समीप आवें हैं, सो हाय हाय यह बड़ा कष्ट है। कि महा निर्भय मुनि भी मृगों की न्याईं ग्राम के समीप आय वसे हैं ॥

भावार्थ—मृगों की यह रीति है कि दिन को वन विषे विचरें और रात्रि को ग्राम के निकट आय वसें हैं तैसे कलिकाल विषे मुनि भी रात्रि विषे ग्रामके समीप निवास करें हैं सो यहवड़ा दोष है। मुनियों को तो गिरिशिखर और गिरि गुफा, विषम वन नदियों के तट इत्यादि

निर्ज्जन स्थानक ही विषे रहना योग्य है। आगे कहे हैं, कि तप को ग्रह कर जो इन्द्रियों के वशीभूत होय हैं उन से गृहस्थ अवस्था ही श्रेष्ठ है :–

छन्दः–वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
सुस्त्रीकटाक्षलुण्टाकैर्लुप्तवैराग्यसंपदः॥ २००॥

अर्थ–इस जगत् विषे स्त्रियों के जो कटाक्ष सोई भये लुटेरे तिन कर लूटी गई है वैराग्य सम्पदा जिस की और होनहार है, संसार में परिभ्रमण जिस के ऐसे तप से तो गृहस्थपना ही श्रेष्ठ है॥

भावार्थ–गृहस्थ अवस्था विषे तो निज स्त्री का सेवन है परन्तु जो तप को धारकर नगर की स्त्रियों के जो नेत्र तिन के जो कटाक्ष (दृष्टि) सो भये लुटेरे तिन कर लूटी गई है वैराग्य सम्पदा जिस की ऐसे तपस्वी से तो गृहस्थी ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि ऐसा तप संसार ही का कारण है। आगे कहे हैं, कि इस शरीर के योग से तू स्त्री का अनुरागी होय कर दुःखी भया, सो यह शरीरादिक तेरे साथ एक पांव भी न जाय हैं इसलिये शरीरादिक से स्नेह तज :–

छन्दः–स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयंस्त्यक्तलज्जाभिमानः
सम्प्राप्तोस्मिन् परिभवशतैर्दुःखमेतत् कलत्रम्।
नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलुब्धोसि भूयः
सख्यं साधो यदि हि मतिमान्माऽग्रहीर्विग्रहेण॥ २०१

अर्थ–हे भव्य ! जो तू इस शरीर के होते सन्ते अपना अर्थ जो शुद्धोपयोग रूप आत्म कल्याण अथवा पञ्चमहाव्रत रूपी धर्म्म तथा अणुव्रत श्रावक का धर्म्म तिन के नाश को न गिणता हुवा सैंकड़ों अपमान करवा कर भी जिस स्त्री के सयोग को प्राप्त भया सो यह स्त्री का सम्बन्ध ही तेरे महा दुःख का मूल है और तूने लज्जा और अभिमान (अयाचीवृत्ति अर्थात् बिना मांगे गुजारा करना) तज दिये हैं सो तू स्त्री के सङ्ग से निर्ल्लज्ज और याचक भया इस समान और दीनता नहीं है सो तूने तो शरीर के अर्थ अपना अर्थ (कर्तव्य) खोया और यह तो तेरे सङ्ग एक पांव भी न जाय, सो तू ऐसा क्यों ठगा गया है। जो बारम्बार इस ही से प्रीति करे है अब तुझे समझावे हैं कि यदि तू बुद्धिमान् है तो शरीर से प्रीति मत कर॥

भावार्थ-तू तो शरीर का नाना प्रकार पोषण करे है। और इस के सङ्ग में तू स्त्री का अनुरागी होय निर्लज्ज और दीन भया है। सो शरीर तो तेरे साथ एक पांव भी न जाय है इसलिये हे भव्य! तू इस देह से स्नेह तज और देह के प्रसङ्गी जो स्त्री पुत्रादिक हैं, उन से भी प्रीति तज। आगे कहे हैं कि जब मूर्तीक और मूर्तीक पदार्थों में भी परस्पर मिलाप होते हुवे उन का भेद न मिटे है अर्थात् किसी का लक्षण भी किसी से न मिले है तो फिर तू मूर्तीक और यह अमूर्तीक कैसे एक होयेंगे, यह तेरे जो प्रतीति न पावे है सो यह तेरी बड़ी भूल है:-

छन्दः-न कोऽप्यन्योन्येन व्रजति समवायं गुणवता
गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरसौ।
न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमति
स्ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखे भववने ॥ २०२

अर्थ-यह प्रत्यक्ष है कि कोई द्रव्य भी किसी द्रव्य से एकता के भाव को प्राप्त न होय

है और तू कर्म्म के योग से रूपी पदार्थों के साथ ममत्व भाव को प्राप्त भया है सो जिन शरीरादिक पदार्थों में आसक्त होय तू एकता जान प्रवर्त्या है। सो वह पुद्गल तेरे रूप नहीं है तू निर्बुद्धि हुआ वृथा ही एकता माने है। इस अभेद बुद्धि कर तिन में आसक्त भया जो तू सो भवरूप वन विषे बहुत दु:खी होवेगा छेदा जायगा भेदा जायगा, और भव भव में दु:ख भोगेगा। इसलिये देहादिक से स्नेह तज ॥

भावार्थ—रूपी पदार्थ जो परमाणु हैं सो सर्व भिन्न भिन्न हैं। यद्यपि मिल कर स्कन्ध रूप होय हैं, तथापि न्यारे न्यारे हैं सो तू अमूर्त्तीक पदार्थ है वह तेरे साथ कैसे मिलें और तू उन से कैसे मिले इसलिये तू इन से राग तज। आगे कहे हैं, कि पूर्व जिसका वर्णन किया है, तो जब वह शरीर ही ऐसा है तो तिस विषे ममता बुद्धि कर आशा क्यों करनी :—

छन्द:—माता(जनि:)जाति: पिता मृत्यु राधिव्याधी सहोद्गतौ।
प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥ २०३

अर्थ—कैसा है शरीर उत्पत्ति तो जिस की माता है, और मरण जिस का पिता है। और आधि कहिये मन का सोच, व्याधि कहिये वायु, पित्त, कफ आदि रोग यही जिस के

भाइ हैं औरअन्त विषे जरा मित्र है, यह शरीर तो ऐसा तौभी इस शरीर विषे जो तेरी आशा है, सो यह बड़ा आश्चर्य्य है ॥

भावार्थ–शरीर तो जन्म मरण आधि व्याधि और जरा रूप है। और तू अजर अमर अनादि निधन अखण्ड अव्याबाध है, इसलिये तेरा और इस का क्या सम्बन्ध है। आगे कहे हैं, कि तू तो शुद्ध बुद्ध स्वरूप है, परन्तु शरीर कर अशुद्धता को प्राप्त भया :–

छन्दः–शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्त्तो
प्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि ।
मूर्त्तं सदाशुचि विचेतनमन्यदत्र
किं वा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥ २०४ ॥

अर्थ–हे चिदानन्द ! तू तो शुद्ध कहिये निर्म्मल है। और समस्त निज और पर का ज्ञाता है। अमूर्त्तीक है परन्तु इस जड़रूपी अशुचि शरीर ने तुझे अपवित्र किया है और इस मूर्त्तीक सदाअशुचि अचेतन शरीर ने ही अन्य जो केसर कपूरादिक सुगन्धित वस्तु हैं

उन को भी दुर्गन्धित किया है। इसलिये धिक्कार है धिक्कार है इस शरीर को ॥

भावार्थ-जिस देह के सम्बन्ध से केसर करपूरादि सुगन्ध द्रव्य भी दुर्गन्धित हो जाय हैं उस शरीर के सम्बन्ध से तू महा दुःखी भया और चार गति के दुःख भोगे अर्थात् अशुचि अपावन देह को धारण कर अशुचि कहाया और निन्द्य कहाया। इसलिये इस शरीर से प्रेम तज धिक्कार है, इस शरीर को जिस के प्रसंग कर तू समार वन विषे भ्रमण कर रहा है। आगे कहे हैं, कि इस शरीर विषे तू अनुराग बुद्धि कर नष्ट भया निन्द्य शरीर को अनिन्द्य जाना:-

छन्दः-हा हतोसितरां जन्तो येनास्मि तव साम्प्रतम्।
ज्ञानं कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसः ॥ २०५

अर्थ-हाय हाय हे प्राणी तू अत्यन्त ठगाया गया है और नष्ट भया है इस शरीर के ममत्व कर तू अतिदुःखी भया है। सो इस काया को अशुचि जानना यह ही ज्ञान है और शरीर से ममत्व छोड़ना यही बडा साहस है ॥

भावार्थ-हे आत्मन् तू अनादि काल से अपने स्वरूप को न जानता थका पर को अपना मान कर नष्ट भया है सो यह शरीर अशुचि और तू महापवित्र सो तेरा और इस का क्या

सम्बन्ध है। इसलिये इस देह से स्नेह तज अर्थात् निर्ममत्व हो। ताकि फिर शरीर का धारण न हो। आगे कहे हैं, कि यद्यपि साधुओं के शरीर से ममत्व नहीं है तथापि प्रबल रोग के उदय से चित्त विषे व्याकुलता होती होगी यह व्याख्यान दो श्लोकों में करे हैं :-

छन्दः—अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न मुनिः खेदमृच्छति।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेऽपि नदीजले ॥ २०६ ॥
जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा
नोचेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्।
लग्नाग्निमावसति वह्निमपोह्य गेही
निर्हाय वा व्रजति तत्र सुधीः किमास्ते ॥ २०७

अर्थ-मुनि रोगादिक की वृद्धि कर भी खेद को प्राप्त नहीं होय है जैसे नदी का जल वृद्धि को प्राप्त भया तथापि दृढ़ नाव विषे तिष्ठया जो जीव उस को क्या फिकार है तैसे जो

ज्ञानी मुनि हैं उन को रोगादिक की वृद्धि विषे क्या विकल्प। परन्तु जो अणुव्रती श्रावक हैं उन के कदाचित् रोग उपजे तो वह निर्दोष औषधादिक के योग से रोग को शान्त कर शरीर विषे वसे हैं और जब प्रबल रोग की शान्तता न होती जाने तो उस समय अनशनादिक वृत्तिकर शरीर को तजे हैं यह दोय ही रीति हैं जैसे जब घर को अग्नि लगी तब सुबुद्धि तिस को बुझा कर घर में बसे है और वुझती न जाने तो घर छोड़ परे जाय है तैसे शरीर रहता जाने तो योग्य औषधादिक कर रोग की निवृत्ति करे हैं और जो शरीर को रहता न जानें तो निर्ममत्व होय कर त्यागे हैं :-

भावार्थ–श्रावक की तो दोय रीति हैं, पवित्र औषधादिक का सेवन करे तथा न भी सेवन करे। और साधु इच्छा कर तो औषधि का सेवन न करें। परन्तु जो श्रावक निर्दोष औषध आहारादिक विषे दें तो नीराग भावों से लेवे हैं राग भाव न करे हैं। आगे कहे हैं कि औषधादिक कर रोग न मिटे तो ज्ञानी जीवों को शरीर के नाश होने का भय न करना, क्योंकि मरण का भय अज्ञानियों के ही होय है :-

छन्दः–शिरस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।

शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥ २०८

अर्थ–जैसे कोई सिर का बोझ उतार कर कान्धे पर धर सुख माने है। तैसे जगत् के जीव रोग का भार उतार कर शरीर के भार कर सुख माने हैं॥

भावार्थ–जगत् के जीव रोग गये शरीर में सुख माने हैं। और ज्ञानी जीव शरीर का सम्बन्ध ही रोग जाने हैं। जैसा सिर का भार तैसा ही कान्धे का भार इसी प्रकार जैसा रोग का दुःख तैसा ही देह धारण का दुःख है इसलिये शरीर जाय तो विषाद नहीं करणा। आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करे हैं :–

छन्दः–यावदस्ति प्रतीकारस्तावत्कुर्यात् प्रतिक्रियाम्।
तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया ॥ २०९ ॥

अर्थ–जब तक ज्ञानी जीवों को योग्य औषधादिक का ग्रहण होसके तो तब तक करें परन्तु जो रोग न मिटे तो फिकर न करें। अर्थात् शरीर से उदास होना, निर्विकल्प रहना यही बड़ा यत्न है॥

भावार्थ-जितनी शरीर की आयु है उतनी ही स्थिति होय है। और स्थिति पूर्ण भये यह शरीर कदाचित् भी न रहे है इसलिये इस के नाश का हर्ष वा शोक नहीं करना। आगे शिष्य पूछे है, कि किस उपाय कर शरीर से उदासीनता करनी चाहिये, सो उस को समझावे हैं :-

छन्द:-यदा यदा भवेदजन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति।
शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः ॥ २१०

अर्थ-तैजस और कार्म्मण जो मूल शरीर हैं। तिन के योग से यह जीव नये नये शरीर धारण कर संसार में भ्रमण करे है जब मनुष्य और तिर्यञ्च होय है तब तो औदारिक (पेट वाला) शरीर धारे है और जब देवनारकी होय है तब वैक्रियक (विक्रिया वाले अर्थात् जो अपने रूप तथा शरीर को दूसरे रूप कर सके) धारें है और जब तेजस कार्म्मण के अभाव से शरीर न धरे है तब मुक्त होय है और शरीर का जो धारण सो ही संसार है इसलिये शरीर का सम्बन्ध त्याज्य ही है। तुच्छ विकल्पों के करने से क्या होय है॥

भावार्थ-शरीर के धारने वाले संसारी हैं और शरीर के न धारने वाले अर्थात् अशरीरी सिद्ध हैं इस लिये शरीर से ममत्व तजना योग्य है। आगे कहे हैं कि यह जीव तो

शरीर का उपकार करे है। और यह शरीर उस से उलटा इस जीव को दुःख देवे है इसलिये इस शरीर का ममत्व तजना योग्य है:—

छन्दः—नयन्सर्वाशुचिप्रायं शरीरमपि पूज्यताम्।
सोप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत्॥ २११

अर्थ—सर्व अशुचि का मूल जो यह शरीर तिसको यह आत्मा पूज्य पद को प्राप्त करे है। और शरीर आत्मा को चाण्डालादिक के जन्म कर अस्पृश्य अर्थात् न छूनेके लायक करे है। इसलिये इस के दुराचार को धिक्कार हो॥

भावार्थ—आत्मा तो इस मलिन शरीर का उपकार करेहै। और शरीर अशुभ को उपजाय कर इस जीवको कुयोनियों में डाल कर ऐसा करेहै कि कोई भी उसे मेट न सकेहै। इसलिये शरीर को धिक्कारहै। अर्थात् आत्मा तो शरीर को संयमादि साधन कर पूज्य करे है। और शरीर अज्ञान दशा विषे जीव को नरक निगोद तिर्य्यञ्च तथा कुमानुषादिक जन्मकर अस्पृश्य करे है। सो यह आश्चर्य्य की वार्ता नहीं, क्योंकि जो भला होय सो भला करे। और जो बुरा होय सो बुराकरे। आगे दो श्लोकों में कहेहैं, कि संसारी जीव शरीरादिक तीन भागों को धरेहैं॥

छन्दः—रसादिराद्योभागः स्यात् ज्ञानावृत्त्यादिरन्वितः ।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्य्येवं त्रयात्मकः ॥ २१२
भागत्रयमिदं नित्यमात्मानं बन्धवर्त्तिनम् ।
भागद्वयात् पृथक्कर्त्तुं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥ २१३ ॥

अर्थ—आदि का भाग तो सप्त धातुमय ही शरीर है ता पीछे दूसरा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म्म का भाग है । और तीसरा भाग ज्ञानादिक निज भाव का है । इस प्रकार संसारी जीव तीन भाग को धरें हैं । सो इन तीन भाग में ही संसारी जीवों में जो जीव शरीर का भाग और कर्म्म का भाग इन दोय भागों से जीव को पृथक् करने की विधि जाने सो तत्त्वज्ञानी है॥

भावार्थ—शरीर और शरीर के मूल कारण जो कर्म्म हैं उन से जो जीव जुदा हो कर ज्ञानादिक निज भावों विषे रमे है सोई तत्त्वज्ञानी है और जो परवस्तु विषे रत होय है सो अज्ञानी है । आगे शिष्य प्रश्न करे है, कि दोय भागों से आत्मा का जुदा करना तप के आचरण से होय है । सो तप करना कठिन है सो उस को समझावें हैं :—

छन्दः–करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन्न जयेद्यत्तदज्ञता ॥ २१४

अर्थ–यदि तू चिरकाल तक दुर्द्धर तप करने और क्लेश सहिने को असमर्थ हैं तो मनही कर जीते जायें ऐसे जो क्रोध मान माया लोभादिक वैरी हैं उनको तो जीत, और न जीतैं तो तेरी बड़ी अज्ञानता है। अर्थात् कषाय जीतने में तो काय क्लेश नहीं, मन ही की सुलट न है ॥

भावार्थ–शरीर के क्लेश कर तप को तू कठिन जाने है। सो तू दुर्द्धर तप न कर सकै तो मन को वश कर के कषायों को क्षीण कर, क्योंकि कषाय जीतने में काय क्लेश नहीं है केवल मन ही का परिणमन है। क्योंकि यह कषाय जीव के शत्रु हैं इसलिये इन को अवश्य ही जीतना योग्य है। आगे कहे हैं कि जब तक कषायों को न जीते तब तक मुक्ति के कारण जो उत्तम क्षमादिक गुण उन की प्राप्ति तुझे अति दुर्लभ है :–

छन्दः–हृदय सरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।

अयति गुणगणोयं तन्न तावद्विशङ्कं
संयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥ २१५

अर्थ–जब तक तेरे निर्म्मल अगाध हृदय रूप सरोवर विषे निश्चय से कषाय रूप नाकूओं का समूह वसे है, तव तक गुणों का समूह निशंकपने प्रवेश न कर सके है इसलिये शम, दम, यम भेद कर कषायों के जीतने का यत्न कर शम नाम समता भाव यानि शान्त परिणाम का है, दम नाम इन्द्रियों के दमन यानि रोकने का है और यम नाम इन पांचों का है यानि हिंसा न करनी, चोरी न करनी, झूठ न वोलना, ब्रह्मचर्य्य रखना, और परिग्रह का त्याग करना ॥

भावार्थ–जब तक तेरे हृदय विषे कषायों का संचार रहे तव तक शम दमादिक गुणों का लेश मात्र भी अङ्गीकार नहीं होय सके है। इस लिये कल्याण के निमित्त कषायों को तज। आगे कषायों का जीतना सोई मोक्ष का कारण है, ऐसा उपदेश देते हुए कषायों के आधीन पुरुषों की हांसी करें हैं :–

छन्दः–हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियः तां सिद्धिमामुत्रिकीं

वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शसन्ति शान्तं मनः।
तेषामाखुविड़ालिकेति तदिदं धिग्धिक्कलेः प्राभवं
येनैतेपि फलद्वयप्रलयनाद्दूरं विपर्यासिताः ॥ २१६

अर्थ–जो सुबुद्धि (अकलमन्द) जीव इस भव विषे निश्चय कर कारण कहिये परिग्रह का त्याग और कार्य्य कहिये मन की शान्तता को त्याग कर परलोक की सिद्धि को चाहते हुवे अपने आप ही अपने मन विकल्पो साधनो कर यह कहे हैं कि हमारा मन शान्त है सो उन का ऐसा कहना महा विरुद्ध है क्योंकि जैसे विलाव और मूसे का अनादि से परस्पर वैर है तैसे ही क्रोधादिक और उपशान्ततादि गुणों में परस्पर विरोध है इसलिये बारम्बार धिक्कार हो इस कलिकाल के प्रभाव को कि जिस के प्रभाव से सुबुद्धि भी इस लोक में दोनों फलों को नाश से अत्यन्त ठगाये गये हैं ॥

भावार्थ–जो कषाय तजे विना शान्तचित्त कहावें हैं। सो वृथा ही अपनी प्रशंसा करे हैं क्योंकि कषायों के और उपशान्तता के परस्पर विरोध है। इसलिये जो बुद्धिमान् कहाय कर

आत्म कल्याण न करें हैं सो दोनों जन्म विगाड़े हैं। अर्थात् अत्यन्त ठगाये गये हैं। आगे श्री गुरु शिष्य को शिक्षा करे हैं। कि यदि तू महातप और ज्ञान कर सयुक्त है, और कषायों के जीतने वाला है तो, अहंकार का लेश भी न कर अर्थात् अहंकार को मूल से उखेड़ डाल :-

छन्दः—उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवंस्त्वामगच्छन्कषायाः
प्राभूद्बोधोप्यगाधो जलमिव जलधौ किन्तु दुर्लंघ्यमन्यैः।
निर्व्यूढेपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग्निम्नदेशेष्ववश्यं
मात्सर्यं ते स्वतुल्यैर्भवति परवशाद्दुर्जयं तज्जहीहि २१७

अर्थ—तू तप विषे उद्यमी भया है। इसलिये कषाय तेरे से अति अपमान को प्राप्त भये हैं और जैसे समुद्र विषे जल अगाध होय है तैसे तेरे ज्ञान अगाध भया है। परन्तु एक तुझे शिक्षा करे हैं। यह बात औरों कर अगम्य है इस दोष को विरले ही तजे हैं जैसे जल के प्रवाह विषे तुच्छ स्थानक विषे जो निःसंदेह थोंडा जल है, सो गूढ है अर्थात् लोकन के जानने में

नहीं आवे है तैसे तेरे कर्म्म के वश से अपने बराबर वालों में अद्वेषस कहिये मत्सर (हसद) भाव होय है सो यह अति दुर्ज्जय है इस को तू त्याग ॥

भावार्थ–जो तू तपस्वी है, मन्द कषायी है और गम्भीर चित्त है तो मत्सर अर्थात् अद्वेषस का भाव तज। अपने बराबर तथा अधिक विषे अद्वेषस का भाव मत करे। यह बड़ा भारी दोष है इस को तू मर्ज़ीया तज। आगे कोई प्रश्न करे कि इन कषायों के उत्पन्न होने से जीव का क्या अकल्याण होय है, तिसको एक वैष्णव मत के दृष्टान्त द्वारा समझावे हैं कि काम क्रोधादिक के उदय होने से जीव का इस प्रकार अकल्याण होयहै सो प्रथम क्रोध के उदय विषे अकल्याण दिखावें हैं :–

छन्दः–चित्तस्थमप्यनवबुध्य हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥ २१८ ॥

अर्थ—देखो चित्त में रहने वाले काम को न जान कर हर ने क्रोध कर किसी वाह्य पदार्थ को काम जान भस्म किया, सो काम न मूवा क्योंकि काम के योग से आप स्वयं सराग अवस्था को प्राप्त भया अर्थात् काम की करी हुई घोर वेदना सही इसलिये क्रोध के उदय से किस के कार्य्य की हानि न होय अर्थात् सर्व के ही होय है ॥

भावार्थ—जैसे शिव जी ने क्रोधित होकर एक वाह्य मूर्त्ति को काम जान भस्म किया परन्तु काम का स्थान जो चित्त में है उस को न जाना इसलिये काम न मूवा और क्रोध के वश होकर अपना कार्य्य जो चित्त में रहने वाले काम का भस्म करना था उस को भूल गये तिस से सराग भाव को आप स्वयं प्राप्त हो कर काम की वेदना सही इसी प्रकार हर जीव के क्रोध के उदय से सर्व कार्य्य का नाश होय है ॥

नोट—यहां श्री गुणभद्र स्वामी ने एक वैष्णव मत के दृष्टान्त कर क्रोध को अकल्याणकारी सिद्ध किया है क्योंकि कवियों का अभिप्राय अपने प्रयोजन के सिद्ध करने की तरफ होता है इसलिये यहां वैष्णव मत का दृष्टान्त देख कर किसी जैनी को आशंका नहीं करनी, यहां केवल क्रोध से उत्पन्न हुई जो हानि उस पर दृष्टि है ॥

आगे मान के उदय विषे अकाज दिखावे हैं :—

छन्दः—चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुक्तः ।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानोमनागपि हतिं महतीं करोति ॥ २१९ ॥

अर्थ—देखो वाहुवली ने अपनी दाहिनी भुजा पर तिष्टा जो चक्र उस को तज कर जिन दीक्षा आचरी परन्तु चिरकाल तक कुछ एक संज्वलन मान का उदय रहा तिस कर वर्ष पर्यंन्त केवल ज्ञान न उपजा। और महा कायक्लेश किया, तो भी मान गये विना मुक्त भये न मान गए पिछे ही तप कर ससार से मुक्त भये इस लिये मान त्याज्य ही है। क्योंकि यह तुच्छ मात्र मान भी महा मोटी हानि करे है ॥

भावार्थ—जो पुरुष तन, धन, रूप, सम्पदा, यौवन, राज्य, लक्ष्मी इन का गर्व करें हैं सो यह सर्व क्षण भङ्गुर हैं क्योंकि आत्मा तो निश्चय कर सिद्ध समान है, त्रैलोक्य का आभूषण है। इस कै मान काहे का इसलिये मान ही मोक्ष का विघ्नकारी है। जब वाहुवली सारिखे तपस्वी

बलवान् विवेकी भी सूक्ष्म संज्वलन मान के उदय कर वर्ष पर्य्यन्त केवल न पावते भये। मान कणिका के जाने पर ही केवल उपजा तब औरों की क्या बात इस लिये मानत्याज्य ही है। आगे कहे हैं, कि जो विवेकी गुणों की महन्तता जाने हैं उन के तुच्छ मात्र भी मान नहीं होय है :-

छन्दः-सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमो
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गं गतिर्निर्वृते।
येषां प्रागजनीह तेपि निरहङ्काराः श्रुतेर्गोचरा
श्चित्रं सम्प्रति लेशतोपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः २२०

अर्थ-इस लोक में पहिले काल विषे ऐसे महासत्पुरुष भये हैं कि जिन के वचनों विषे सत्य और बुद्धि विषे शास्त्र हृदय विषे दया भुजा विषे शूरवीरता और पराक्रम और लक्ष्मी का याचकों के समूह विषे पूर्ण दान और निवृत्ति मार्ग (शान्ति के मार्ग) विषे गमन यह गुण होते भये तौभी अहंकार रहित ही शास्त्र विषे कहे हैं परन्तु यह बड़ा आश्चर्य्य है कि अवार्य (जो किसी से भी न हट सके) इस कलिकाल विषे जिन के लेश मात्र भी गुण नहीं है। तौभी

उन में अति उद्धता पाइये है। अर्थात् महा गर्व में मस्त हो रहे हैं॥

भावार्थ—पूर्व ही चतुर्थ काल विषे बड़े सत्यवादी शूरवीर दयावान् दातार और महा विरक्त पुरुष भये परन्तु तौभी उनको गर्वका लेश न भया। और अब रञ्च मात्र भी गुण नहीं, तौभी उद्धत हैं अर्थात् गर्ववन्त हैं सोयह बड़ा आश्चर्य्य है। आगे कहे हैं कि गर्व करना झूठा है, क्योंकि गर्व तो तब करे जब कोई अपने से अधिक न होवे :—

छन्दः—वसति भुवि समस्तं सापि संधारिताऽन्यै
रुदरमुपनिविष्टा सा च ते चापरस्य।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु॥ २२१॥

अर्थ—इस पृथ्वी विषे समस्त वसे हैं। और सर्व का आधार पृथ्वी है, सो त्रैलोक्य की भूमि घनोदधि, घनवात, तनवात इन तीन वात वलान के आधार है, पृथ्वी और वात वलय आकाश के उदर में हैं। सो अनन्त आकाश केवली के ज्ञान के अंश में लीन भया है इसलिये एक से

एक अधिक है। तातैं जगत् विषे आप से वहुतों को अधिक जान कौन गर्व करे अर्थात् विवेकी पुरुष कदापि गर्व न करे ॥

भावार्थ—एक से एक अधिक है। अर्थात् सर्व तो पृथ्वी के आधार हैं और पृथ्वी वातवलों अर्थात् पवन के आधार है और वातवलय आकाश के आधार हैं और आकाश समस्त ज्ञान में समाय रहा है। और संसारी जीवों में भी विभूति कर एक से एक अधिक है। जीव तत्त्व कर सब जीव समान हैं, इसलिये गर्व करना निरर्थक है ॥ आगे मायाचार के योग से जीव का अकल्याण दिखावें हैं :—

छन्दः—यशोमारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः।
सवत्सः कृष्णोऽभूत्कपटवटुवेषेण नितरा
मपि छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ॥ २२२ ॥

अर्थ—जैसे वहुत दूध को जरासा भी विष दूषित करे है तैसे अल्प कपट भी महा मोटे

गुणों का नाश करे है। देखो मारीच जो रावण का मन्त्री उस का यश कपट कर सोने का मृग होने से मलिन भया। और राजा युधिष्ठिर का अति निर्म्मल यश उस के मुख से यह वचन निकलने से कि "अश्वत्थामाहतः" न जानियें नर न जानियें कुञ्जर। इस मायाचार के वचन कर राजा युधिष्ठिर मित्रों में लघु भये।

भावार्थ–मायाचार कर मारीच रावण का मन्त्री स्वर्ण का मृग बनने से मृत्यु को प्राप्त भया और युधिष्ठिर सारखे जगद्विख्यात धर्मात्मा पुरुष भी "अश्वत्थामाहतः नरो वा कुञ्जरोवा" ऐसा वचन कहने से योग्य पुरुषों में लज्जा को प्राप्त भये इसलिये अल्प भी मायाचार बहुत से गुणों को हते है। लघुता और इसलिये माया-चार करना योग्य नहीं। आगे इसी अर्थ को पुष्ट करें हैं :-

छन्दः–भेयं मायामहागर्त्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥२२३

अर्थ–अहो भव्य जीव हो माया रूपी औंडे खाडे से डरो। यह खाडा मिथ्या भावरूपी अन्धकारमय है इस विषे क्रोधादि महादुष्ट सर्प्प छिपे हुए दीखते नहीं हैं॥

भावार्थ–जहां खाड़ा होय तहां अन्धकार भी होय है और उस में सर्प रहे हैं। सो यह

मायारूप खाडा अति ऊंचा है इस में मिथ्या ज्ञान रूपी अन्धकार है और क्रोधादिक रूप सर्प रहे हैं, इस लिये मायारूपी खाडे से बचना चाहिये अर्थात् कपट का त्याग करना ही श्रेष्ठ है। आगे फिर इस ही अर्थ को दृढ़ करे हैं :-

छन्दः-प्रच्छन्नपाप मम कोपि न वेत्ति धीमान्
ध्वंसं गुणस्य महतोपि हिमेति मंस्थाः।
कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहो
गूढोऽप्यबोधि न विधुः सविधुन्तुदः कैः ॥२२४॥

अर्थ-जैसे अपनी उज्वल किरणों कर जगत् के आताप को दूर करने वाला जो चंद्रमा है। सो ऐसे चन्द्रमा को जब राहू आच्छादिक करे है। तो तब उसको कौन नहीं जानता अपितु सर्व ही जानें हैं तैसे ही हे गुप्त पाप के करनेवाले जीव तू ऐसा मत विचार कि कोई बुद्धिमान् भी मेरे बड़े गुणों के नाश अर्थात् गुप्त पाप को नहीं जानता है अपितु सर्व ही जाने हैं॥

भावार्थ–हे जीव यह समझकर कि मेरे कपट अर्थात् गुप्त पापको कोई भी न जानेगा कपट मत कर क्योंकि पाप कभी भी छिपा नहीं रहता। आगे लोभ कषाय कर जीवका अकाज दिखावें हैं :–

**छन्दः–वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः ।
किल जडतया लोलोवालव्रजेऽविचलं स्थितः ।
बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः ।
परिणततृषां प्रायेणैवं विधाहि विपत्तयः ॥ २२५ ॥**

अर्थ–देखो वनचर जो भील अथवा व्याघ्र के भय से दौड़ते हुए चमर नामा जीव की पूंछ जब दैवयोग से (इत्फाकन) वेलों में उलझी तो वह मूढ़ अपने वालों का समूह जो पूञ्छ उसके लोभ सें खड़ा होय रहा सो वनचर ने प्राणों सें रहित किया। इसलिये जो तृष्णातुर हैं उनकै वाहुल्यता कर (अकसर करके) इस प्रकार विपत्तियें होय हैं ॥

भावार्थ–देखो जिस समय भीलादिक के भय से सुरांहगी भागती है तो उस समय

अचानक जब उसकी पूंछ वेलादिक में उलभ जाती है तो वह यह विचार कर कि यदि मैं भागूंगी तो मेरे बाल जो वेलादिक में उलभ गए हैं टूट जावेंगें इस लोभ कर वह वहां ही खड़ी हो जाने के कारण से भीलादिक बनचर जीवों कर मृत्यु को प्राप्त होय है, सो जब इस लोभ कर पशु सारखे तुच्छ जीव भी छेदे जाय हैं तो फिर मनुष्य की क्या कथा है कि जिस की आयु ही राती दिवस लोभ के विकल्पों में व्यतीत होय है और राज दण्डादिक से भी नहीं डरे है, इसलिये लोभ का अवश्य ही त्याग करना योग्य है। आगे कहे हैं कि जिन के अल्प ससार है वह अकल्याण की करन हारी जो कषाय उस को जीत कर ऐसी सामग्री को प्राप्त होय हैं :-

छन्दः—विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः ।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥ २२६

अर्थ–विषयों से विरक्तता और परिग्रह का त्याग कषायों का निग्रह शम कहिये शान्तता दम कहिये मन और इन्द्रियों का निरोध, यम कहिये यावत् जीव हिंसादिक पापों का त्याग इन का तो धारणा और तत्त्व का अभ्यास तपश्चरण का उद्यम, मन की वृत्ति का निरोध, जिनराज विषे भक्ति, जीवन की दया यह सामग्री विवेकी जीवों के संसार समुद्र का तट निकट आने से होय है ॥

भावार्थ–जिस समय जिस जीव के शम, दम, यम आदि गुण प्रगट होय हैं और कषायों का निग्रह होय है उस समय उस के निश्चय सेती अल्प संसार बाकी रहे है। आगे कहे हैं कि जिस के शम दम यमादिक गुण प्रगट होय हैं वह संसार के कष्टों को मूल से नाश करे है :–

छन्दः–यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥ २२७

अर्थ-यम कहिये जन्म से मरण पर्य्यन्त अयोग्य हिंसादिक क्रिया का त्याग और नियम कहिये घड़ी, पल, प्रहर, दिन, पक्ष, मास, चतुर्मास, वर्षादिक में सम्वर सो जो साधु यम नेमादि विषे तत्पर है और महाशान्त चित्त देहादिक वाह्य वस्तुओं से निवृत्त भया है भाव जिस का और समाधि कहिये निर्विकल्प दशा को प्राप्त भया है। और जिस के सर्व जीव मात्र विषे दया है और विहित कहिये शास्त्रोक्त अल्प है योग्य आहार जिस का और दूर करी है निद्रा जिस ने और निश्चय किया है, अध्यात्म का सार आत्मस्वभाव जिस ने और निरन्तर आत्म अनुभव विषे मग्न है सो ऐसा मुनि संसार के कष्टों को मूल से विध्वंस करे है॥

भावार्थ-पूर्वोक्त भाव को प्राप्त भया हुवा मुनि निश्चय सेती संसार परिभ्रमण के कष्टों का छेदन करे है। आगे कहे हैं कि ऐसे गुणों कर मण्डित जो मुनिराज हैं वह निश्चय सेती मुक्ति के भाजन होय हैं :-

छन्दः-समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः ।

स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥ २२८

अर्थ–भली भान्ति जाना है समस्त तजने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तुवों का स्वरूप जिन्होंने और हिंसादिक सर्व पापों से जो दूर हैं, और आत्म कल्याण के कारण जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग् चारित्र हैं उन विषे आरूढ है चित्त जिन का और शान्त अर्थात् निवृत्त हो गये हैं सर्व इन्द्रियों के विषय जिन के और जो अपने और पर के कल्याण करने वाला वचन बोले हैं। और सर्व संकल्प विकल्पों से जो रहित हैं सो ऐसे मुनिराज क्यों न मुक्ति के भाजन होवें अपितु निःसन्देह शिव सुख के भाजन होय हैं॥

भावार्थ–ऐसे मुनिराज अवश्य ही मुक्ति को पावे हैं। आगे कहे हैं कि यदि तू मुक्त हुवा चाहे है और मुक्ति के अर्थ रत्नत्रय का धारण किया है तो रत्नत्रय के भङ्ग से भय करना और जगत् को विषयासक्त देख आप विषयासक्त न होना :–

छन्दः–दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां पर-

स्तेषां भोगुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्न्नश्यति ।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वं तन्मुहुर्ज्जागृहि २२९

अर्थ—जो अविवेकी लोग विषय रूप राजा के दास भाव को प्राप्त भये हैं और गुण और दोषों के ज्ञान से शून्य है चित्त जिन का और जिन का आत्मा भी पराधीन है सो इन का क्या जाय परन्तु तेरे तो तीन भवन विषे उद्योत करन हारा रत्नत्रय धन है, इसलिये तुझे ही भय करना उचित है। क्योंकि इन्द्रिय रूपी चोर तेरे आस पास अर्थात् चौगिर्द फिर रहे हैं तिन कर जैसे न ठगा जावे तैसे यत्न कर ताके तेरी ज्ञानरूपी विभूति वह न छीन लेवें इसलिये जागित रहो ॥

भावार्थ—जिस के पास धन होय है उसी को चोरों का डर होय है, और धन रहित दरिद्री को चोरों का क्या भय, इसलिये जो अविवे की हैं उन का तो आत्मा भी पराधीन है, उनका इन्द्रियरूपी चोरों ने क्या चुराना है और तेरे तो सम्यक्ज्ञानआदिक रत्नत्रयरूप धन है

इसलिये तुझे चौगिर्द फ़िरते हुवे इन्द्रिय रूपी चोरों से डरना योग्य है अर्थात् इन्द्रियों के वश में मत आवे। आगे कहे हैं कि जब विषयों से तेरा मोह दूर हो गया है तो तब कमण्डलु पीछी आदि संयमोपकरण से भी अनुराग मत कर :—

छन्दः—रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो
मुह्येद्वृथा किमिति संयमसाधनेषु ।
धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं
पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥ २३०

अर्थ—हे मुने जब मनोज्ञ स्त्री आदि वस्तुवों विषे तेरा मोह दूर हो गया है तो फिर संयम के साधन जो पीछी आदि उन विषे क्यों वृथा मोह करे है। क्या बुद्धिमान् पुरुष रोग के भय से भोजन को त्याग कर औषध को पीकर कभी अजीर्ण रोग को प्राप्त हो सकता है अपितु कदापि नहीं ॥

भावार्थ—जैसे रोगी को रोग के भय से भोजन को त्याग कर मात्रा से अधिक औषधी

खाकर अजीर्ण रोग को उत्पन्न करना योग्य नहीं तैसे तपस्वी मुनों को संसार परिभ्रमण के भय से धन दौलत राजपाट स्त्री पुत्रादिकों को त्याग कर कमण्डलु पीछी आदि उपकरणों में मोह करना योग्य नहीं। आगे कहे हैं कि सर्व पदार्थों विषे निरमोही मुनि इस प्रकार आप को कृतार्थ माने है :—

छन्दः—तपःश्रुतमिति द्वयं बहिरुदीर्य्य रूढं यदा
कृषीफलमिवालये समुपनीयते स्वात्मनि।
कृषीबल इवोज्झितं करणचौरव्याधादिभि
स्तदा हि मनुते यतिः स्वकृतकृत्यतां धीरधीः ॥ २३१

अर्थ—जैसे किसाण क्षेत्र विषे बीज बोय कर कण की वृद्धि करे है सो जब चौरादिक की बाधा कर रहित अपने घर में अन्न ले कर आवे है। तब आप को कृतार्थ माने है तैसे साधु तप और श्रुत की वृद्धिकर इन्द्रियादिक चौरों की बाधा कर रहित जब आत्मस्वरूप विषे लवलीन होय तब अपने आप को कृतार्थ माने है॥

भावार्थ-जैसे किसाण अपने कर्त्तव्य की कृतार्थता तब ही माने है जब निराबाध अन्न घर में आय पडे। तैसे साधु धीरबुद्धि अपने संयम की कृतार्थता तब ही माने है जब इन्द्रियादिक चोरों की बाधा कर रहित तपश्रुत रूप बीज का फल ज्ञान रूप कण आप विषे लय करे अर्थात् अपने आप में समा जावे। आगे श्री गुरु शिष्य को शिक्षा दे हैं कि यदि किसी के मन में ऐसा विचार आवे कि श्रुत ज्ञान कर मेरै समस्त अर्थ का ज्ञान है, इसलिये आशा रूप शत्रु मेरा कुछ विघ्न करने को समर्थ नहीं सो उस को समझाइये है कि ऐसा जान कर आशारूप शत्रु से निर्भय रहना उचित नहीं :-

छन्दः-हृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं
नोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमरं निःशेषयाशाद्विषम्।
पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडवः
क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः २२२

अर्थ-यह आशा रूप शत्रु मेरे ज्ञानवन्त कै कुछ विघ्नकारी नहीं। इस प्रकार ज्ञान के

गर्व से आशारूप शत्रु को अल्प न गिनना, तीन जगत् का एक अद्वितीय (जिस के समान दूसरा कोई भी नहीं) वैरी महा भयकारी यह आशा रूपी शत्रु सर्वथा दूरही करना, तिस का दृष्टान्त कहे हैं। देखो अगाध है जल जिस विषे, ऐसा जो समुद्र उस को वड़वानल अग्नि बाधा उपजावे है अर्थात् सोखे है। इस प्रकार इस जगत् में जिसे शत्रु दवाय रखें उसे बाहुल्यता कर (अकसर करके) शान्ति कहां से होय ॥

भावार्थ—जिन के रञ्चमात्र भी शत्रु नहीं उन ही को निराबाध जानो। सो आशा तो प्रबल शत्रु है। इस के होतें शान्तता कहां से होय अपितु न होय इसलिये आशा का त्याग ही करना योग्य है। आगे कहे हैं कि जो तू आशारूप शत्रु को निर्मूल किया चाहे है तो सर्वथा मोह का परित्याग कर :—

छन्द:—स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचारित्रान्वितोपि न श्लाघ्यः।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥ २३३

अर्थ—जैसे दीपक स्नेह कहिये तेल तिस कर संयुक्त मलिन काजल को उप जावे है तैसे स्नेह कहिये मोह उस कर युक्त है, हृदय जिस का सो ऐसा पुरुष यद्यपि शास्त्र के ज्ञान

कर, तथा शुभ आचरण कर मण्डित है तोभी प्रशंसा योग्य नहीं क्योंकि काजल के समान जो मलिन कार्य्य पापरूप अशुभ कर्म्म उन का उपजावन हारा है ॥

भावार्थ–जैसे स्नेह (तैलादिक) कर संयुक्त दीपक मलिन काजल को उपजावे है। तैसे स्नेह (मोह) कर युक्त ज्ञानी पुरुष अशुभ कर्म उपजावे है तो जैसे स्नेह ने दीपक में काला काजल उपजाया तैसे ज्ञानी में भी स्नेह मलिन पाप रूप कर्म ही उपजावे है। इसलिये ऐसा जान कर जगत् से स्नेह तजना योग्य है। आगे कहे हैं कि तू राग द्वेष के वश हो कर वैराग्य अवस्था को न प्राप्त होता हुवा क्लेश भोगवे है :–

छन्दः–रतेररतिमायातः पुनारतमुपागतः
तृतीयपदमप्राप्यबालिशो वत सीदसि ॥ २३४ ॥

अर्थ–हे जीव तू राग से द्वेष में आवे है। और द्वेष से फिर राग में आवे है सो यह बड़ा कष्ट है कि तीसरा पद जो राग द्वेष का अभाव अर्थात् उदासीन रूप विरागता उस को न पाय कर तू मूर्ख हुवा दुःख भोगवे है ॥

भावार्थ–रागद्वेष से जीव को दुःख उपजे है और इन के त्याग से वैराग्य अवस्था को

प्राप्त होकर सुखी होय है इसलिये यदि तू कल्याण का अर्थी है तो राग द्वेष को तज और वैराग्य को भज। आगे कहे हैं कि अनेक दुखों कर तप्तायमान जो तू सो मोक्ष सुख के अभाव से किञ्चित् मात्र जो विषय सुख उस कर आप को सुखी माने है, सो यह तेरा सुखी मानना वृथा है:-

छन्दः-तावद्दुःखाग्नितप्तात्मायःपिण्ड इव सीदसि(सुखसीकरैः)।
निर्वासि(ण)निर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि॥२३५

अर्थ-लोहे के गोले की तरह दुःख रूप अग्नि कर तप्तायमान तू तब तक दुःख भोगे है कि जब तक मोक्ष के सुख रूपी समुद्र विषे मग्न न होय॥

भावार्थ-जैसे लोहे के गोले को जब पूर्ण जल में डबोया जाये तब ही वह गोला आताप से रहित होय है और लेशमात्र जल से छांटिये तो ताप न मिटे है बल्कि उलटा जल ही भस्म हो जाय है तैसे जीव रूप गोला दुःख रूप अग्नि कर तप्तायमान हुवा हुवा जबलग निर्वाण के सुखरूप समुद्र विषे मग्न न होय तबतक दुःख रूप आताप न मिटे, देवपद, राज्यपद आदि को अल्प सुख माने है, सो वृथा है। इन सुखों कर कदाचित् दुःख रूप आताप नहीं मिटे

है क्योंकि यह रञ्चमात्र सुख क्षण में विनष्ट हो जाय है। आगे कहे हैं कि ज्ञानको अङ्गीकार किये ही निवृति सागर विषे मग्न होय है। इसलिये ज्ञानादिक उपाय कर उस को अङ्गीकार करो :-

**छन्दः—मङ्क्षु मोक्षसुसम्यक्तां सत्यङ्कारस्वसात्कृताम्।
ज्ञानचारित्रसाकल्पमूल्येन स्वकरे कुरु॥ २३६॥**

अर्थ–सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान सम्यक् चारित्र की जो पूर्णता सोई भया धन उस कर तू शीघ्र ही निर्वाण को अपने हाथ में कर। और जब सत्यरूप सुख तेरे वश होवे तब तू कृतार्थ होगा॥

भावार्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की पूर्णता भये ही निर्वाण होय है।

आगे प्रवृत्ति निवृत्ति इन दोनों की अपेक्षा से यह जगत् कैसा है सो दिखावे हैं :-

**छन्दः—अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम्।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकाङ्क्षी॥२३७॥**

अर्थ–यह समस्त जगत् निवृत्ति की अपेक्षा तो भोगने योग्य नहीं। अर्थात् त्यागने योग्य है। और प्रवृत्ति की अपेक्षा सकल जगत् भोगने योग्य है, कैसा है जगत् अद्वैत कहिये एक रूप है, विषय कषायों में प्रवर्तने का नाम प्रवृत्ति है और न प्रवर्त्तने का नाम निवृत्ति है। सो इन दोनों की अपेक्षा जगत् को अभोग्य रूप और भोग्य रूप जान कर प्रवृत्ति को तज मोक्ष के अभिलाषी निवृत्ति ही का अभ्यास करैं क्योंकि प्रवृत्ति का फल संसार है और निवृत्ति का फल निर्वाण है॥

भावार्थ–यह जगत् अविवेकियों को तो राग के वश कर भोग्य रूपी भासे है। और विवेकियों को ज्ञान भाव कर त्याग रूप भासे है। इस लिये जो तू मोक्षाभिलाषी है तो तजने ही का अभ्यास कर जिससे मुक्ति होय। आगे कहे हैं, कि निवृत्ति का अभ्यास कब तक करना।

छन्दः–निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम्॥२३८॥

अर्थ–जब तक तजने योग्य जो मन वचन काया के विवेक का सम्बन्ध है तब तक निवृत्ति ही का अभ्यास करना, और जब पर वस्तु का ही अभाव हो गया तब न प्रवृत्ति

और न निवृत्ति केवल शुद्ध स्वरूप ही है पर पदार्थं से जो सर्वथा रहित होना सो ही अविनाशी पद है ॥

भावार्थ–जब लग इस जीव के रागादिक परभावों की प्रवृत्ति है तब लग इस को निवृत्तिही का अभ्यास करना योग्य है। और जब यह पर वस्तु के सम्बन्ध से रहित होय मुक्त भया तब प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से ही प्रयोजन नहीं जैसे जब तक रोग है, तब तक औषध का सेवन कर्तव्य है। और रोग का अभाव भये औषध से प्रयोजन नहीं। तैसे जब तक प्रवृत्ति है तब तक तिस के निवारने के अर्थं निवृत्ति का अभ्यास कर्तव्य है और प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव भये निवृत्ति से कुछ प्रयोजन नहीं। आगे कहे हैं, कि प्रवृत्ति का स्वरूप क्या है और निवृत्ति का स्वरूप क्या है और इन का मूलकारण क्या है :–

छन्द:–रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यार्थसम्बद्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ॥२३९

अर्थ–राग और द्वेष ही प्रवृत्ति हैं और इन का जो निषेध सो ही निवृत्ति है सो यह दोनों बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से हैं। इसलिये धन धामादिक बाह्य पदार्थों का त्याग ही करना ॥

भावार्थ-रागादिक की प्रवृत्ति का मूल कारण पर वस्तु का सम्बन्ध है । इसलि ये निवृत्ति के अर्थ देहादिक पर द्रव्यों से समत्व तजना योग्य है। आगे कहे हैं, कि परिग्रह का परित्याग करता जो मैं सो इस प्रकार भावना भाऊं हूं।

छन्द:-भावयामि भवावर्त्ते भावना: प्रागभाविता: ।
भावये भाविताननत (नेति) भवाभावाय भावना: ॥२४०

अर्थ-मैं संसार रूप भ्रमण के विषे भव भ्रमण के अभाव के अर्थ पूर्वै न भाई ऐसी जो सम्यग्दर्शनादिक भावना है उसको भाऊं हूं । और जो मैं पूर्वै मिथ्या दर्शनादिक भावना अनादिकाल से भाई है उसे नहीं भाऊं हूं।

भावार्थ-भव भ्रमण का कारण मिथ्यादर्शनादिक भावना जो मैं पूर्वै सदा भाई थी सो अब न भाऊं हूं। और सम्यग्दर्शनादिक भावना मोक्ष का कारण जो कभी न भाई थी सो भाऊ हूं। आगे कहे हैं, कि कौन वस्तु हितकारी है और कौन अहित कारी है ॥

छन्द:-शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदु:खे च षट्त्रयम् ।

हितमाद्यमनुष्ठेयं प्रोक्तचयमथाऽहितम् ॥ २४१ ॥

अर्थ–शुभ कहिये उत्तम वचन करुणा रूप मन संयम रूप काया यह प्रशंसा योग्य है। और अशुभ कहिये कुवचन निर्दय चित्त अव्रत रूप काया यह निन्दा योग्य है। इन्हों कर पुण्य पाप होय हैं। शुभ से पुण्य अशुभ से पाप, पुण्य से सुख पाप से दुःख सो शुभ, अशुभ, पुण्य, पाप, सुख, दुःख, यह ६ छह भये तिनमें आदि के तीन शुभ पुण्य सुख इन को हितकारी जान आदरणो। और अन्त के तीन अशुभ पाप दुःख इनको अहितकारी जान तजने योग्य हैं॥

भावार्थ–निश्चय नय कर विचारिये तो इस जीव को एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है। और शुभ अशुभ दोनों ही हेय हैं। तथापि व्यवहार नय कर विचारिये तो अशुभ तो सर्वथा ही तजने योग्य है। क्योंकि यह सर्वथा मोक्षमार्ग का घातक है। और शुभोपयोग यद्यपि मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं तथापि परम्परा से मोक्ष का कारण है। इसीलिये कथंचित् प्रकार प्रथम अवस्था विषे उपादेय है। शुभ परिणामों से पुण्य का बन्ध होयहै। और पुण्य से स्वर्गादिक का सुख होय, और अशुभ परिणामों से पाप का बन्ध होय पाप से नरक निगोदादिक

दुःख होय। इसलिये किसी प्रकार भी अशुभोपयोग उपादेय नहीं है। आगे अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीनों का अनुक्रम दिखावे हैं :-

छन्दः-तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वाऽन्ते प्राप्नोति परमं पदम्॥ २४२

अर्थ-प्रथम तो अशुभ अहित छुटे। तिस के अभाव से पाप और दुःख भी छुटे फिर शुभ के छूटने से पुण्य और स्वर्गादिक सुख भी न होय। क्योंकि कारण के अभाव से कार्य्य का भी अभाव होय है। जब शुभ भी छुटे तब परम वीतराग भाव रूप शुद्धोपयोग विषे तिष्ट कर परमपद को पावे है। यह परमपद शुभ अशुभ दोनों से रहित है, दोनों के अन्त विषे होय है॥

भावार्थ-आत्मा का उपयोग दो प्रकार का है। एक शुद्ध और एक अशुद्ध। अशुद्ध के दो भेद हैं। अशुभ तथा शुभ, सो अशुभ से पाप और पाप से नरकादिक दुःख होय है। इसलिये अशुभ तो सर्वथा तजने ही योग्य है और शुभ से पुण्य और पुण्य से स्वर्गादिक सुख होय है सो अशुभ के निवारणे से शुभ का ग्रहण होय है, पीछे शुद्धोपयोग भये शुभ भी छूटे है। शुद्धोपयोग के प्रसाद कर

यह जीव मुक्त होय है, आगे चार्वाक प्रश्न करे है कि यदि आत्मा होय तो परम पद की प्राप्ति होय सो जब आत्मा ही नहीं तो परम पद की प्राप्ति कैसे होय, और आत्मा को गर्भ आदिक से मरण पर्य्यन्त किसी ने देखा नहीं जो वस्तु होय तो दृष्ट पड़े। यह तो चार्वाक ने कहा। और सांख्यमती कहता भया। कि आत्मा तो सदा मुक्त ही है जो तुम कहो हो कि पहिले अशुभ को तज फिर शुभ को तज परमपद को पावे है ऐसा कहना तो अयुक्त है। अब इन दोनों का उत्तर श्री गुरु कहे हैं :-

छन्दः—अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगतः तद्बन्धनान्यास्रवै
स्ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोदादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्यात्वोपचितात् सएव समलः कालादिलब्धौक्वचित्
सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते ॥ २४३

अर्थ—जो आत्मा को अपनी जाति स्मरण करने से अपने पूर्वभव दृष्ट पड़े हैं। और भूतादिक अपने पूर्वभव कहे हैं सो इस से जीवों के पूर्वभव की प्रतीति आवे है। इसलिये

आत्मा है सो अनादि काल का कर्म्मों से बन्ध्या है और कर्म्म बन्ध आश्रवों से होय है। और आश्रव क्रोधादिक कर होय हैं क्रोधादिक प्रमाद से होय हैं और प्रमाद अव्रत से होय है और अव्रत मिथ्यात्व से वृद्धि को प्राप्त होय है सो आत्मा मिथ्या दर्शनादिक से मलिन है। और काल लब्धि पाय किसी एक मनुष्य भव विषे सम्यक्तव्रत विवेक निष्कषायता, इन के योग कर अनुक्रम से मुक्त होय है॥

भावार्थ–चार्वाक तो ऐसे कहे है, कि आत्मा है ही नहीं। सो आत्मा न होय तो ऐसा सन्देह किस के होय कि आत्मा नहीं है। और जो आत्मा न होय तो व्यन्तरादिक ऐसे क्यों कहे कि मैं फलाना था। और अगले भव की तथा इस भव की पहिली बात किस को याद आवे। और जो आत्मा ही न होय तो पुण्य पाप का फल कौन भोगे और आत्मा न होय तो अहङ्कार ममकार किस कै होय। इसलिये यह बात निसन्देह भई कि आत्मा है। और सांख्य कहे है कि आत्मा सर्व्वथा शुद्ध ही है। सो जो सर्वथा शुद्ध ही होय तो संसार भ्रमण कैसे होय। और कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई नीच, कोई ऊंच ऐसा भेद किस तरह होय और जो सर्वथा शुद्ध ही होय तो शुद्ध होने के अर्थ तपश्चरणादि साधन किस लिये कहे। इसलिये 'यह निश्चय भया कि संसार अवस्था विषे तो आत्मा अशुद्धता कर ही युक्त है। और सम्यग्दर्शनादिक उपाय कर

अशुद्धता का नाश करै तब शुद्ध होय है। आगे कहे हैं, कि जो पुरुष शरीरादिक विषे निःस्पृह (इच्छा रहित) है सो ही निःस्पृह कहिये और नहीं :-

छन्दः—ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता ।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत्काशा तपःफले ॥ २४४

अर्थ—यह शरीर मेरा है और मैं इस का हूं यह जो इस शरीर के साथ प्रीति सो उपद्रव की करन हारी ईति समान अनादि काल से लगी है। जब तक क्षेत्र कहिये शरीर विषे यह आप क्षेत्री कहिये स्वामी होय रहा है, तबतक तपका फल मोक्ष जो उस की क्या आशा है॥

भावार्थ—यह तन मेरा क्षेत्र और मैं इस का क्षेत्री कहिये धनी हू। यह मेरा और मैं इस का ऐसी जो सात ईति समान उपद्रव की करन हारी प्रीति जब तक है, तबतक मोक्ष की आशा कहां। जैसे जब तक सात ईति कहिये अतिवृष्टि (बहुत वर्षा) अनावृष्टि (न वर्षना) मूषक (चूहे) डिड्डी सूवा अपना कटक पर का कटक (सेना) यह उपद्रव की करन हारी हैं तबतक किसाण को अन्न की कहां आशा तैसे जब तक जीव का देह विषे स्नेह है, तब तक मुक्ति

की कहां आशा। आगे कहे हैं, कि प्रीति के योग से जो जीव को जड़ के साथ एकता की वुद्धि उपजे है सोई संसार का कारण है। और इस प्रीति के अभाव से मुक्ति है। ऐसा दिखावें हैं :-

छन्द:-मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥ २४५ ॥

अर्थ-भ्रान्ति के होने से आप को अन्य जो कायादिक तिन रूप जाना अन्य और कायादिक को अपना रूप जाना इस ही विपरीत ज्ञान कर भव समुद्र विषे भ्रमा अव तू यह जान कि मैं पर पदार्थ नहीं हूं मैं जो हूं, सो मैं ही हूं, और यह जो पर पदार्थ हैं सो पर ही हैं। उन में मैं नहीं हूं और वह मेरे में नहीं हैं ॥

भावार्थ-इस जगत् विषे सर्व ही पदार्थ अपने २ स्वभाव को धारे हैं, किसी द्रव्य का किसी द्रव्य से सम्बन्ध नहीं है सब जुदे जुदे हैं। और मैं अनादि काल से मिथ्यात्व रागादिक के योग से देहादिक पर पदार्थों को अपना जानता भया, सो वह तो मेरे तीन काल में भी न होंय। और मैं उन को वृथा अपने जान कर इस ही कारण से संसार विषे भ्रमा सो अव सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से मैं यह जाना की यह अन्य पदार्थ में नहीं हूं यह जड़ हैं और

मैं चैतन हूं इसलिये मेरा और इन का क्या सम्बन्ध सो यही ज्ञान कल्याण का कारण है। आगे कहे हैं, कि भ्रान्ति दूर भये यह निश्चय होय है कि जो कायादिक को अनुराग बुद्धि कर विलोकै उस को तो यह कर्म्म बन्ध का कारण है। और जो वैराग्य बुद्धि कर देखे उस को यह कर्म्म बन्ध के विनाश करने का कारण है :—

छन्दः—बन्धो जन्मनि येन येन निविडं निःपादितोवस्तुना
वाह्यार्थैकरतेः पुरापरिणतप्रज्ञात्मनः साम्प्रतम्।
तत्तत्तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्टस्पृशो
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम्॥ २४६

अर्थ—जिस की इस संसार के बाह्य पदार्थों में ही एक अर्थात् अद्वितीय प्रीति है उस पुरुष के जिस जिस वस्तु कर पहिले अति गाढ़ कर्म्मों का बन्धन उपजा अब जब वह पुरुष वैराग्य की हद को प्राप्त भया और यथावत् पदार्थों के परिज्ञान रूप बुद्धि परणई। तब सोई वस्तु बन्ध के विनाशने के अर्थ साधन रूप भई इस लिये जो अज्ञान कर रागादि रूप

परणामा सो अज्ञान तो जुदाही है। और विवेकियोंका जो अपूर्व प्रवीणपना है, सो जुदाही है॥

भावार्थ–जब देहादिक पर वस्तुओं को राग बुद्धि से देखता था तब तो रागी कै वह वस्तु बन्ध का कारण थी और जब वैराग्य बुद्धि कर देखने लगा तब कायादिक मुक्तिके साधन रूप भई। इस लिये राग भाव तज वीतराग भाव का यत्न करना। आगे बन्ध और बन्ध का नाश किस भान्ति होय है सो अनुक्रम कर दिखावे हैं:–

छन्दः–अधिकः क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित्समः।
क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमोमतः॥ २४७॥

अर्थ–कितने ही जीवों कै तो कर्म्मों का बन्ध अधिक है, और निर्जरा अल्प है, और कितने ही जीवों के बन्ध अल्प है निर्जरा विशेष है, और कितनों ही के बन्ध तथा निर्जरा समान है। और कितनों ही के केवल निर्जरा ही है। सो बन्ध और छूटने का यही क्रम है॥

भावार्थ–इस जीव के मिथ्यात्व गुण स्थानों में तो कर्म्मों का बन्ध बहुत होय है। और निर्जरा तुच्छ है। और चतुर्थ गुण स्थान विषे बन्ध और निर्जरा यह दोनों समान हैं और

पञ्चम गुण स्थानादि अगल गुण स्थानों विषे वन्ध अल्प है निर्जरा वहुत है और अकषायों के निर्जरा ही है वन्ध नहीं। यह वन्ध और निज्जरा की परिपाटी कही है। आगे जिस के कर्म्म अपने कार्य्य अर्थात् नया शरीर उपजाना, करने से रहित भये सोई योगी है:-

छन्द:-यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनराश्रव: ॥ २४८ ॥

अर्थ-जिस विरक्त जीव के पुण्य और पाप अपना शुभ अशुभ फल उपजाये विना ही अपने आपही षिर जायें हैं सोई योगी है, उसी को निर्वाण पद मिले है और उस के फिर आश्रव नहीं होय है ॥

भावार्थ-पुण्य और पाप ही ससार भ्रमण के मूल कारण हैं। जैसे फल का मूल पुष्प है। सो जव पुष्प ही षिर गया तो फल कहां से होय। तैसे जीवों के चतुर्गति रूपी फल का कारण शुभाशुभ कर्म्मों का उदय है, सो जव महामुनि के शुभाशुभ कर्म्म ही षिर गये तो तव नया शरीर कैसे होय। इसी लिये तिन के निर्वाण ही है। आगे कहे हैं, कि आश्रव का निरोध (रोक देना) जो संवर है सो प्रतिज्ञा (मर्य्यादा) के पालने से होय है ॥

छन्दः—महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा ।
मर्य्यादापालिबन्धेल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम् ॥ २४९ ॥

अर्थ—सम्यक् दर्शनादिक गुणरूप जल कर पूर्ण महातपरूप तलाव की मर्य्यादा (प्रतिज्ञा) रूप पालि के बन्धन विषे रञ्चमात्र भी हानि मत देखे ॥

भावार्थ—जब तक पालि दृढ़ रहे तब तक तलाव विषे जल रहे। जो पालि में रञ्च मात्र भी छिद्र होय तो पालि फूट जाय । और तलाव में जल न रहे। तैसे गुण रूप जल से भरा हुआ जो तप रूप तलाव है उस की मर्यादा रूप पालि विषे जो तुच्छ प्रतिज्ञा भंग रूप छिद्र भी होय तो उस तप रूप तलाव मे गुण रूप जल कदापि न रहे इस लिये प्रतिज्ञा भंग करनी योग्य नहीं। आगे कहे हैं, कि महा पुरुषों के संयम रूप घर की हानि के यह कारण हैं :—

छन्दः—दृढगुप्तिकपाटसंवृत्ति(ति)र्धृतिभित्तिर्मतिपादसंभृतिः ।
यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृतिः २५०

अर्थ—यतिपद रूप घर महादृढ़ मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति रूप कपाटों

से वन्द है। और उत्तम वृत्ति रूप जो धीरता यही उस की दिवार है और वुद्धि रूप गाढ़ी नीव है सो कदाचित् तुच्छमात्र भी व्रतभंग रूप छिद्र होय तो महा कुटिल रागादिक सर्प यति पद रूप घर को दूषित करें॥

भावार्थ–जैसे घर के किवाड़ भी वहुत गाढ़े और दिवार भी गाढी और नीव भी गाढी होय परन्तु जो रञ्चमात्र भी छिद्र होय तो सर्पादिक दुष्ट जीव निवास करें। तव रहनेवालों को निर्विघ्नता न होय, कवहुक प्राण ही जांय। तैसे यति पद रूप घर के गुप्ति रूप कपाट, धैर्य्यरूप दिवार और वुद्धिरूप नीव है परन्तु जो व्रतभंगरूप अल्प भी छिद्र होय तो रागादिकरूपी कुटिल सर्प्प निवास करें तो अनेक पर्यायों विषे अनेक वार मरण करे। आगे कहे हैं, कि जो मुनि रागादिक दोषों के जीतने को उद्यमी भया है यदि वह कदाचित् पर जीवों के दोषों को कथन करे तो रागादिक को पुष्ट ही करे :–

छन्दः–स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युतस्तपोभिरतिदुर्द्धरैः।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः॥२५१॥

अर्थ–जो मुनि अति दुर्धर तप कर अपने दोष हनने को उद्यमी भया है, सो कदा-

चित् ईर्षा के योग से पराया अपवाद करे अर्थात् पराये औगुण गावे तो पर दोष कथा रूप भोजन कर रागादिक दोषों को ही पुष्ट करे॥

भावार्थ–विवेकियों को पराई निन्दा करनी योग्य नहीं। और कदाचित् निन्दा करें तो जैसे रस संयुक्त भोजन कर देह पुष्ट होय तैसे पर दोष कथन कर राग द्वेषादि दोष पुष्ट होवें। तिन कर मुनि पद का भङ्ग होय। आगे कहे हैं, कि दोषों को जीत कर जो मुनि व्रत को आचरे है, सो उस कै कर्म्मों के वश से जो कदाचित् चारित्रादि विषे कोई दोष उपजे तो वह उस के गुणों कर ही प्रगट होय है

छन्दः–दोषः सर्वगुणाकरस्य महतोदैवानुरोधात्क्वचि
द्यातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं द्रष्टुमन्धोप्यलम्।
द्रष्टाप्नोति न तावदस्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जग-
द्विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किंकोप्यगात्तत्पदम्२५२

अर्थ–सर्व्व गुणों की खान जो महापुरुष तिनकै पूर्व्व कर्म्म के वश से जो कोई मूल

गुणों विषे चन्द्रमा के लाञ्छन समान अल्प भी दोष उपजे तो तिस के देखने को अन्ध कहिये जगत् के अविवेकी मूढ़ दृष्टि जीव भी समर्थ होय हैं। और जगत् की दृष्टि में वह दोष आवें है अल्प भी दोष कर गुणवन्त का पद कलङ्कित होय है। जैसे चन्द्रमा का कलङ्क चद्रमा की प्रभा ही से प्रगट कियाहुआ समस्त जगत् देखे है, कोई चन्द्रमा के स्थान को तो न गया देख कर न आया। तैसे महापुरुष का औगुण उन के गुणों ने ही प्रगट किया, कोई तिन के स्थान जाय देख कर न आया॥

भावार्थ–जहां अनेक गुण होवें तहां दोष न शोभे। जैसे चन्द्रमा की प्रभा विषे कलंक न शोभे। सो कलङ्क प्रगट भासे है। तैसे मुनि पद विषे औगुण न शोभे प्रगट ही भासे लोग कहे कि देखो इतने गुण जिन में तिन में यह दोष कैसे सम्भवे। और यदि कोई ऐसे स्थान पर यह कहे कि जहां अनेक गुण होवें तहां अल्प दोष की क्या वार्त्ता। अपने तांईं तो पराये गुण ही ग्रहण करने हैं तिस को समझाइये है कि उच्च पद विषे नीच क्रिया नहीं शोभे है जैसे उपवास कर एक कण भी भक्षण करे तो तिस को लोग भ्रष्ट कहैं। और अव्रति निरन्तर भोजन करे है, सो तिस की कोई भी निन्दा न करे। तैसे अव्रतियों में अनेक दोष हैं, तिन की कोई भी कथा न करे है। परन्तु संयमी में रञ्चमात्र भी दोष होय तो तिस की निन्दा होवे। कि ऐसी

पदवी में ऐसा नीच कार्य्य किया, इसलिये पदवी अनुसार क्रिया करनी योग्य है। आगे कहे हैं, कि असूया कहिये ईर्षा पराये गुण विषे दोष का आरोपण पराये न होतें औगुण प्रगट करे और अपने अनहोते गुण प्रगट करे, अपनी महिमा के अर्थ तेलादिक अनेक उपवास आचरे सो अधिक से अधिक विवेक दशा होय तो तब भी यह वृत्ति अच्छी न भासे है :-

छन्दः-यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥ २५३ ॥

अर्थ-पूर्व जो जो आचरण किया अर्थात् पराये दोष कहे अपने गुण प्रगट किये। सो सब योगीश्वर को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट विवेक दशा के होतें अज्ञान चेष्टा भासे है॥

भावार्थ-पराये औगुण गावने और अपने गुण प्रगट करने यही अज्ञान की चेष्टा है सो अज्ञानियों को बुरी न भासे परन्तु ज्ञान से योगियों को बुरी भासे। इस लिये पराये औगुण कहने और अपने औगुणों को गुण प्रगट करने योग्य नहीं। आगे कहे हैं कि जब तक शरीर से ममता नहीं छूटती तब तक आशा रूपी वेल नहीं सूकती इसलिये विवेकियों के शरीर से ममता नहीं होती :-

छन्दः—अपि सतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते
भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता ।
इति कृतधियः कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं
चिरपरिचिते देहेप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः ॥२५४॥

अर्थ—महा तपस्वियों की भी आशा रूप वेल की शिखा (चोटी) तब तक ही तरुणता को प्राप्त होय है जब तक उन के मन रूप जड़ विषे ममता रूप जल से गीलापन है इस लिये विवेकी पुरुष ऐसा विचार कर चिरकाल से परिचित शरीर से भी अत्यन्त उदास हुए हुए काष्ट साध्य तपादिक से इस शरीर को निरन्तर दमें हैं ॥

भावार्थ—जैसे वेल की जड़ जल से सींचिये तो उस की चोटी हरित ही रहे। तैसे आशा रूप वेल की मन रूपी जड़ अशुद्ध भाव से ममता रूप जल कर जब तक सजल रहे तब तक आशारूप वेल की शिखा सदा तरुण ही रहे अर्थात् आशा रूपी वेल सूके नहीं ऐसा जानकर विवेकी पुरुष अपने शरीर से उदास हुए २ उस के मरणे जीने की परवाह नहीं करे हैं और

कष्ट साध्य जो त्रिकाल योगादिक उन कर निरन्तर शरीर को दमें ही हैं त्रिकाल योग नाम शीतकाल में जल के तीर उष्णकाल में पर्वत के शिखर और वर्षाकाल में तरु के तले निवास करने का है। आगे इस ही अर्थ को दृष्टान्त कर दृढ़ करे हैं :-

छन्दः—क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः।
भेदएव यदि भेदवत्स्वलं वाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा २५५

अर्थ—जबमिले हुए दूध और पानी की तरह अभेद रूप से दीखते हुवे इस जीव और शरीर में ही भेद है तो बतावो फिर पुत्र कलत्रादिक अथवा शिष्यादिक वाह्य वस्तुवों की क्या कथा॥

भावार्थ—तैजस कार्मण तो सर्व ही संसारी जीवों के सदाकाल रहे हैं कभी भी जुदे होते नहीं। जब जीव मुक्त होय तब ही यह छूटे हैं और आहारिक शरीर कदाचित् किसी एक मुनि के होय है। और मनुष्य तिर्य्यंचों के औदारिक देवनारकियों के वैक्रियक का सम्बन्ध होना और छूटना पाइये है। सो जीव के अनादि काल का शरीर से सम्बन्ध है। यद्यपि जीव और शरीर दूध और पानी की तरह मिल रहे हैं। परन्तु तौभी जुदे जुदे हैं जब जीव और शरीर की भी यह दशा है। तो तब पुत्र कलत्रादिक और शिष्यादिक की क्या बात

वह तो प्रगट ही जुदे हैं। इसलिये ऐसा जान कर सर्व से स्नेह तजना ही योग्य है। आगे इस शरीर के संयोग से आत्मा को जो होय सो दिखावे हैं :-

छन्दः-तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात् ।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥ २५६ ॥

अर्थ-जैसे अग्नि के संयोग से जल तप्तायमान होय, तैसे देह के संयोग से मैं तप्तामान भया हूं ऐसा जान कर कल्याण के अर्थी जो महामुनि हैं वह देह से ममत्व तज आनन्दरूप भये ॥

भावार्थ-इस जगत् विषे यह जीव जितने दुःख क्लेशादि भोगवे हैं। सो शरीर के सम्बन्ध से भोगवे हैं इसलिये मोक्षाभिलाषी जीवों को वीतरागभाव आचरना योग्य है जिस कर फिर शरीर से अनुराग तज शरीर का सम्बन्ध न होय। आगे शरीरादिक विषे ममता भाव का कारण जो महामोह उस के त्याग का उपाय कहे हैं :-

छन्दः-अनादिचयसंबद्धो महामोहो हृदि स्थितः ।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वं विशुद्धयति ॥ २५७ ॥

अर्थ—जिन महापुरुषों ने सम्यक्‌योग जो स्वस्वरूप विषे चित्तका निरोध सोई भई औषध उस कर अनादि कर्म्मों के संचय से हृदय विषे तिष्ठता जो महामोह उस को वम डारा तिन ही का परलोक शुद्ध होय है ॥

भावार्थ—जैसे औषधि के योग कर उदर विषे तिष्ठता हुवा अजीर्ण जिन्होंने वमा उन ही के रोगकी निवृत्ति होय है सो जो रोग चिरकाल से अजीर्ण के संचय कर वढा है। सो औषध के योग से ही दूर होय है। तैसे विभावों कर वढा जो कर्म विकार सो सम्यग्ज्ञान कर ही निवृत्त होय है। आगे कहे हैं, कि महामोह के अभाव से जो मुनि इन वस्तुओं को इस प्रकार देखे हैं उन के कौन वस्तु सुख के निमित्त न होय, अपितु सर्व ही वस्तु सुख के निमित्त होय हैं :—

छन्द:—ऐकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्तिं शरीरच्युतिं
दुःखं दुःकृतनिःकृतिं सुखमलं संसारसौख्यासनम् ।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणात्ययं पश्यताम्
किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः ॥२५८

अर्थ—जो साधु अकेला रहने को एक अद्वितीय चक्रवर्तिपना माने हैं और शरीर के विनाश को मनवाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति माने हैं और दुःकर्म्म (दुष्टकर्म्म) की निर्ज्जरा से भया जो उदय अर्थात् सुख उसको दुःख माने हैं। और सर्वथा जो संसार के सुख का परिहार उस को सुख माने हैं। और किसी दुःखी प्राणी के दुःख दूर करने के उपकार निमित्त अपने प्राणों के त्याग को सर्वत्याग के महान् उत्सव समान व्यापार माने हैं यह भाव जिन का है, उन के ऐसा कौनसा पदार्थ है जो सुख के निमित्त न होय अपितु सर्व ही पदार्थ सुख के कारण होय हैं इसलिये यह वात सत्य है कि साधु सदा सुखी ही हैं॥

भावार्थ—जिन साधुओं के मोह का अभाव भया उन के सर्व ही वस्तु सुख का कारण हैं, क्योंकि दुःख तो मोह से उत्पन्न होय है सो जब उन के दुःख उत्पन्न करने वाला जो मोह, उसी का नाश भया तो फिर दुःख कैसे हो और दुःख के न होने ही का नाम सुख है इसलिये यह बात सिद्ध भई कि साधु महासुखी हैं। आगे कोई प्रश्न करे कि कर्म्म के उदय से उपजा जो दुःख उसके भोगने में सुखीपना कैसे हो तिस का उत्तर कहे हैं :—

छन्दः—आक्रष्योग्रतपोबलैरुदयगो (गं) पुच्छं यदानीयते

तत्कर्म्म स्वयमागतं यदि विदः कोनाम खेदस्ततः।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोरिः स्वयं
वृद्धि: प्रत्युतनेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे कः क्षयः॥ २५९ ॥

अर्थ–जो कर्म्म उदय में नहीं आया उस को उग्र तपके बल से उदय मे ल्याकर क्षय करे हैं और जो कर्म्म स्वयमेव उदय आवे तो उस में खेद काहे का इसलिये मुनि के खेद का नाम मात्र भी नहीं है जैसे जीतने की है इच्छा जिस की ऐसा जो जीतने की इच्छा रखने वाला राजा सो वैरी को जाय-कर भी जीते। और जब वैरी ही युद्ध का आरम्भ कर आप पर चला आवे तो यह तो बिना रोक जीतने वाले नायक की वृद्धि है उस के साथ लड़ाई करने में क्या हानि अपितु कुछ भी हानि नहीं है॥

भावार्थ–जैसे जो योधा शत्रु पर जाकर शत्रु को जीते तिस पर जो शत्रु ही चला आवे तो उसकी क्या हानि। तैसे ही महामुनि तपके बल कर कर्म्मों को उदय में लाकर खपावें हैं और जो स्वयमेव ही कर्म्म उदय आवे तो उनके तिस विषे क्या खेद अपितु कोई भी खेद नहीं है

इसलिये मुनियों के कर्म्मं का फल भोगने में दुःख नहीं होय है ॥ आगे कहे हैं कि जो मुनि कर्म्मं के उदय विषे खेद न माने हैं सो मुनि कर्म्मों की निर्जरा करते हुये शरीर से भी भिन्न होने का यत्न करे हैं ॥

छन्दः—एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वात्
भ्रान्त्याचिन्त्याः सहायंतनुमिवसहसालोच्यकिञ्चित्सलज्जाः
सज्जीभूताः स्वकार्य्यै तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धाः
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः ॥ २६० ॥

अर्थ—जो नृसिंह कहिये पुरुषों में प्रधान अर्थात् मुनि पर्वतों की गुफा गहन वन, एकांत स्थान विषे आत्मस्वरूप को ध्यावे हैं और नाश किया है मोह जिन्हों ने और एकाकी रहने की है प्रतिज्ञा जिन के और सर्व कुछ त्याग कर सकल परीसह सहे हैं । अचिन्त्य है महिमा जिनकी और शरीरको सहाई जान तत्काल कुछयक लज्जाको प्राप्त भयेहैं,कि यह जड़ हमारा क्या सहाई होगा । इसेभ्रान्तिकर अबतक सहाई जाना था,सो सहाई नहीं है । ऐसा सोच कर

अपने कार्य्य विषे आप उद्यमी भये पल्यंकासन (यह आसन के भेदों में एक आसन का नाम है) बांध कर निज स्वरूप का ध्यान करे हैं। शरीर से रहित होने की विधि विचारे हैं, जिन के यह विचार है कि हमारे शरीर फिर उदय न आवे ऐसे मुनि ही शरीर का निरादर कर इस के तजने को उद्यकी भये हैं॥

भावार्थ—सब संसारी जीवन कै शरीर का ममत्व है, सो पुनः पुनः शरीर को धारे हैं। और जो आत्मज्ञान के होने से निरादर कर शरीर को तजे हैं तिन के शरीर फिर उदय न आवे है अर्थात् परमपद को पावे हैं। आगे कहे हैं, कि जो कर्म्मों की और नये नये तन धारण की विधि के दूर होने का चिन्तवन करते हुए आप परम उत्तम गुणों कर मण्डित हैं, सो वह हम को भी पवित्रता के करणहारे होवें :—

छन्द:—येषां भूषणमङ्गसङ्गतरजः स्थानं शिलायास्तलम्
शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम् ।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुटयत्तमोग्रन्थय-

स्तेनोज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निःस्पृहाः २६१

अर्थ–जिन के अङ्ग में लगी हुई धूल ही आभूषण है। और शिलातल ही स्थानक है, और जिनके कङ्करोंवाली पृथ्वीही शय्या है। और जिनगुफाओंमें सिंहादिक रहे हैं, सोई तिनके घर हैं। और यह देहादिक मेरे और मैं इन का ऐसे विकल्प से रहित है बुद्धि जिन की और टूट गई है अज्ञान रूप गांठ जिन की सो वह ज्ञान घन मोक्ष के पात्र परम निःस्पृह (विरक्त) हमारे मन को पवित्र करो॥

भावार्थ–जो विषयाभिलाषी शरीर के अनुरागी हैं जब वह आप ही डूब रहे हैं तो औरों को कैसे तारें और जो विरक्त हैं रागादिक से रहित है बुद्धि जिन की और टूट गई है अज्ञानरूप गांठ जिनकी सो ऐसे ज्ञानधन मोक्षके पात्र परमनिःस्पृह हमारे मनको पवित्र करें। आगे कहे हैं, कि जो परमशान्त दशाको प्राप्त होय हैं वह किसी को भी भयकारी नहीं हैं:–

छन्दः–दूरारूढतपोनुभावजनितज्योतिःसमुत्सर्पणै
रन्तस्तत्त्वमदः कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः।

विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैर्धीराश्चिरं वासरान्॥२६२

अर्थ–अतिशय कर तप के प्रभाव से उपजी जो ज्ञानरूपी ज्योति तिस के प्रकाश कर वह निजात्म रूप तत्त्व को अपने अन्तष्करण (अन्तः करण) में जिस तिस तरह से प्राप्त हो कर जो अतिआनन्द को प्राप्त भये हैं। और हिरणियों के चञ्चल नेत्रों कर विश्वास से पिये जा रहे हैं अर्थात् निर्भय होकर जिन को हिरणी देखें हैं सो धन्य हैं वह धीर पुरुष जो चितवन में न आवे, ऐसे चरित्रों कर बहुत दिन वन विषे व्यतीत करें हैं॥

भावार्थ–जो निज स्वरूप विषे मग्न होय कर परम शान्त दशा को प्राप्त भये हैं और जिन से वन के जीव भी भय न करे हैं अर्थात् सर्व को प्रिय हैं सो साधु धन्य हैं॥

आगे कहे हैं, कि उन की ऐसी बुद्धि क्या करे है :–

छन्दः–येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं
गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोरारान्न विश्राम्यति।

यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्वाढं वहिर्व्याप्तयः
तेषां नोच पवित्रयन्तु परमाः पादोत्थिताःपांशवः २६३

अर्थ–जिन की बुद्धि जगत् की आशा और आत्मा दोनों के मध्य प्राप्त भई है कैसे हैं यह दोनों नहीं दीखे है भेद जिन का सो उन मुनियों की बुद्धि दोनों के मध्य प्राप्त होय कर भली प्रकार भेद किये बिना विश्राम को न प्राप्त होय है अर्थात् भेद करे ही है। कैसे हैं वह महामुनि शान्तभाव ही है धन जिन का और जो बाह्य पदार्थों विषे चित्त की वृत्तिये जाय थीं सो उन को जिन्हों ने अन्तरङ्ग विषे थापी सो तिन के चरण कमल की परम रज जगत् विषे हम को पवित्र करे ॥

भावार्थ–जड़ चेतन का अनादि सम्बन्ध है यह दोनों एक से होय रहे हैं, सबको एक से ही प्रति भासे हैं। जो महा पुरुष भेद विज्ञान कर दोनों को न्यारे २ जान जड़ से निर्ममत्व होय जगत् की आशा तजे हैं सो तिन के चरण कमल की धूल हम को अर्थात् जगत् के जीवों को पवित्र करे। आगे जो वाह्यवृत्ति का निरोध कर कर्म्म के फल को भोगवे हैं उन के परिणाम की विशेषता की प्रशसा करे हैं:–

छन्दः—यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्म्माशुभं वा शुभं
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।
कुर्य्याद्यः शुभमेव सोप्यभिमतोयस्तूभयोच्छित्तये।
सर्व्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम्॥२६४

अर्थ—इस जीव ने जो पूर्व जन्म विषे शुभ अथवा अशुभ कर्म्म उपार्जे हैं तिन कर्म्मों का नाम ही दैव (भाग्य, किसमत, नसीब) है तिन की प्रेरणा से ही जीव दुःख सुख भोगता है सो इन जीवों मे जो अशुभ को तज शुभ को आदरे सोई भला कहिये। और जो योगीश्वर शुभ अशुभ दोनों को विनाश करने के अर्थ सर्व आरम्भ परिग्रह रूप क्रूर ग्रह का त्याग करे सो सत्पुरुषों कर वन्दनीय है॥

भावार्थ-जगत् के जीव पाप विषे प्रवीण हैं कोई एक शुभपरिणामी दीखे है। सो भला है। और जो शुभ अशुभ दोनों ही को तज कर केवल शुद्धोपयोग विषे ही लीन हैं उन की महिमा कौन कह सके। सो सत्पुरुषों कर वन्दनीय हैं। आगे कोई प्रश्न करे है, कि

जो सुख दुःख कर्म्मों के फल भोगवे हैं, तिन कै नवे पुण्य पाप बन्ध ते होयेंगे। इस लिये दोनों का नाश कैसे होय। तिस का समाधान करे हैं :-

छन्दः—सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धोमणिरिव ॥ २६५ ॥

अर्थ—इस संसार में पूर्वोपार्जित कर्म्मों के उदय से सुख अथवा दुःख होय है सो यदि सुख विषे प्रीति होय, और दुःख विषे आताप माने तो नवें कर्म्म अवश्य बन्धे परन्तु जो महापुरुष सुख दुःख में हर्ष विषाद न करें कि कौन से प्रीति करिये, और किसको आताप कारी मानिये ऐसा विचार तज कर अति उदासीनता रूप होय हैं सो पुरातन कर्म्म का चय करे हैं और नवे न बन्धें है सो वह विवेकी महामुनि सदा प्रकाश रूप ही हैं॥

भावार्थ—जब कर्म्मका उदय जीवोंकै आवैहै तब तिसविषे जो हर्ष विषाद करेतो नवे कर्म्म बन्धे

हैं और जो हर्ष विषाद न करेतो नवे न बन्धेहैं पूर्वकर्म्म फल देकर खिर जायहैं यह निश्चयहै।
आगे पुराने कर्म्मकी निर्ज्जरा विषे और नवे कर्म्मके सम्वर विषे जोकुछ हुआ सोदिखाइये हैः—

छन्दः—सकलविमलबोधो देहगेहे विनिर्ज्जन्
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा।
पुनरपि तदभावे प्रज्ज्वलत्युज्ज्वलः सन्
भवति हि यतिवृत्तं सर्व्वथाश्चर्य्यभूमि॥ २६६

अर्थ—जैसे अग्नि काष्ठ को सर्वथा भस्म कर तिस के अभाव विषे अति निर्म्मल प्रज्वले है तैसे निर्म्मल ज्ञान देहादिक का अभाव कर तिन के अभाव विषे विमल प्रकाश करैहै इसलिये यति का आचरण सर्वथा आश्चर्य्य का स्थानक है॥

भावार्थ—ज्ञान प्रकट भये घर को छोड़ कर देहसे स्नेह तजे सकल गृहका त्याग कर वीतराग अवस्था धर ज्ञान ही से निर्म्मल प्रकाश करैहै यह मुनिकी अलौकिक (संसार से अलग ही) वृत्ति है इसलिये पूर्णज्ञान मुनि ही कै होयहै गृहस्थी कै अल्प होयहै आगे जो कोई मतवाले ज्ञानादि गुणों के नाश से मुक्ति मानेहैं सो उन के श्रद्धान को निराकरण करते हुए दो श्लोक कहे हैं :—

छन्दः—गुणीगुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाशयिष्यते ।
अतएव हि निर्वाणं शून्यमन्यैर्विकल्पितम् ॥ २६७

अर्थ–द्रव्य गुणमय होय है, जो गुण का नाश सो द्रव्य का नाश है, इस ही लिये औरों ने मुक्ति को शून्य माना है ॥

भावार्थ–यहां गुणी कहिये आत्मा सो ज्ञानादि गुणमय ही है ज्ञानादिका का जो नाश सो आत्मा का नाशहै जैसे उष्णताके अभावसे अग्निका अभाव होय है इसलिये शून्यवादियोंने दीपक के अन्त होनेतुल्य निर्वाण मानाहै सो इस प्रकार निर्वाण नहीं है क्योंकिज्ञान की जो पूर्णतासोहीमुक्तिहै ॥

छन्दः—अजातोऽनश्वरो मूर्त्तः कर्त्ता भोक्ता सुखी बुधः ।
देहमात्रोमलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः ॥ २६८ ॥

अर्थ–आत्मा कभी भी उपजे नहीं, और कभी भी मरे नहीं, और इस की कोई मूर्त्ति नहीं अर्थात् अमूर्त्तीक है व्यवहार नय कर कर्म्मों का कर्त्ता है। निश्चय नय कर अपने स्वभाव का कर्त्ता है, और व्यवहार नय कर सुख दुःख का भोक्ता है। निश्चय नय कर अपने

स्वभाव का भोक्ताहै। अज्ञान कर इन्द्रिय जनित सुख को सुख मानेहै निश्च कर परम आनन्दमय ज्ञानरूप है। व्यवहार नय कर देहमात्र है। निश्चय नय कर चेतनमात्र है। कर्म्मफल रहित है लोक के शिखर जाकर अचल तिष्ठे है इसलिये प्रभु है॥

भावार्थ—आत्मा केवल ज्ञानानन्दमयी है, सकल उपाधि से रहित है। परन्तु पर को अपना मान भ्रान्ति से भ्रमे है। जब अपना स्वरूप जाने निरुपाधि ज्ञान रूप अविनाशी होय तिष्ठे तब आत्मा ज्ञान स्वरूप है। आगे कोई प्रश्न करे है, कि इन्द्रियजनित सुख के अभाव से कैसे सिद्धों को सुखी कहिये तिस का समाधान :—

छन्दः—स्वाधीन्या दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथं॥ २६९

अर्थ—जब मुनियों कै स्वाधीनपने से काय क्लेश रूप दुःख को भी सुख कहा तो सिद्धों को सुखी क्यों न कहिये। वह तो सदा स्वाधीन सुखमय ही हैं॥

भावार्थ—तत्त्वदृष्टि कर जगत् के जीव दुःखी हैं तिन में सम्यक्दृष्टि मुनि ही सुखी

कहे सो सिद्ध तो केवल आनन्द रूप ही हैं। इसलिये सिद्ध महासुखी हैं। आगे ग्रन्थ के अर्थ को पूर्ण कर ग्रन्थ की आज्ञा प्रमाण जो प्रवर्त्तें हैं उन को फल दिखावे हैं :-

छन्दः—इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यं
चरितमुचितमुच्चैश्चेतसां चित्तरम्यम् ।
इदमविकलमन्तः संततं चिन्तयन्तः
सपदि विपदपेतामाश्रयन्तु श्रियं ते ॥ २७०

अर्थ—कई एक ग्रन्थों की रचना कर उद्दार है चित्त जिन का ऐसे महा मुनियों के चित्त को रमणीय यह आत्मानुशासन ग्रन्थ जो कौएक वचनों की रचना को जान कर रचा है सो इस को निरन्तर हृदय में पूर्ण रूप से चिन्तवते हुए पुरुष तत्काल आपदा से रहित हुए हुए अविनाशी लक्ष्मी को प्राप्त होवे ॥

भावार्थ—जो जैसा चितवन करे सो तैसा ही फल पावे जैसे सुगन्धपुष्प के योग से तिल भी सुगन्धित होय है तैसे महापुरुषों के गुण चिन्तवन से आप भी शुद्ध होय है। आगे

ग्रन्थ की समाप्ति विषे ग्रन्थ का कर्त्ता अपना नाम प्रगट करे है :—

छन्द:—जिनसेनाचार्य्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्।
गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥ २७१

अर्थ—जिनसेनाचार्य्य के चरण कमलों के स्मरण विषे आधीन है चित्त जिन का ऐसे जो गुणभद्र पूज्य पुरुष तिन कर किया यह आत्मानुशासन है। और दूजा अर्थ यह है कि जिन सेना जो मुनि मण्डली उस के आचार्य्य श्री गणधर देव तिन का भक्त गुणों कर भद्र कहिये कल्याणरूप भदंत कहिये पूज्य पुरुष जो जैन के आचार्य्य तिन कि कृति यह आत्मानुशासन है॥

भावार्थ—जिनवर की सेना के आचार्य्य सब में मुख्य गणधर देव हैं। तिन की भक्ति विषे आरूढ़ है चित्त जिन का ऐसे गुणों कर भद्र कहिये कल्याण रूप मुनिराज जैन के आचार्य्य तिन का भाष्या यह ग्रन्थ है। अथवा जिनसेनाचार्य्य के शिष्य जो गुणभद्र स्वामी उन का भाषा यह आत्मानुशासन महान् ग्रंथ है, यह दोनों ही अर्थ प्रमाण हैं। आगे आशीर्वाद देवें हैं, कि श्री ऋषभदेव तुम को कल्याण के कर्त्ता होवें॥

छन्दः—ऋषभोनाभिसुनुर्यो भूयात्स भविकाय वः।
यद्ज्ञानसरसि विश्वं सरोजमिव भासते ॥ २७२ ॥

अर्थ—नाभिराजा के पुत्र वह श्रीऋषभदेव तुम को कल्याण के निमित्त होवें, कि जिन के ज्ञानरूप सरोवर विषे सकल जगत् कमल के तुल्य भासे है ॥

॥ इति श्रीगुणभद्रभदन्तकृतं आत्मानुशासनं ॥

॥ समाप्तम् शुभम् ॥

सूचनाः—यह आत्मानुशासन मूलग्रन्थ श्रीगुणभद्रस्वामी ने विक्रम सम्वत् ९०५ में रचा था। और इस की श्लोक संख्या २७२ हैं और इसकी देशभाषा श्रीमान् पं० टोडरमल्लजी ने जयपुर नगर में सम्वत् १८१८ विक्रम में करी थी। अब मैं ज्ञानचन्द्रजैनी दिगम्बराम्नाय तेरापन्थी ने सम्वत् १९५४ विक्रम में इस का सरल हिन्दी भाषा में उल्था करके छपवाया है सो जो भव्य जीव इस महान् ग्रन्थ का स्वाध्याय करें उन को यह कल्याण का कर्त्ता होवे ॥

ज्ञानचन्द्रजैनी, लाहौर।

इति श्रीआत्मानुशासनं
समाप्तम्